ओ३म्

आर्य्यसिद्धान्त ॥

द्वितीय भाग

आर्य्यसिद्धान्त नामक मासिकपत्र जो
पं० भीमसेन शर्म्मा द्वारा सम्पादित होता है प्रथमवार
का छपा चुक जाने से द्वितीयवार

सरस्वतीयन्त्रालय-प्रयाग में

तुलसीरामस्वामी के प्रबन्ध से छपा

१० । १ । १८९६ ई०

द्वितीयवार ५००   मूल्य ॥।)

विषयसूचीपत्रम् ॥

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग २ } ज्येष्ठ संवत् १९४५ { अङ्क १

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॑ तप॑सा स॒ह ।
ब्र॒ह्मा मा॒ तत्र॑ नयतु ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे ॥

गत अंक से आगे महामोहविद्रावण का उत्तर

"यथा ब्राह्मणग्रन्थेषु मनुष्याणां नामलेखपूर्वका लौकिका इतिहासाः सन्ति नचैवं मन्त्रभागे" ॥

इति स एव प्रतारकः । अत्र किं ब्राह्मणग्रन्थेषु लौकिकेतिहासदर्शनं तेषां प्रतारकनिर्मितत्वावगमकमुताऽपौरुषेयत्वभङ्गप्रयोजकमाहोस्विदादिमत्त्वप्रयोजकम् । नाद्यः लौकिकेतिहासदर्शनस्य ग्रन्थेप्रतारकनिर्मितत्वव्यभिचारित्वात् नहि लोके सर्वोपीतिहासः प्रतारकैर्व्यरचीत्यनुन्मत्त उत्प्रेक्षेतापि । न द्वितीयो यथाहि सृष्ट्युत्पत्त्यादिक्रमो वेदेऽसकृदभिहितो वेदानां पौरुषेयत्वं नापादयति तथा लौकिकेतिहासोक्तिरपि, वेदानां सर्वविद्यास्थानतया लौकिकानां पुंसां सौकर्य्याय तत्र भगवता परमेश्वरेण याज्ञवल्क्यो-शनोऽङ्गिरःप्रभृतिनामोपन्यासपुरस्सरं ब्रह्मविद्यादिविद्यानामुपदेशात् यथा सृष्टेरनन्तरं न सृष्टिप्रतिपादको वेदो व्यरचि किन्तु सृष्टिरेवाऽनादिप्रवाहसिद्धानां वेदानां समनन्तरमिति सृष्टिं वर्णयतोपि वेदस्य न सृष्टिकालानन्तरकालोत्पत्तिकत्वं तथा ब्राह्मणेष्वितिहासवर्णनेपि नैतिहासिकार्थोत्पत्तिकालानन्तरकालोत्पत्तिकत्वमुपनिषदां ब्राह्मणानां च । नतृतीय आदिमतामृषीणां नाम्नामादर्शनस्य ब्राह्मणेषु सादिमत्त्वशङ्काया अप्रयोजकत्वस्याऽसकृदावेदितत्वात् ॥

भावार्थः—ब्राह्मणग्रन्थों में मनुष्यों के नाम लेखपूर्वक लौकिक इतिहास हैं ऐसे इतिहास मन्त्रभाग में नहीं यह उसी दयानन्द नामक कपटी का लेख है इस में विचार यह है कि ब्राह्मणग्रन्थों में लौकिक इतिहास का देख पड़ना क्या उन ब्राह्मणों को छली के बनाये जताता? वा अपौरुषेय होने का विरोधी है? अथवा सादि सिद्ध करने वाला है? इन में पहिला पक्ष ठीक नहीं क्योंकि ऐसा होतो सभी इतिहासमात्र छली जनों के बनाये हो जावें सो सम्भव नहीं द्वितीय पक्ष इस लिये ठीक नहीं कि जैसे सृष्टि का उत्पत्ति आदि क्रम वेद में अनेक बार कहा है वह वेदों को पौरुषेय नहीं ठहरा सकता वैसे वेदों को लौकिक इतिहास भी अनित्य नहीं कर सकता क्योंकि वेद सब विद्याओं की खान है इस से लौकिक मनुष्यों के सुन्दर कर्त्तव्य दिखाने के लिये परमेश्वर ने याज्ञवल्क्य, उशना और अङ्गिरा आदि नामों से इतिहास कथन पूर्वक ब्रह्मविद्यादि विद्याओं का उपदेश किया है जैसे सृष्टि रचना के पश्चात् रचना का प्रतिपादक वेद रचा गया अर्थात् अनादि सिद्ध वेदों के साथ और आगे पीछे सर्वदा सृष्टिप्रलय होते रहते हैं उस अनित्यरूप सृष्टि का वर्णन करता हुआ भी वेद सृष्टि उत्पत्ति के पश्चात् होने का दोषी नहीं हो सकता अर्थात् अनित्य पदार्थों के वर्णन से भी वेद अनित्य नहीं हो सकता अभिप्राय यह है कि वैसे ब्राह्मणभागों में भी अनित्य ऋषि आदि का संवाद होने से उपनिषद्भाग और ब्राह्मणभाग अनित्य नहीं हो सकते हैं। और ब्राह्मणभागों में लौकिक इतिहास दीख पड़ना रूप हेतु से सादि होना रूप तीसरा दोष भी नहीं आसकता क्योंकि अनित्य ऋषियों का नाम देख पड़ना ब्राह्मणग्रन्थों के सादि करने में प्रयोजक नहीं हो सकता यह कई बार कहा है ॥ इस महामोहविद्रावण की वाचालता का उत्तर प्रथम संस्कृत में दिया जाता है:—

यत्तावदुच्यते ब्राह्मणग्रन्थेषु लौकिकेतिहासदर्शनं तेषां प्रतारकनिर्मितत्वावगमकं नास्तीति स तु न कस्यापि पूर्वपक्षः। नच वयं ब्रूमो लौकिकेतिहासदर्शनमात्रेण प्रतारकनिर्मितानि ब्राह्मणानीति पुनरप्राप्तस्य प्रतिषेधः प्रमत्तगीतवदेवानुमीयते। लौकिकेतिहासदर्शनं तेषामपौरुषेयत्वभङ्गप्रयोजकं तु भवत्येव सृष्ट्युत्पत्त्यादिक्रमस्य लौकिकेतिहासदर्शनेन साधर्म्यसम्भवाभावात्। या च सूर्यचन्द्रमनुष्यपश्वादिचराचरस्य जगतः सृष्टिः प्रतिकल्पे तादृश्येव भवति सा च सामान्या प्रवाहरूपेण नित्या च एवं भूतां सृष्टिं वर्णयतो वेदस्यानित्यत्वं न सम्भवति। या च व्यक्तिविशे-

षरूपा सृष्टिर्देशकालविशेषोत्पन्ना देशकालसामान्ये चावर्त्तमाना सद्यः प्रध्वंसधर्मिणी तां प्रतिपादयन् वेदः कथं नित्योऽपौरुषेयः स्यात् ?। नहि कश्चिद् वक्तुमर्हति श्रीमच्छङ्करस्वामिन इतिहासप्रतिपादको भागोऽपौरुषेयोऽनादिपरम्परागतो वेदोऽस्तीति यः कश्चिन्निबन्धविशेषो यस्य पुरुषविशेषस्येतिहासं प्रतिपादयति स तत्पश्चाज्ज्ञानिना तेनैव वा निर्मीयत इति सार्वत्रिको नियमः। यदि च वेदेष्वपि कस्यचित्कालविशेषोत्पन्नस्य पुरुषविशेषस्येतिहासः स्यात्तर्हि तेषामपि तत्पुरुषोत्पादानन्तरं निर्माणं प्रसज्येत। यदुच्यते सनातनत्वेऽपि वेदस्य "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे" इत्यादि वचनैर्भूतादिकालस्थप्रलयादीनां वर्णनमस्ति नैव तद्वेदानामनादित्वं व्याहन्तीति तन्न—अनित्यानामपि सूर्यचन्द्रादिकार्यपदार्थानां प्रवाहरूपेण नित्यत्वात्पुनःपुनरुत्पत्तौ प्रलयमहाप्रलयादिषु तादृशाकृतित्वेन तत्तत्पदार्थत्वसम्भवात् तेषां प्रवाहेण नित्यानां वर्णनान्न वेदानामनित्यत्वं वक्तुं शक्यते। एवं चेत्तदा तु मनुष्यादिजातिवर्णनमपि सन्दिह्येत। पुरुषविशेषस्य चरित्रकथनेनापि यदि ब्राह्मणभागानां नित्यत्वमपौरुषेयत्वं च स्यात्तर्हि युधिष्ठिरादिपुरुषविशेषव्याख्यातचरित्राणां महाभारतादिनिबन्धानां नित्यत्वमपौरुषेयत्वं च कः प्रतिषेद्धुमर्हति। अर्थात् महाभारतादीनामपि नित्यत्वमपौरुषेयत्वं च प्राप्नोति। तस्मात्प्रतिपादितपुरुषविशेषेतिहासानां ब्राह्मणभागानां वेदत्वं शिष्टैर्विद्वद्भिर्न स्वीकर्त्तव्यमिति ॥

भाषार्थः—श्री स्वामी जी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है कि जैसे मनुष्यों के नाम लेख पूर्वक इतिहास ब्राह्मणग्रन्थों में हैं वैसे मन्त्रभाग में नहीं हैं इस लिये मन्त्रभाग वेद और ब्राह्मणभाग मूल वेद नहीं किन्तु उस का व्याख्यान है इस पर महामोहविद्रावणकर्त्ता लिखते हैं कि "ब्राह्मणग्रन्थों में लौकिक इतिहासों के होने से वे किसी छली वा नीच के बनाये नहीं अर्थात् यह नियम नहीं है कि जो २ लौकिक इतिहासयुक्त पुस्तक हो वह २ छली का ही बनाया हो" सो इन महामोहविद्रावणकर्त्ता जी से पूछना चाहिये कि लौकिक इतिहासों

के होने से ब्राह्मणभागों को नीच के बनाये किस ने लिखा वा कहा है ? जिस का आप निषेध करते हो स्वामी जी ने तो ब्राह्मणग्रन्थों को आर्षग्रन्थों में भी सर्वोपरि माना है तो इस पर लिखना व्यर्थ है । और इतिहासों के होने से भी ब्राह्मण पुस्तक पौरुषेय अर्थात् किसी पुरुष विशेष के बनाये नहीं हो सकते सो यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि ईश्वरीय सृष्टि और मैथुनी वा मानुषी सृष्टि में बहुत भेद होता है अर्थात् ईश्वर ने मनुष्यादि जातिमात्र बनाये और पृथिव्यादि भूत रचे और मनुष्यों ने पृथिवी की मट्टी और जल से एक मन्दिर (घर) बना लिया पृथिव्यादि भूतों की रचना का वर्णन वेद में है तो कोई कहे कि उस मनुष्यकृत घर का भी वर्णन होना चाहिये जैसे पृथिव्यादि के वर्णन से वेद अनित्य नहीं होते वैसे किसी निज के घर का वर्णन होने से भी वेद नित्य बने रहैं यह कोई कह सकता है ? क्या इन बातों को कोई विद्वान् स्वीकार करेगा ?। जिस पुस्तक में किसी निज घरके बनने का वर्णन होगा उस को सभी विद्वान् उस के पश्चात् का बना मानेंगे । ऐसे ही यदि जनमेजय वा शकुन्तला आदि का इतिहास होने से ब्राह्मणपुस्तकों को नित्य वा अपौरुषेय वेद नहीं कह सकते क्योंकि जिस में श्रीमान् शङ्कर स्वामी जी का जीवनचरित्र लिखा हो उस को भी वेद मानने की आवश्यकता पड़ेगी क्योंकि वे भी एक विशेष पुरुष होगये हैं इस के पश्चात् श्रीमत्स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के चरित्र वाले पुस्तक को भी कोई अनादि अपौरुषेय वेद मानने के लिये आग्रह कर सकता है इस प्रकार की अनेक अनवस्था प्राप्त होंगी फिर वेदवाच्य किस को कहेंगे । इस लिये यही मानना ठीक है कि जिन पुस्तकों में किन्हीं निज मनुष्यों का चरित्र वर्णन हो वे मनुष्यकृत हैं इसी प्रकार ब्राह्मणपुस्तक भी अनादि अपौरुषेय वेद नहीं कहे जा सकते क्योंकि उन में जनमेजयादि निज मनुष्यों का वर्णन है । इस विषय पर पहिले वर्ष के अङ्कों में बहुत कुछ लिखा गया है इससे अधिक नहीं लिखते बार२ लिखने में पिष्टपेषण दोष आवेगा । क्रमशः

आर्यसमाजीय रहस्य का उत्तर भाग१ अङ्क११ पृष्ठ१७६ से आगे

श्री गोस्वामी जी अपने (आर्यसमाजीयरहस्य नामक) ग्रन्थ में बहुत लम्बी चौड़ी "कल्पित" गाथा बना कर उस का सिद्धान्त यह निकालते हैं कि आर्य लोग जो कुछ कार्य करते हैं वह मन्त्र अर्थ अनुसार ही करते हैं तो हम आर्य जी से पूछते हैं कि आप गायत्री मन्त्र से शिखा बांधना गायत्र्यन्तर्गत अक्षरों में से दिखलाइये ? बस ! आर्य जी ने दीर्घश्वास लेकर अपनी राह ली—इस का उत्तर । महाशयवरो ! यह बातों हम प्रथम ही अच्छे प्रकार प्रकट कर आये हैं कि

"गायत्री मन्त्र से बुद्धि सिद्ध प्रयोजन वश से शिखा बांधे" इस का यह अभिप्राय नहीं कि केवल गायत्री मन्त्र का पाठ पढ़ता जाय और शिखा बांधता जाय प्रत्युत मुख्य उस का आशय यह है कि गायत्री मन्त्र में प्रार्थनादि त्रिक-प्रार्थना-(अभीष्टसिद्धेर्याचना) धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ स्तुति-तत्सवितुर्वरेण्यम् । उपासना भर्गो देवस्य धीमहि । इत्यादि जो विषय हैं अतएव सर्व मन्त्रों से इस की उत्तमता है अतएव मुख्य कर बुद्धि उन्नति तथा श्रेष्ठ कर्मों में उस की सहायतानुकूल प्रयत्न भी वैसा ही करना क्योंकि वेदों में प्रायः स्थानों पर यही विषय है कि-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः ॥

इत्यादि अर्थात् अपने २ कर्मों को करता हुआ ही पुरुष जीवन की इच्छा करे निरुद्यम कदापि न बैठा रहे तो अब हम श्रीमान्धर्मप्रचारक गोस्वामी जी से पूछते हैं कि यह अर्थ गायत्री के अक्षरों में नहीं यह शङ्का केवल गायत्री मंत्र ही में आपने कहां से निकाली कि गायत्री में चुटिया का नाम भी नहीं श्रीमन् ! भाषा का भी व्याकरण जिस ने पढ़ा होगा वह भी यथा आपने अपने श्रीमुख से अभिप्राय वर्णन किया ऐसा कदापि नहीं कहे गा देखो ! गायत्री मन्त्र का प्रयोजन विषयक मदुक्त विवरण (मेरा कहा हुआ यथामति अर्थ रूप सप्रमाण उपासनादि विचार) और मैं यहां पर इतना ही लिखना चाहता हूं क्योंकि पिष्टपेषण से वा एक कल्पित इतिहास पूर्वक नाट्यलीला से पत्र की पूर्ति करना विद्वानों का कार्य नहीं समझा जा सकता ॥ अतः श्रीमान् गोस्वामीजी से पूछना चाहिये कि जैसे (आलस्य की निवृत्ति और कफ की निवृत्ति के लिये अपेक्षित) आचमन ऐसा ही शब्द हो तो तभी आप आचमन समझें ? भला ! आपः-शब्द साधारण सारस्वतमात्र जिन्हों ने पढ़ा है वे भी जानते ही हैं। नें कि अप् शब्द बहुवचनान्त जल का वाचक है पीतये पा धातु पीने अर्थ में है भवन्तु इस का अर्थ भी होवें इस को भी जान सकते हैं "देवीः दिव्यगुणा दुर्गन्धादिरहिता आपः जलानि नः, अस्मभ्यं शं कल्याणपूर्वकम् पीतये भवन्तु, अर्थात् जिन जलों में दुर्गन्धादि गुण विकारकारी नही हैं वे जल हमारे लिये कल्याणपूर्वक पीने के लिये होवें इत्यादि साम्वय अर्थ से जिस ने कुछ भी क विषयक ग्रन्थ अध्ययन किये होंगे वह भी इस अभिप्राय को जान सके गा यह मंत्र कुछ आचमन ही के ऊपर नहीं प्रत्युत जब २ जल पिये उस २ समय इस के अर्थ के विचारपूर्वक पीवे । इस पर हमारे गोस्वामी जी इस बात को अवश्यमेव कहें गे कि यह अर्थ श्रीस्वामीदयानन्द जी ने तो इस मन्त्र का किया ही नहीं इस का उत्तर यह है कि श्रीमद्दुक्तस्वामी जी ने अपने वेद भाष्य में जैसे एक २ मन्त्र के चार २ अभिप्राय लिखे हैं इसी प्रकार इस मन्त्र का अर्थ भी समझो । क्योंकि यह बात

इसी ग्रन्थ के भाग १ अंक २ पृ० ३० से लेकर ३२ पर्यन्त देखो ! तो सिद्ध है कि महर्षि जन एक मन्त्र का एक ही अर्थ नहीं करते हैं किन्तु अपनी युक्ति वा प्रमाणों से एक मन्त्र के अनेक अर्थ दर्शाते हैं । इस के कथनोत्तर श्रीगोस्वा० ने लिखा है कि "और लीजिये पञ्चमहायज्ञविधि पृ० ७ पं० १४ में लिखा है कि । ओंवाक् २ ओं प्राणः २ ओं चक्षुः २ ओं श्रोत्रम् २ ओम् नाभिः । ओं हृदयम् ओं कण्ठः । ओं शिरः । सवेरे और सन्ध्या इन अङ्गों को टटोल लेना जिस तरह रेलवे प्लाटफारम पर यात्री लोग ओंघ जाते हैं और निन्द्रा भंग होते ही अपना असबाब सम्हाल लेते हैं "गठरी है" बेग ! बेग ! लोटा लिया ! लाठी लाठी ! छाता ! है छाता, बस इसी तरह भोले भाले लोग जब रात को सो कर सवेरे उठते हैं और दिन भर परिश्रम कर जब सन्ध्या को विश्राम करते हैं तब सब अपने अंग टटोल लेते हैं वाणी है वाणी कहीं बन्द तो नहीं हो गई, प्राण है श्वास चलता है वा नहीं । कान है कान कौआ तो नहीं ले गया । कण्ठ है कण्ठ कट तो नहीं गया । शिर है फूट तो नहीं गया हा ! क्या कोई भी आर्य्य पुरुष नहीं विचारते हैं कि हमारे इन चरित्रों पर विद्वान् लोग क्या कहते होंगे किसी सनातन धर्मावलम्बी ने अच्छा कहा है कि ब्राह्मणों की तो पोपलीला है परन्तु आप की लोपलीला है अभी औरों के हंसने से क्या है, तुम अङ्ग तो सम्हाल लो कहीं लोप तो न हो जाय । यह तो आप विधि देख चुके अब इस की युक्ति पर दृष्टि दीजिये " इस का उत्तर यह है । श्री गोस्वामी जी तो नाट्यलीला के रचने में अतीवप्रवीण हैं इस विषय में हम कई एक स्थलों में उक्त श्रीगो० जी की प्रशंसा कर आए हैं क्योंकि यह विद्या गोस्वामिमात्र में स्वाभाविक सिद्ध है यथाह जयदेवोपि गोस्वामी "पद्मावतीचरणचारणचक्रवर्ती" अर्थात् श्रीराधिका जी के आगे नाचने वाला मैं हूं—परन्तु अब श्रीगोस्वामी जी से यह कहना है कि जब तक किसी मन्त्र वा श्लोक, वा सूत्र, आदि का अभिप्राय जान न लिया जावे (पूर्ण २ प्रकार) तब तक उस पर दंश देना महती अविवेकता ही नहीं प्रत्युत अनेक २ प्रकार के जो (देशोन्नति आत्मोन्नति विद्योन्नति, विषयक आदि जो हेतु हैं उन को भी) महामहोपकारक वस्तु हैं उन का अवरोध करके तद्विरुद्ध अविद्या ईर्ष्या मत्सरादि का सम्भव मूल हो जाता है अतएव विद्वज्जनों का जो कुछ कर्त्तव्य है वह केवल स्वार्थपरक नहीं अर्थात् पूर्व परार्थ विचार ही के पीछे स्वार्थ को निष्पक्षपातता से सिद्ध करता है और ऐसे ही लेख वा व्याख्यान वा उन के रचे ग्रन्थ सांसारिक पदार्थ (जो कि गूढ से भी गूढ जैसे आत्मादि पदार्थ हैं) वा शारीरिक पदार्थों (जो शरीर से सम्बन्ध रखते जैसे मन—बुद्धि—आदि) को प्रत्यक्ष

दिखला देते हैं देखिये यह कितना बड़ा उपकार विश्व का है प्रस्तुत में यह आया कि इस पूर्वानूदित (जिस का पूर्व प्रसंग हो आया है) इन्द्रिय स्पर्श के विषय में आप ने कुछ श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ही के ऊपर आक्षेप नहीं किया किन्तु महामहार्घ्यधर्मप्रवर्तक श्री मनु भगवान् जी के भी ऊपर धूल उड़ाई कहिये मनु महाराज ने जो लिखा है सन्ध्या प्रकरण में कि–

"अद्भिः खानि च संस्पृशेत् । तथा आत्मानं शिरएव च"

तो आप के नाटक के सन्मुख तो मिथ्या ही समझा गया क्या सृष्ट्यादिकालिक श्री मनु जी को आप के समान भी विद्या प्राप्त न थी ? आप के समान भी वक्तृता न थी ? आप के सदृश भी सनातन धर्म्मावलम्बी मनु जी नहीं होंगे ? अरे भाई ! क्यों बढ़ २ के बातें मारते हो ! ! ! दृष्टान्त प्रसिद्ध है वैसे ही मत बनो ! (छोटे मुख बड़ी बातें) अब सुनिये इस मन्त्र में ईश्वर प्रार्थना क्या है ?

इस का उत्तर यह तो सभी जानते होंगे कि इस वाक्य में ओ३म् शब्द से भिन्न वाक् आदि शब्द यहां पढ़े हैं देखो प्रथम पाठ ही से कि (ओ३म् वाक् २) इत्यादि तो ओ३म् यह नाम सच्चिदानन्द का है जिस अर्थ में (तस्य वाचकः प्रणवः) यह योगसूत्र प्रमाण है अर्थात् ओ३म् यह नाम परमात्मा का है उस से भिन्न वाक् है अर्थात् वाक् (जो कर्मेन्द्रिय) वह परमात्मा नहीं क्योंकि वाणी, वायु और आकाश के संयोग से बनी है और जो संयोग से बना पदार्थ है उस का वियोग भी है (संयोगा विप्रयोगान्ताः–महाभारते) संयोग का अन्त वियोग तक है–(जिन पदार्थों का वियोग हो गया तो जैसे शब्दाकाश संयोग से वाणी बनी अब वायु और आकाश के वियोग में तीसरा जो पदार्थ वाणी था उस का नाम भी न रहेगा अतः वह अनित्य होता है परमात्मा अनित्य नहीं । इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों को भी आत्मा मत समझो अर्थात् आत्मा ही इन सब इन्द्रियों का उत्पादक है और आप इन्द्रियादि से रहित है अतः अनित्य में नित्य मानना जो अविद्या का प्रथम भाग उसे त्याग के नित्य आत्मा का विचार मननादि पूर्वक करना उचित है इस में "अशब्दमस्पर्शमरूप" मित्यादि श्रुति वा उपनिषद्वाक्य बहुत ही प्रमाण हैं दूसरा प्रयोजन यह भी है कि मनु जी के वाक्य अनुसार जल से इन्द्रियों का स्पर्श करे अर्थात् प्राणायाम करते समय सर्व शरीर आन्तरिक ऊष्मा से आविष्ट होता है तदनन्तर यदि इस (शरीर) को अन्य कर्म में प्रवृत्त करेंगे तो असावधानता के हेतु पूर्ण कार्य नहीं दे सकेगा अतः जल से युक्त हाथ करके उसी से सर्व इन्द्रियों को प्रत्येक बार स्पर्श करे जिस से जल की शीतलता सर्वतस्समाविष्ट हो कर शान्ति उत्पादक हो के शारीरिक सावधानता को पैदा कर दे !

अब इस में यह शंका होगी कि यदि परमेश्वर सर्वज्ञ है तो हाथ से छूने से क्या प्रयोजन इस का उत्तर विद्वज्जन तो अनेकानेक निकाल लेंगे परन्तु मेरी तुच्छ बुद्धि में तो यही आता है कि जिस को मैं छू रहा हूं ये स्थान नाक् आदि इन्द्रिय नहीं किन्तु इन के संकेत से जिस को सूचित करता वह इन्द्रिय भिन्न ही है जैसे "शाखायां चन्द्रः" शाखा के ऊपर चन्द्रमा है तो खास शाखा ही के ऊपर पक्षी के तुल्य चन्द्रमा नहीं बैठा है किन्तु कुछ ऊपर को ओर दृष्टि करके देखो तब चन्द्र प्रतीत होगा शाखा तो एक संकेत है अर्थात् यह गोलक जिस के ऊपर हाथ धरते हैं वे इन्द्रियां नहीं यह बात उस समय साधारण विशेष मनुष्यों पर प्रकट करने के लिये स्पर्श है कुछ परमात्मा को दिखलाने को नहीं यथाह साङ्ख्ये कपिलः अध्या० २ सू० २३ ॥ अतीन्द्रियमिन्द्रियम्भ्रान्तानामधिष्ठाने ॥ अर्थात् गोलक इन्द्रिय नहीं भ्रमयुक्त नर घ्राण इन्द्रिय नाक को कहते हैं (जो पसरा हुआ मुख के ऊपर मांस पिण्ड है) अर्थात् जिस के द्वारा पुरुष सूंघता है वही नाक वा घ्राण है अन्य नहीं इत्यादि से यह प्रयोजन भी सिद्ध हुआ इन इन्द्रियों के स्थानों को जल के द्वारा स्पर्श करने से कि जैसी जल में शीतलता वैसी शमदमादि के द्वारा विषयों से निवृत्त कर के उन को भी शीतल करैं और नाटक लीला तो हुई गो स्वामी जी का एक व्यर्थ प्रलाप तो दत्तचित्त से विचारिये "कान कौआ तो नहीं ले गया" भला कहीं कान भी किसी के कौआ ले जाता है गो स्वामी जी ने कहीं लड़का लड़कियों के खिलाने की याद में तो यह पद नहीं लिख मारा!

धर्म्मप्रचारक जी से प्रार्थना है कि जब "न कुर्व्वीत वृथा चेष्टाः" इस धर्म शा० वाक्य को आप मानते हो तब तो इस (वृथाचेष्टा) लीला को आप परित्यागिये अन्यथा आप इस (धर्मप्रचारक) नाम की जगह लीलाप्रचारक रक्खिये! यह तो सत्य है श्री महाराज का कथन कि कोई आर्यपुरुष नहीं विचारते हैं इत्यादि आर्य पुरुष विचारें तो तब अब आप सरीखे विद्वानों का लेख इस प्रकार का अभी तक निकला होता हां! अब निकला है तो वैसा ही विचार भी होता जाता है वा होता जायगा—श्री जी से प्रार्थना है कि आप के उपदेश से नष्ट भ्रष्ट हुए अंग हम ने तो अब वैदिकधर्मोपदेशकवर श्री १०८ स्वामी दयानन्द जी महाराज के उपदेश से सम्हाल लिये अब कदापि नहीं लोप (शिथिलता से) होने देंगे परन्तु आप को भी उचित है कि अपने वा अपने अनुयायियों के सम्हलवा दीजिये-शेषमग्रे

भवदीयोऽल्पमतिर्बलदेव शर्म्मा
निवासस्थान कायमगञ्ज
जि० फर्रुखाबाद

प्र० भाग के १ २ अंक से आगे चौहान गोविन्दसिंह जी कृत प्रश्नों के उत्तर

(२)-प्र०—आप लोग जगत् को सत्य मानते हैं सो इस पर भी यह शङ्का होती है कि यदि जगत् सत्य हो तो उस का तीनों काल में नाश न होना चाहिये और होता है तो फिर सत्य कैसे मानें बल्कि असत्य भी नहीं कह सकते क्योंकि यदि असत्य हो तो प्रत्यक्ष न दिखाना चाहिये और यह प्रत्यक्ष दीख कर फिर नाश भी होता है अतएव इस माया को सत्य असत्य से विलक्षण अनिर्वचनीय कहना चाहिये—

(२)—उ०—स्वामी जी महाराज ने जगत् को सत्य इस प्रकार माना है कि वह प्रवाह से तथा कारणरूप से नित्य है किन्तु अभाव से भाव नहीं है । आप कहते हैं कि यदि जगत् सत्य है तो उस का तीनों काल में नाश न होना चाहिये सो यह सत्य का लक्षण कहां है ? यदि कोई कहे कि यह सुवर्ण सत्य है तो क्या उस का यह तात्पर्य्य हो सकता है कि सुवर्ण का कभी नाश नहीं होता? किन्तु सुवर्ण को भस्म भी कर देते हैं घिस कर पृथिवी में भी मिला दे सकते हैं अर्थात् यह तात्पर्य हो सकता है कि सच्चा सुवर्ण है इस में अन्य धातु का मेल नहीं है वा सुवर्ण के स्थान में अन्य किसी तत्सदृश वस्तु को सुवर्ण नहीं मान लिया है । जिस का कभी नाश न हो वह पदार्थ नित्य तो कहाता है सो नित्य में भी दो भेद हैं एक स्वरूप से नित्य जैसे ईश्वर और जगत् का कारण आदि है और दूसरी प्रवाह से नित्यता है जिस को जाति पक्ष भी बोलते हैं जैसे मनुष्य व्यक्ति अनित्य और मनुष्यत्व जाति नित्य है जैसे मनुष्य व्यक्ति के नाश में मनुष्यपन का नाश नहीं हो सकता । क्योंकि सब व्यक्तियों का नाश एक साथ नहीं हो जाता प्रलय समय में हो भी जाता है तो पुनः कल्प कल्पान्तर में मनुष्यादि वैसे ही होते हैं इसलिये वे प्रवाह से नित्य हैं स्वामी जी महाराज ने ऐसा कहीं नहीं लिखा न हम लोग मानते हैं कि जगत् भी स्वरूप से नित्य है ? । किन्तु हम लोग यह मानते हैं कि कार्य्य जगत् अपने स्वरूप से अनित्य है परन्तु प्रवाह से नित्य है । जब आप माया को अनिर्वचनीय ख्याति में मानते हैं तो प्रश्न नहीं बन सकता क्योंकि आप ही उस का निर्वचन करते कराते हैं तो अनिर्वचनीय क्यों कहते हैं ? । वेदान्ती लोग माया को मिथ्या मानते हैं आप लिखते हैं कि मिथ्या भी कहना नहीं बनता वेदान्तियों का सिद्धान्त है कि—

नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका ।
सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी ॥

माया न सत् न असत् न दोनोंरूप है किन्तु सत् असत् से विलक्षण मिथ्या स्वरूप सनातन है। इस श्लोक में परस्पर बहुत विरोध है। जो पदार्थ सनातन है वह मिथ्या नहीं है। अभिप्राय यह है कि आधुनिक वेदान्ति लोग जगत् के मिथ्यात्व में रज्जु सर्प का दृष्टान्त देते हैं हम कहते हैं कि यदि सर्प को सर्प समझना भी मिथ्या हो तो रज्जु में सर्प की भ्रान्ति नहीं हो सकती इसी प्रकार जगत् को मिथ्या करने के लिये साध्य जगत् से भिन्न जगत् के सदृश धर्म वाला कौन सत्य पदार्थ है? जिस के आश्रय से जगत् में सत्य प्रतीति मिथ्या हो। तुरीयावस्था का दृष्टान्त इसलिये नहीं बनता कि जगत् के साथ उस अवस्था का कुछ सादृश्य नहीं है। और दृष्टान्त का लक्षण भी तुरीयावस्था से न घटेगा क्योंकि दृष्टान्त एक न्याय पदार्थ है लौकिक और परीक्षकों की जिस में एकसी बुद्धि हो वह दृष्टान्त है। तुरीयावस्था को लौकिक लोग नहीं समझ सकते यदि जगत् का दृष्टान्त देवें तो जगत् साध्य है दृष्टान्त सिद्ध होना चाहिये जगत् के दृष्टान्त में साध्यसमहेत्वाभास हो जाने से पक्ष पराजय स्थान में चला जाता है इस लिये इस आधुनिक वेदान्त में विद्वानों बुद्धिमानों को न फंसना चाहिये।

३-(प्रश्न)-स्त्री का पुनर्विवाह श्रीयुत स्वामी जी महाराज ने सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ ११२ में न होना लिखा है और होने में कई तरह के दोष भी दिखाये हैं अब आप लोग जो पुनर्विवाह करने की हिदायत "आर्य्यावर्त्त। भारतसुदशाप्रवर्तक" आदि पत्रों में बहुत करते हैं जिससे कई जगह हो भी गया है तो स्वामी जी से विरुद्ध आप लोगों ने यह सम्मति कैसे दी जिसकी रीति लिखें।

नरसिंहशर्मा मंगलपुर निवासी कृत प्रश्न॥

(प्रश्न)-स्वामी जी का मत है कि पुनर्विवाह न करना और वर्तमान पत्रों से सुना जाता है कि आर्यसमाज वालों ने पुनर्विवाह किया। क्या आर्यसमाज वाले नियोग को ही पुनर्विवाह कहते हैं?।

उ०—ये दोनों प्रश्न एक ही अभिप्राय के हैं इस इसलिये दोनों का उत्तर एक साथ ही हो जायगा। श्रीस्वामीदयानन्दसरस्वती जी ने ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीनों वर्ण के लिये पुनर्विवाह का निषेध और नियोग का विधान किया है सो शास्त्रदृष्टि से विचार पूर्वक देखा जावे तो अच्छे प्रकार निश्चय होता है कि आर्यों के लिये वेद तथा तदनुयायी धर्मशास्त्रों में नियोग का तो विधान मिलता है किन्तु पुनर्विवाह का नहीं इस लिये स्वामी जी का विचार शास्त्र के अनुसार है परन्तु अक्षतयोनि कन्या का पुनर्विवाह स्वामी जी महाराज ने भी लिखा है अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री कन्या बनी रहती है और जब तक विवाहिता कन्या का

अपने पुरुष से संयोग नहीं होता तब तक उस कन्या का विवाह पूर्ण नहीं होता सो पहिले आर्यों में यह शास्त्रानुसार रीति प्रचरित थी कि शिक्षित कन्या वरों का युवावस्था में विवाह करते थे तब वे भी जानने लगते थे कि विवाह इस क्रिया का नाम है और इस लिये किया जाता है तदनुसार उन दोनों का परस्पर संयोग भी चौथे दिन हो जाता था जिस को सूत्रकारों ने चतुर्थीकर्म करके लिखा है ऐसी शास्त्रीय रीति के प्रचरित रहने से विवाह के पश्चात् शीघ्र ही विवाह का फल सन्तानोत्पत्ति हो जा सकती है और बाल्यावस्था में ब्रह्मचर्य्य के नियमों की रक्षा हो जाने से बलवान् वृक्ष के समान तुषारादि रूप व्याधि से शरीर का नाश भी सहसा न हो सकने से प्रायः बालविधवाओं का होना भी सम्भव नहीं था इस कारण पहिले पुनर्विवाह की आवश्यकता भी नहीं पड़ सकती थी। अब काल पाकर ब्रह्मचर्यादि वर्णाश्रम के धर्म कर्मों के नष्टप्राय हो जाने से अनेक कन्या बालविधवा हो जाती हैं कुछ दिन पहिले अनुमान ३६ छत्तीश हजार कन्या ७–१० वर्ष की अवस्था तक की मर्दुमशुमारी की रीति से समाचार पत्रों में विधवा छापी गईं थीं जिन के दुःख को देख कर परोपकारशील पुरुषों का हृदय ऐसा संतप्त होता है कि जिस की शान्ति के लिये उपाय खोजने से भी मिलना कठिन है। क्योंकि वे कन्या हमी लोगों के आधीन हैं। ऐसी ही दशा को विचार कर किन्हीं परोपकारशील विद्वानों ने ऐसे २ श्लोक बनाये कि–

उद्वाहितापि सा कन्या न चेत् संप्राप्तमैथुना।
पुनः संस्कारमर्हेत यथा कन्या तथैव सा ॥ नारदस्मृतौ।

वैदिक रीति से विवाह संस्कार प्रतिज्ञादि तक हो भी गया हो परन्तु उस कन्या का विवाहित पति से मैथुन सम्बन्ध न हुआ हो तो उस का पुनः संस्कार अर्थात् वैदिक रीति से पुनर्विवाह होना चाहिये क्योंकि वह कन्या ही बनी है विवाहित पति से मैथुन हुए विना कन्यापन नष्ट नहीं होता इस में पतञ्जलि महर्षि की भी साक्षी है कि—"अभिसम्बन्धपूर्वके पुंसा संप्रयोगे कन्याशब्दो निवर्त्तते" अर्थात् वैदिक रीति से विवाहित हुए पति के साथ संयोग होने से ही कन्यापन छूटता है इसी लिये मनु जी महाराज ने भी कन्याओं का वैदिक मन्त्रों से विवाह संस्कार कहा है:—

पाणिग्रहणिका मंत्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः।
नाकन्यासु क्वचिन्नृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः ॥ १ ॥

पाणिग्रहण विवाह संस्कार के वैदिक मंत्र कन्याओं के लिये हैं अर्थात् जिन में कन्यापन बना है उन्हीं का विवाह वैदिक रीति से हो सकता है और जिन

का कन्यापन नष्ट हो गया अर्थात् विवाह संस्कार हो कर पति से संयोग हो गया हो उन का विवाह पुनः वैदिक मन्त्रों से नहीं हो सकता अर्थात् उन का पुनर्विवाह वैदिक रीति से किया जावे तो धर्म का लोप होता है (धर्म से विरुद्ध है) और इस को श्री स्वामी दयानन्दसरस्वती जी ने भी स्वीकार किया है कि सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ११० से जो अक्षतयोनि कन्या हैं जिन का विवाहित पति से संयोग नहीं हुआ उन का विवाह फिर से होना चाहिये इस पर (सा चेदक्षतयोनिःस्यात्०) यह मनु का प्रमाण दिया है। इसी धर्मशास्त्रों की आज्ञानुसार आर्यावर्त्त और भारतसुदशाप्रवर्त्तक आदि समाचार पत्र सम्पादक भी पुनर्विवाह होने के लिये हल्ला मचाते हैं क्योंकि उक्त समाचार पत्र भी परोपकारी हैं जो शास्त्रानुसार विषय है और उस के प्रचार हुए विना लोक में महादुःख और हानि होती है तब परोपकारशील पुरुषों से चुप हो कर नहीं बैठा जाता यह बात उन के स्वभाव से विरुद्ध है अब इस अंश पर बुद्धिमान् पाठक गणो ! ध्यान दीजिये कि स्वामी दयानन्दसरस्वती जी, आर्यसामाजिक और आर्यावर्त्तादि समाचार पत्रों में परस्पर क्या विरोध आया? अर्थात् कुछ भी विरोध नहीं उक्त प्रकारानुसार सब का एक मत है। श्रीस्वामीदयानन्दसरस्वती जी महाराज ने पुनर्विवाह में अनेक दोष दिखा कर निषेध किया है सो अक्षतयोनि कन्याओं का पुनर्विवाह विधान कर देने से क्षतयोनियों के लिये निषेध करना उन्हीं के अभिप्राय से सिद्ध हो गया। आर्यसमाज के लोग नियोग और पुनर्विवाह को एक नहीं समझते हैं किन्तु ये दोनों वस्तुतः पृथक् २ हैं विवाह जन्म भर के लिये पति पत्नी का सम्बन्ध हो जाता है और नियुक्त स्त्री पुरुषों का पति पत्नी भाव वास्तव में होता ही नहीं और विवाह नियोग के नियम भी पृथक् २ हैं यदि कोई आर्यसमाजीय पुरुष विवाह नियोग को एक ही समझता हो तो उस का दोष आर्यसमाज के सिद्धान्त पर नहीं आसकता। सन्तानोत्पत्तिरूप प्रयोजन विवाह नियोग का एक ही है इस अंश को लेकर यदि कोई एक कहे तो कह भी सकता है। और एक बात यह भी ध्यान में रखनी चाहिये कि स्वामी जी से विरुद्ध होना क्या है? मेरी बुद्धि में तो यही आता है कि हम लोगों ने जैसे उन (स्वा० दया० जी) को देशोपकारिशिरोमणि समझा है और अब कहने लगें कि वे तो देश के हानिकारक थे तो यह विरोध होगा और जब उन के मुख्य सिद्धान्त को हम लोग पुष्ट कर रहे हैं तो विरुद्ध कैसे कहे जावें गे?। उन का मुख्य सिद्धान्त यही था कि परस्पर वैर विरोध मिटा के ऐसे २ कार्य करने चाहिये जिस से देश का उपकार हो। अब बताइये आर्यसमाजियों ने कौन सी देश की हानि की? यदि कहीं उपकार बुद्धि से कोई काम करे और उस का कभी

विपरीत फल होजावे तो वह उस का दोष नहीं समझा जावेगा। और ऐसे कोई काम करें कि जिस के विषय में स्वामी जी ने कुछ न लिखा हो वह उपकारी काम हो तो क्या न करेंगे ?। तथा उन्हों ने जिस समय लिखा उस समय वैसा ही लिखना उपयोगी था अब जिस प्रकार के उपदेश का उपयोग है वैसा करने में कुछ विरोध नहीं कहा जावेगा। देश काल के परिवर्त्तन से लौकिक व्यवहारों की प्रणाली का परिवर्त्तन (बदल जाना) लौकिक शास्त्रों के अनुसार सिद्ध है। जैसे इस भारतवर्ष में जब तक ईसाई मत का कुछ प्रचार नहीं था तब तक वैदिकधर्मानुयायियों को उस से बचने के उपाय करने की कोई आवश्यकता नहीं थी इस लिये पहिले से वैसे उपदेशादि नहीं लिखे गये अब इस की आवश्यकता पड़ी तो हम को वैसे उपाय करना आवश्यक हुआ। ऐसे ही विवाहादि विषय में अब जैसी २ आवश्यकता पड़ेगी वैसा २ समयानुसार उपदेश करना बहुत ही उचित है ऐसा कर्त्तव्य पहिले महात्माओं से विरुद्ध नहीं कहाता। अब पुनर्विवाह पर यह विचार शेष है कि अक्षतयोनि कन्याओं का पुनर्विवाह वास्तव में पुनर्विवाह नहीं समझा जाता किन्तु पहिला ही विवाह समझना चाहिये। क्योंकि विवाह शब्द मुख्य कर स्त्री पुरुष भाव हो के दोनों के परस्पर संयोग करने का वाचक है और वेदि आदि पर जो वैदिक विधान होता है वह विवाह का मंगलाचरण है अर्थात् जिस के निमित्त जो काम होता है उस को उसी काम के नाम से कह सकते हैं जैसे भोजन के लिये अग्नि जलाने आदि को भी कहते हैं कि देवदत्त भोजन बनाता है वैसे ही विवाह के लिये जो मङ्गलाचरण है वह भी विवाह कहाता है यदि वैदिकमन्त्रविधिमात्र को ही विवाह कहें तो गान्धर्व-विवाह में विधान न होने से उस को विवाह नहीं कह सकेंगे परन्तु गान्धर्व को भी विवाह कहते हैं॥

और पुनर्विवाह में एक दोष यह है कि जब एक कन्या का एक पति हो चुकता है अर्थात् जब उस कन्या का विवाह संस्कार होके पति से सम्बन्ध (संयोग) हो जाता है कि जब उन दोनों में परस्पर पतिपत्नीभाव हो चुकता है तब यदि प्रथम पति मरजावे और वह स्त्री अन्य पुरुष को पतिभाव से ग्रहण करे (किसी के घर में बैठ जावे) तो धर्मशास्त्रों की रीति से उस स्त्री को पुनर्भू कहते हैं इसी से उस स्त्री में अन्य पुरुष के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए पुत्र को पौनर्भव कहते हैं वह पौनर्भव पुत्र "षडदायादबान्धवाः" इत्यादि प्रमाणानुकूल दायभागी (पिता की हकीयत का हक़दार) नहीं होसकता इस कारण धर्मशास्त्रकारों ने पुनर्विवाह का निषेध किया है। और यह दोष अक्षतयोनिकन्याओं के पुनर्विवाह में इसी लिये नहीं समझा जाता कि वहां वस्तुतः पुनर्विवाह नहीं है क्योंकि अक्ष-

तयोनिकन्या का न कन्यापन नष्ट हुआ और न उस पहिले पुरुष को पतिभाव प्राप्त हुआ था कि जो उस के अभाव में अब दूसरे की स्त्री कहावे अर्थात् अक्षत योनि कन्या की पुनर्विवाह होने से पुनर्भू संज्ञा नहीं हो सकती। आज कल जो सप्तपदी पर्यन्त विवाह की समाप्ति मानी जाती है इस का तात्पर्य प्रतिज्ञा मात्र की रक्षा करने पर है अर्थात् कन्यादाता पिता आदि का संकल्प हो चुका कि यह कन्या अमुक वर को देता हूं और वेद मन्त्रों से प्रतिज्ञा भी होगई कि हम दोनों स्त्री पुरुष भाव को प्राप्त होते हैं। यदि इतना ही विवाह समझा जावे तो संकल्पमात्र हो जाने वा वैदिक प्रतिज्ञा हो जाने पर भी सप्तपदी होने से पहिले उस कन्या को विवाहित समझने लगें और वर के मर जाने में विधवा मानें सो नहीं समझते और फिर से अन्य वर के साथ विवाह कर देते हैं शास्त्र रीति से सप्तपदी चतुर्थीकर्म तक समझी जाती है कि जब विवाहविधि से चौथे दिन रात्रि को शेष विधि हवनादि करके कन्या वर का संयोग होता है इस लिये चौथे दिन रात्रि को अर्थात् चार दिन में विवाह कर्म्म पूरा होता है चतुर्थी से पहिले वर का शरीरपात हो जावे तो कन्या विधवा नहीं कही जाती और न प्रथम वर के न रहने से उस के विवाह को पुनर्विवाह कह सकते हैं इस से यह सिद्ध हुआ कि अक्षतयोनि कन्याओं का विवाह करना नाम ही मात्र पुनर्विवाह है इसी लिये पुनर्विवाह के दोष अक्षतयोनि कन्याओं के विवाह में नहीं आ सकते। इस विषय का विशेष व्याख्यान विवाहव्यवस्था पुस्तक जो आर्यधर्मसभा की ओर से बना है छप कर प्रकाशित होने वाला है उस में लिखा है इस लिये अब यहां इस व्याख्या को समाप्त करता हूं ॥ सम्पादक आर्यसिद्धान्त ॥

फर्रुखाबादीय धर्मसभा विषयक पत्र समीक्षा

परब्रह्म परमात्मा को कोटिशः धन्यवाद है जिस की अपूर्व कृपा से चित्त को प्रमोद देने और परस्परोन्नति कराने वाले कार्य उन विचारशील महाशयों के विचार में आने लगे हैं जो सभा वा समाज के नाममात्र से उदासीनता रखते हैं।

प्रिय पाठको! नगर फर्रुखाबाद में आर्यसमाज तो वैदिकसिद्धान्तों के आन्दोलन करने को कई वर्ष से स्थिर है पर सुना है कि आर्यसमाज से अतिरिक्त वहां कई विद्वानों ने एक धर्मसभा और स्थापित की है जो अभी अपनी बाल्यावस्था में है और सभा के अधिकारी महाशयों ने एक मासिकपत्र भी निकाला है जिस की कई कापी मेरे मित्रवर रघुवरदयाल वाजपेयी जी (इटावा निवासी) ने मुझे दीं जिन में से एक कापी संवत् १९४४ पौष शुक्ल १५ की छपी हुई मैंने देखी उस से सभा के उद्देश्य तथा सभासम्पादक महाशयों के उत्साह प्रकट हुए और यह भी

विदित हुआ कि वह महाशय चलते व्यवहारों के अनुसार अवैदिक कर्मों पर अत्यन्त बल दे रहे हैं यद्यपि विद्वानों का व्यवहार तो यही है कि जो पदार्थ जिस प्रकार का हो उस को उसी भाव से प्रकाशित करें पर तो भी लोगों को बहुधा किसी न किसी बात का पक्ष पड़ ही जाता है अथवा उन महाशयों ने किसी से पत्रसम्पादन करना न सीखा होगा क्योंकि उन का लेख अशुद्धियों अशुद्धियों और दुर्वाक्यों से परिपूरित है ॥

कदाचित् उक्त विषय में इस से सन्तुष्ट होते होंगे कि उस कापी के ऊपर कलम से किसी ने लिखा है कि "जो गलती है वह छापे की है" अस्तु कुछ हो पर हम लोग तो मित्रभाव से उन की सेवा में यही निवेदन करते हैं कि वह अब भी कुछ दिन किसी पत्रसम्पादक की सेवा करें पीछे पत्र छापा करें क्योंकि यह पत्रसम्पादनविद्या भी ध्यान देने योग्य है परन्तु उन महाशयों ने अपने संस्कृत के अभिमान में पत्रसम्पादकविद्या पर ध्यान न दिया शोक का अवसर है कदाचित् कोई साधारण वा असाधारण जन हमारे नवीन उत्साही महाशयों के लेख पर ध्यान देकर राजघर में अर्जी पत्र देवें तो उक्त महाशयों का उत्साह धूल में मिल जावे पण्डित महाशय सभा मूलपत्र को दुबकाते और तिथिपत्रों को बगल में दबाते हुए निज घरों में लुकते फिरैं। अब मैं उनके लेख की कुछ समीक्षा करता हूं प्रथम उसी पौष के छपे हुए पत्र में महाशयों का लेख यह है कि—

"सम्पूर्ण धार्मिक सत्पुरुषों को विदित हो कि परमेश्वर ने स्वर्ग इन्द्रादि देवताओं के निवास के अर्थ बनाया ... ...

अतः ऐसे प्रभु परमात्मा ज्योतिःस्वरूप परब्रह्म परमेश्वर के चरणारविन्दों का संपूर्ण धार्मिक मनुष्यों को सदैव स्मरण करके वारवार साष्टाङ्गप्रणाम करना चाहिये। जिस्से समस्त पातकों का नाश होकर पुण्य की वृद्धि होवे"। प०पौ०पृ०१ ॥

प्रिय पाठक गणो ! उक्त लेख को विचारना चाहिये कैसा असङ्गत है यह महाशय परमात्मा परब्रह्म परमेश्वर के चरणारविन्दों का स्मरण करने को कह रहे हैं प्रथम इन से पूछना चाहिये कि उस परब्रह्म परमात्मा के चरणारविन्द कहां हैं देखिये वेद में जहां२ उस परब्रह्म परमात्मा का वर्णन है वहां२ उस को निराकार कहा है। तद्यथा यजुर्वेदे—

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। य० अ० ४० ॥

उक्त मन्त्र में अकाय, अव्रण, अस्नाविर, जो ईश्वर के विशेषण दिये हैं इन से स्पष्ट जाना जाता है कि ईश्वर निराकार है क्योंकि काय नाम शरीर का जिस

के काय शरीर नहीं वह अकाय कहाता है तथा वेदों में और भी बहुत मन्त्र हैं जिन से ईश्वर को निराकार कहा है। उपनिषदों का भी यह सिद्धान्त है कि वह ईश्वर निराकार है। तद्यथा—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥

अर्थात् वह ईश्वर हाथ पैरों से रहित है पर वेगवान् और ग्रहण करने वाला है वह नेत्रवान् नहीं पर देखता है वह कानों से रहित है पर सुनता है वह सब को जानता है परन्तु उस को जानने वाला कोई नहीं है उस को अग्र्य पुरुष पुराण परमात्मा कहते हैं।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥२॥
दिव्योह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरोह्यजः।
अप्राणोह्यमनाः शुभ्रोह्यक्षरात् परतः परः ॥ ३ ॥

इत्यादि वाक्यों में जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप तथा अनादि अनन्त अमूर्त्त और नित्य आदि विशेषण ईश्वर के लिये दिये हैं इस से निश्चय है तथा वेदों में अन्य भी अनेकों मन्त्र हैं जो ईश्वर को निराकार प्रतिपादन करते हैं और युक्ति से भी ईश्वर को निराकार ही कह सकते हैं क्योंकि जो पदार्थ साकार है वह एक देश में रह सकता है सर्वव्यापक कभी नहीं हो सकता ईश्वर सर्वत्रव्याप्त है फिर ईश्वर को साकार कैसे कहा जा सकता और जो पदार्थ साकार है वह उत्पत्ति वाला सादि और सान्त होगा ईश्वर अजन्मा अनादि अनन्त है अतएव ईश्वर साकार नहीं हो सकता जब साकार नहीं तो ईश्वर के चरणारविन्द कहां ? हमारे पण्डित महाशय परब्रह्म के चरणारविन्द का स्मरण कराते हैं अब विचार शील पाठक महाशयों को विचारना चाहिये कि पं० महाशयों का उक्त लेख कैसे सङ्गत होगा और उक्त महाशयों के कहने के अनुसार उन धार्मिक जनों का पातक कैसे नष्ट होगा क्योंकि किसी अंश में असत्य वचन क्यों न हो असत्य से पातकवृद्धि होगी पातकों का नाश कभी नहीं होता तद्यथा धर्मशास्त्रे—

नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्॥

सत्य से परे धर्म नहीं और झूठ से बढ़ कर पातक नहीं है॥ शेष आगे

भवदीय ज्वालादत्त शर्म्मा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग २ | आषाढ़ संवत् १९४५ | अङ्क २

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

गत अंक से आगे महामोहविद्रावण का उत्तर

तथा ब्राह्मणग्रन्थानामेव पुराणेतिहासादिनामास्ति, न ब्रह्मवैवर्त्तश्रीमद्भागवतादीनां चेति निश्चीयते । किञ्च भोः ! ब्रह्मयज्ञविधाने यत्र क्वचिद्ब्राह्मणसूत्रग्रन्थेषु यद्ब्राह्मणानीतिहासान्पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरित्यादि वचनानि दृश्यन्ते एषां मूलमथर्ववेदेऽप्यस्ति । स बृहतीं दिशमनुव्यचलत् । तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् । इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १ ॥ अथर्व० कां० १५ प्रपा० ३० अनु० १ अतो ब्राह्मणग्रन्थेभ्यो भिन्ना भागवतादयो ग्रन्था इतिहासादिसञ्ज्ञया कुतो न गृह्यन्ते । मैवं वाचि । एतैः प्रमाणैर्ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं ज्ञायते न श्रीमद्भागवतादीनामिति कुतः ब्राह्मणग्रन्थेष्वितिहासादीनामन्तर्भावात् ॥

इत्यन्तग्रन्थेन कपटकाषायो यत्प्राह, तदिदं तस्य शास्त्रानवबोधनिबन्धनविडम्बनामात्रम् । वात्स्यायनभाष्यस्य प्रामाण्यमङ्गीकुर्वाणोऽसौ कथं ब्राह्मणग्रन्थानामितिहासपुराणपदार्थतामभ्युपगच्छेत् । तत्र हि प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणा-

नां प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते । इति प्राहस्म वात्स्यायनः । यदि ब्राह्मणान्येवेतिहासः पुराणं च तदा ब्राह्मणेन ब्राह्मणप्रामाण्यव्यवस्थापनमयुक्तं स्यात् । अपिच ब्राह्मणेष्वितिहासपुराणानामन्तर्भावे "एवमिमे सर्वे वेदा निर्म्मितास्सकल्पास्सरहस्यास्सब्राह्मणास्सोपनिषत्कास्सेतिहासास्सान्वाख्यानास्सपुराणास्सस्वरास्ससंस्कारास्सनिरुक्तास्सानुशासनास्सानुमार्जनास्सवाकोवाक्यास्तेषां यज्ञमभिपद्यमानानां छिद्यते नामधेयं यज्ञ इत्येवमाचक्षते" इति गोपथब्राह्मणपूर्वभागे द्वितीयप्रपाठकस्थं ब्राह्मणं स्फुटमप्रमाणं स्यादिति तद्ब्राह्मणातिरिक्तमितिहासं पुराणं च प्रमापयति एवञ्च "पुराणमितीतिहासस्य विशेष(१)णम्" इत्यप्यस्य कथनं प्रामादिकम् तथा सति पार्थक्येन "सेतिहासास्सपुराणा" इति कथनासङ्गतेः । नहीतिहासपुराणयोरपार्थक्ये तथा कथनसम्भव इति विदुषामपरोक्षम् । किञ्च पुराणमित्येतस्येतिहासविशेषणत्वे इतिहासः पुराणमिति लिङ्गव्यत्ययोपि न स्यात् । असति विशेषानुशासने तस्याऽन्याय्यत्वात् ॥

भाषार्थः—तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है कि ब्राह्मणग्रन्थों ही को पुराणइतिहाससंज्ञा है किन्तु ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवतादि की नहीं इस में कोई ऐसा कहे कि ब्रह्मयज्ञ विषय में कहीं ब्राह्मण, सूत्र ग्रन्थों में (यद्ब्राह्मणा०) इत्यादि प्रमाण मिलते हैं जिन में पुराण इतिहास और ब्राह्मण पद साथ में आते हैं तथा इन का मूल (तमितिहासश्च०) इत्यादि स्थल अथर्ववेद में भी है इस कारण ब्राह्मणग्रन्थों से भिन्न इतिहासादि नामों से क्यों न लिये जावें सो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि इन प्रमाणों से इतिहासादि करके ब्राह्मणग्रन्थों का ही ग्रहण होता है श्रीमद्भागवतादि का नहीं क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों के अन्तर्गत इतिहासादि के लक्षण मिलते हैं ।

इस पूर्वोक्त लेख से कपटरूप संन्यासी (दयानन्द) ने जो कुछ कहा है सो शास्त्र का बोध न होने से अपनी निर्बुद्धि प्रगट की है । अब इस (दयानन्द)

(१) किञ्च शुक्लयजुर्वेदीयशतपथब्राह्मणे अश्वमेधप्रकरणे अष्टमेऽहनि इतिहासपाठः । नवमे च पुराणपाठस्तावदभिहितः सोप्यसौ न सङ्गच्छेत, यदीतिहासस्य पुराणमिति विशेषणं स्यात् एतत्तत्वं च पुराणप्रामाण्यनिरूपणावसरे वक्ष्यते ।

ने वात्स्यायनभाष्य का प्रमाण स्वीकार किया है तो ब्राह्मणग्रन्थों को इतिहासपुराण कैसे मान सकता है क्योंकि वात्स्यायनभाष्य में स्पष्ट कहा है कि प्रमाणस्वरूप ब्राह्मणभाग से इतिहासपुराण की प्रमाण स्वीकार किया जाता है। यदि ब्राह्मणग्रन्थ ही इतिहासपुराण नाम वाले हैं तो ब्राह्मण से ब्राह्मण का प्रामाण्य ठहराना अयुक्त हो जावे और भी यदि ब्राह्मणग्रन्थों के अन्तर्गत इतिहासपुराण माने जावें तो जो गोपथब्राह्मण में लिखा है कि इतिहास पुराण और ब्राह्मणभागों के सहित वेद बनाये इस से इतिहास पुराण ब्राह्मणग्रन्थों से पृथक् सिद्ध हैं यदि ब्राह्मणों के अन्तर्गत इतिहासादि हों तो गोपथ का लेख ठीक अप्रमाण हो जावेगा। इस से इतिहास पुराण पृथक् सिद्ध होते हैं और जो यह लिखा है कि पुराण शब्द इतिहास का विशेषण है यह भी ठीक नहीं क्योंकि एक तो शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि अश्वमेध में आठवें दिन इतिहास का और नवमें दिन पुराण का पाठ करे सो जो इतिहास पुराण एक ही हों तो यह भी कथन बने और गोपथ में जो इतिहासपुराण पृथक्२ पढ़े हैं सो भी विशेष्य विशेषण हों तो दोनों का पृथक्२ कहना असङ्गत होजावे और यदि इतिहासपुराण एक ही के नाम हों तो इतिहास में पुल्लिङ्ग और पुराण शब्द में नपुंसक लिङ्ग का निर्देश किया है इस से भी इतिहास पुराण एक दूसरे के विशेष्य विशेषण नहीं हो सकते ?। यह महामोहविद्रावण की भाषा है इस का प्रथम संस्कृत में उत्तर देते हैं॥

अत्रोच्यते-यदादावुक्तं महामोहविद्रावणकर्त्रा "प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते" इत्यादि न्यायभाष्यकृद्वात्स्यायनर्षिणा प्रतिपादितमिति तेन यदि ब्राह्मणान्येवेतिहासपुराणनामकानि तर्हि ब्राह्मणेन ब्राह्मणप्रामाण्यं व्यवस्थापयितुमशक्यम्। अस्मिन् विषये पूर्वहायनाङ्केषु मया निर्णयः प्रत्यपादि। तदिदानीं पुनश्चानूद्यते। तेनैव तस्याग्रहणमिति न्यायस्तत्रैव प्रवर्त्तयितुं शक्यो यत्र निरवयवत्वावच्छिन्नं द्रव्यादिकं स्वरूपेणावतिष्ठते। यत्र चावयवसमुदाययोर्भेदः स्फुटं लक्ष्यते तत्रावयवेनावयवैर्वाऽवयविनोऽवयविनाऽवयवानां वाऽवयवेनावयवस्य वा ग्रहणं भवत्येव। अतएव मनुजपाणिं पश्यन् तच्छरीरमनुमातुं शक्नोति। यदि तेनैव तस्याग्रहणमिति न्यायोऽत्रापि प्रवर्त्तेत तर्हि तदवयवभूतेन लिङ्गेन लिङ्गिनो ग्रहणं कथं स्यादिति। एवमिहापि ब्राह्मणोपनिषदितिहासपुराणाद्यवयवैः

समुदित एको निबन्धस्तत्रावयवभूतेन ब्राह्मणभागेनेतिहासपुराणस्य प्रामाण्यं शक्यते वक्तुम्। यो ह्येवं मन्येत समाने निबन्धे साध्यसाधकभावः प्रमाणप्रमेयभावश्च न सम्भवति सइदं प्रष्टव्यः-किं भवता महामोहविषार्णवरूपेण नाम्ना यदुक्तं तत्र वर्णाः पदानि वाक्यानि चेतरेतरं साध्यसाधकानि सन्त्याहोस्वित्परस्परमसम्बद्धानि? यदि साध्यसाधकभावो भवदुक्तावपि विद्यते तदा तु तथैव ब्राह्मणादिग्रन्थेष्वपि भवितुमर्हत्यविशेषात्। तेन ब्राह्मणेनेतिहासपुराणस्य प्रामाण्यं शक्यते प्रतिपादयितुम्। अथ भवदुक्तावपि साध्यसाधकभावो नास्ति तर्हि भवत्कथनस्यासम्बद्धत्वेनोपेक्ष्यत्वाद्ब्राह्मणेनेतिहासपुराणस्य प्रामाण्यं सुस्थिरमेव न तत्र कश्चिद्व्याधिः! घनापाये सवितुः स्वरूपावस्थितिरिव। व्याकरणेऽपि यत्र२ विमर्शः प्रवर्त्तते तत्र२ तन्निबन्धाबद्धसूत्रान्तरैरेव प्रामाण्यं व्यवस्थाप्यते ब्रवीति च बहुशो महाभाष्यकारः—यदयमाचार्य एवं कृते सिद्धेऽप्येवं शास्ति तज्ज्ञापयतीदमेवं भवतीति। अतः सर्वमहानुभावानुभूतएकस्मिन्साध्यसाधकभावः प्रमाणप्रमेयभावश्च प्रत्याख्यातुमशक्यः। एतेन गोपथोक्तप्रमाणमपि समाहितम्भवति। विशेष्यविशेषणभावश्चेतिहासपुराणशब्दयोस्तत्रभवता दयादिस्वामिना नैव प्रतिज्ञातः। व्युत्पत्तिपक्षे पुराणशब्दो विशेषणवाचको व्याख्यातुं शक्यः। यथा पुराणं सद्म पुराणं ब्राह्मणम्। पुराणः कम्बलः। पुराणा शाटी। अव्युत्पत्तिपक्षे पुराणशब्दोऽनियतलिङ्गो न भवति। रूढिपक्षे सर्गप्रतिसर्गरूपादिनियतवाच्यवाचकम्। तेन ब्राह्मणेतिहासपुराणानां भिन्नलिङ्गत्वेनापि निर्देशोऽव्युत्पत्तिपक्षाश्रयेण व्याख्यातव्यः। ब्राह्मणान्तर्गतत्वे च न पुराणेतिहासादीनामभिन्नलिङ्गमपेक्ष्यम्। तत्र हि स्व२विषयभेदेन भिन्नानि ब्राह्मणादीनि। अतश्चेतिहासपुराणानां ब्राह्मणान्तर्गतत्वे न कश्चिद्विरोधः॥

भावार्थः—महामोहविद्रावणकर्त्ता ने पहिले ही जो लिखा कि " प्रमाणभूत ब्राह्मणभाग से इतिहासपुराण का प्रमाण किया जाता है इस कारण ब्राह्मणों से इतिहास पुराण पृथक् हैं क्योंकि यदि ब्राह्मणभागों से इतिहास पुराण भिन्न न हों तो उसी से उस का प्रामाण्य ठहराना यह अयुक्त हो जावे " इस विषय में पहिले भाग के अङ्कों में यद्यपि समाधान लिखा गया है तथापि अनुवादरूप से कुछ लिखता हूं। उसी से उस का ग्रहण नहीं होता जैसे एक हाथ से उसी हाथ को पकड़ना चाहे वा उसी शस्त्र से उसी को काटना यह असम्भव है इसी अंश को लेकर अद्वैतवादी कहते हैं कि जिस ने सब को आत्मस्वरूप जान लिया वह किस से किस को देखे ? किस से किस को जाने ? और कौन जाने ? अर्थात् एक में ज्ञाता ज्ञेय वा उपासक उपास्यभाव नहीं बनता इसी प्रकार पुस्तक में प्रमेय प्रमाण भाव नहीं बनेगा। इस पर हमारा उत्तर यह है कि दृष्टान्त वहां घटे गा जहां वा जबतक एक में अवयव समुदाय का भेद न हो जैसे आत्मा मन आकाशादिक में कभी अवयव समुदाय का भेद नहीं होता और हाथ में जब तक अवयव समुदाय का भेद नहीं होता है तभी तक उस से उस का ग्रहण न होगा और अवयव समुदाय के भेद में अवयवों से समुदाय का ग्रहण अथवा समुदाय से अवयव का वा अवयव से अवयव का ग्रहण होता है। अवयवों से समुदाय का ग्रहण यह है कि जैसे मनुष्य के हाथ को देख कर उस के शरीर का अनुमान से ग्रहण होता है यदि उस से उस का ग्रहण न हो तो मनुष्य का अवयव देख के उस के शरीर समुदाय का ज्ञान न होना चाहिये। तथा शरीर समुदाय को देख के अदृष्ट अवयवों का भी ज्ञान हो जाता है इसी प्रकार यहां भी ब्राह्मण उपनिषत् इतिहास पुराणादि अवयवों से युक्त एक पुस्तक समुदाय है उस में ब्राह्मणभागरूप अवयव से इतिहास पुराण का प्रामाण्य प्रतिपादन कर सकते हैं। जो कोई ऐसा माने कि एक पुस्तक में साध्यसाधकभाव वा प्रमाण प्रमेयभाव नहीं बनता उस को यह पूछना चाहिये कि आपने जो महामोहविद्रावण नामक पुस्तक बनाया उस में वर्ण पद और वाक्य परस्पर सहायकारी हैं वा एक दूसरे से विरुद्ध हैं यदि आप के कथन में भी साध्यसाधकभाव है तब तो वैसा ही ब्राह्मणादि ग्रन्थों में भी हो सकता है जो अपने लिये मानता है और अन्य के लिये उसी का खण्डन करता है उस का पक्ष स्वतएव खण्डित है। तो ब्राह्मणभाग से इतिहास पुराण का प्रामाण्य कहना विरुद्ध नहीं। और यदि आप के कथन में भी साध्यसाधकभाव नहीं है तो आप का कथन असम्बद्ध होने के कारण उपेक्ष्य होने से ब्राह्मण से इतिहास पुराण का प्रामाण्य स्थिर ही है। अर्थात् उस में कोई बाधा नहीं हो सकती। जैसे बद्दल के हट जाने से सूर्य्य अपने स्वरूप से अवस्थित रह जाता है ऐसे ही जब तुम्हारा कथन स्वतः खण्डित हो गया तो खण्डनीय विषय ज्यों का त्यों ही रह गया। व्याकरण में भी

जहां २ विचार वा संशय उठता है वहां २ उसी व्याकरण के अन्य सूत्रों से व्यवस्था की जाती है महाभाष्यकार ने अनेक स्थलों में कहा भी है कि इस प्रकार सिद्ध होने पर भी जो आचार्य ऐसा कहते हैं तिस से जाना जाता है कि यह काम ऐसा ही होता है। इस कारण सब महानुभावों के अनुभव से एक में साध्यसाधकभाव वा प्रमाणप्रमेयभाव सिद्ध ही है। इस से गोपथ के प्रमाण मे जो दोष दिया है उस का भी समाधान हो गया। इतिहास पुराण का विशेष्य विशेषणभाव श्रीस्वामी जी ने अपने पुस्तक में कहा भी नहीं फिर उस का खण्डन करना क्यों ठीक हो सकता है किन्तु कहीं २ ब्राह्मण शब्द के साथ पुराण को विशेष्य किया है सो व्युत्पत्ति पक्ष में पुराण शब्द विशेषण वाचक हो सकता है जहां यह अर्थ है कि पहिले बनते समय जो नवीन हो वह पुराना कम्बल इत्यादि। और जहां रूढि अर्थ लिया जावेगा वहां सृष्टि प्रलय आदि विषय की व्याख्या का नाम पुराण होगा इस पक्ष के लेने से जो दोष दिये हैं उन की निवृत्ति हो गयी। और ब्राह्मणभागों के अन्तर्गत इतिहास पुराण के होने से किसी प्रकार का विरोध भी नहीं आता। इस लिये स्वामी जी का लिखना निर्दोष तथा शास्त्रमर्यादा के अनुकूल है॥ क्रमशः।

चौ० गोविन्दसिंह के प्रश्न गताङ्क से आगे॥

(४)—सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ २६ में मंगलाचरण का खण्डन करके और प्रमाण में साङ्ख्यशास्त्र का सूत्र " मंगलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छ्रुतितश्चेति " दिया है सो ठीक है—परन्तु स्वामी जी महाराज ने " ओ३म् " और " अथ " शब्द के अतिरिक्त सत्यार्थप्रकाश आदि पुस्तकों में शान्तिपाठ ग्रन्थ के आदि और अन्त में क्यों किया क्या औरों के लिये तो बुरा और अपने वास्ते अच्छा यदि आप ऐसा कहैं कि "श्रीगणेशाय नमः" इत्यादि का मंगलाचरण करने का खण्डन किया था तो हम कह सकते हैं कि " गणपति " ईश्वर का नाम होना सत्यार्थप्रकाश अपने पृष्ठ २२ में हम को अच्छी तरह विदित करता है तो भला कोई महाशय हस्ती के मुख वाली मूरती को गणपति न मान स्वामी जी के अनुकूल "श्रीगणेशाय नमः" लिखें तो क्या बुराई है ऐसे ही महादेव विष्णु सरस्वात, इत्यादि समझ लीजिये—१९४४ विक्रमीय वैशाख कृष्णा ५ दयानन्दीय सवत् ५

ह० चौहान गोविन्दसिंह

गणेशघाटी उदयपुर—

(उत्तर)—श्रीस्वामी जी महाराज ने सत्यार्थप्रकाश में जो मङ्गलाचरण का खण्डन किया है उस का अभिप्राय यह नहीं है कि वेद और वेदानुकूल शास्त्रों से जो मङ्गलाचरण करना चाहिये उस का करना भी ठीक नहीं श्रीजैमिनि मुनि ने " ओमभ्यादाने " इस सूत्र से सामान्य कार्यारम्भ में ओम् शब्द को प्लुत

करने के लिये लिखा है। अर्थात् सब उत्तम कामों में ओ३म् यह ईश्वर का नाम ले लेवे तब कार्य्य का आरम्भ करे महाभाष्य में भी लिखा है कि "शमित्येवादी-ञ्छब्दान् पठन्ति" ग्रन्थ पठनपाठन वा उपदेशादि वाणी के व्यवहार में प्रथम "शन्नो मित्रः" इत्यादि शब्द पढ़ते हैं। तथा प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में प्रायः ओ३म् वा अथ शब्द आरम्भ में पढ़ा है इसी के अनुसार स्वामी जी महाराज ने भी मङ्गलाचरण किया और माना है। किन्तु आधुनिक लोग मतवाद के कारण जैसे मङ्गलाचरण पढ़ते और मानते हैं उस का अवश्य खण्डन किया है क्योंकि ऐसा मङ्गलाचरण न तो शिष्ट लोगों ने किया और न ऐसी आज्ञा दी कि "श्रीगणेशाय नमः, श्रीसरस्वत्यै नमः, श्रीभैरवाय नमः" आदि वाक्यों का मङ्गलाचरण शास्त्र के आरम्भ में करना चाहिये। तो ऐसा मङ्गलाचरण वेद और शिष्टाचार के अनुकूल नहीं हो सकता। यद्यपि यह कह सकते हैं कि गणपति वा गणेश आदि नाम मुख्य कर ईश्वर के हैं जैसा कि स्वामी जी ने भी सत्यार्थप्रकाश में लिखा है उसी अभिप्राय से कोई पुरुष ग्रन्थादि के आरम्भ में "श्रीगणेशाय नमः" आदि वाक्यों से मङ्गलाचरण करे तो दोष नहीं तथापि एक विचार तो यह है कि जैसे "मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात्०" इस साङ्ख्याचार्य के अनुकूल न होगा क्योंकि शिष्ट महर्षिजनों ने ऐसे वाक्यों से अपने ग्रन्थों में मङ्गलाचरण नहीं किया और शिष्टाचार के अनुसार वही मङ्गलाचरण होगा जैसा उन्हों ने किया हो वा जिस प्रकार करने की आज्ञा दी हो। सो "श्रीगणेश" लिखने की कहीं आज्ञा भी नहीं दी किन्तु "शन्नो मित्रः०" आदि के लिये तो पतञ्जलि ऋषि की आज्ञा है। द्वितीय मुख्य अभिप्राय यह है कि जब कोई शब्द शास्त्रानुसार किसी मुख्य अर्थ का वाचक हो और उस अर्थ को छोड़ कर कोई अपने बनावटी पदार्थ का नाम रख लेवे तो शिष्ट लोग उस शास्त्रीय पद से व्यवहार करने में सङ्कोच करते हैं। विष्णु शब्द वेद और शास्त्रों के अनुसार ईश्वर का नाम है और विष्णु नाम व्यापक पालक ईश्वर के उपासक वा भक्त सभी वैष्णव हो सकते हैं और शिवनाम कल्याणकारी मङ्गलस्वरूप परमेश्वर के भक्त सभी शैव हो सकते हैं परन्तु आज कल वैष्णवों का एक समुदाय भिन्न ही बन रहा है जो शैवादि से अपने को भिन्न ही समझता है और शैवादि समुदायान्तर्गत जन वैष्णव को अपने से पृथक् समझते हैं। अब यदि विष्णु शब्द के शास्त्रीय अर्थ को लेकर वैष्णवादि निर्मित सम्प्रदाय का आग्रह न रखने वाला पुरुष अपने को वैष्णव कहना चाहे तो सर्वसाधारण यही समझेंगे कि यह भी वैष्णव सम्प्रदायी है। तथा वैदिक निघण्टु में जिन शब्द

ईश्वर का पर्यायवाचक है। हम लोग जो वेद को ही अपना परमसिद्धान्त मानते हैं वे भी ईश्वर शब्द से तो व्यवहार करते हैं। और आधुनिक वेदान्ति कार्योपाधिदशा में ईश्वरपद वाच्य को मानते हैं। परन्तु ईश्वर के पर्य्यायवाचक जिन शब्द से हम लोग व्यवहार नहीं कर सकते वैसे तो जिन नाम ईश्वर के उपासक होने से हम लोग भी जैन कहे जा सकते हैं। पर अब तो वेदबाह्य मत विशेष जैन समझा जाता है। यदि कोई सत्पुरुष ईश्वर का पर्य्यायवाची जिन शब्द को मान के अपने को जिनोपासक कहे तो उस को सभी लोग जैनमतावलम्बी समझेंगे। ऐसे ही प्रभु-शब्द हमारे ही वेद शास्त्रों का है परमेश्वर सब के ऊपर बलवान् है इस अर्थ को लेकर प्रार्थना करे कि हे प्रभु हम तेरे किङ्कर सेवक हैं तू हम पर दया कर ऐसा कहने वाले को प्रायः लोग ईसाई समझेंगे। तथा पण्डित शब्द महत् गुण विशिष्ट अर्थ का वाचक शास्त्र की रीति से है आज कल इस की कोई व्यवस्था नहीं रही। प्रायः अङ्गरेजी पढ़े लोग पण्डित नाम से मूर्ख का अर्थ समझते हैं इस लिये अन्य वर्णस्थ लोग जब किसी ब्राह्मण को रसोइया रखते हैं तब उस को पण्डित कह कर बुलाते हैं इस से उन का अभिप्राय यह है कि पण्डित नाम भृत्य (ताबेदार) का है। इसी लिये जो सज्जन पण्डितों के से गुण धारण करते हैं वे पण्डित कहाने से सङ्कोच करते हैं। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लीजिये कि जिस२ शब्दार्थ वा कोई विषय का वर्त्ताव शास्त्रीय रीति से ठीक भी है पर जब किसी प्रकार शास्त्रीय अभिप्राय से भिन्न निन्दित वा एकदेशीय वा वर्त्ताव नीच लोगों के व्यवहार में चला जाता है तो सज्जन लोग अपनी अप्रतिष्ठा समझ के वैसा व्यवहार नहीं करते। इसी के अनुसार शास्त्रों और लोक में भी व्यवहार चल रहा है। यदि व्याकरण में वृद्धि शब्द बोला जावे तो निःसन्देह "वृद्धिरादैच्" पर दृष्टि पड़ेगी। लोक में वृद्धि शब्द से बढ़ना अर्थ समझा जावेगा। गुण शब्द साङ्ख्य शास्त्र के प्रसङ्ग में आवेगा तो सत्त्वादि तीन गुण का बोध होगा। वैशेषिक शास्त्र के प्रसङ्ग में गुण करके २४ गुण समझे जावेंगे। व्याकरण में "अदेङ्गुण" ज्योतिष् में सङ्ख्या को फैलाना और लोक में गुणवान् विद्वान् समझा जाता है। परन्तु यह लोक और सब शास्त्रों का नियम है कि शब्दों के एक तो कृत्रिम अर्थ होते हैं और एक जो शब्द का अर्थ व्याकरण के अनुसार होना चाहिये। जैसे किसी ग्राम में किसी मनुष्य का कृत्रिम नाम गोपालक रख दिया गया और वह गौयें नहीं पालता है और एक मनुष्य उसी ग्राम में गौओं का पालन करता है उस का अकृत्रिम गोपालक नाम अर्थानुसार होना चाहिये। जब किसी ने कहा कि गोपालक को बुला लावो तो यहां वही पुरुष बुलाया जाता है जिस का व्यर्थ नाम गोपाल रख

लिया गया है । यही सब शास्त्रों की भी परिपाटी है इसी को जताने के लिये व्याकरण में यह परिभाषा पढ़ी है कि "कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्य्यसम्प्रत्ययः" कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों नाम वाले हों तो कृत्रिम की प्रतीति होती है अकृत्रिम की नहीं अर्थात् जैसे गोपालक जिस का नाम बनावटी है वही गोपाल शब्द से समझा जाता है किन्तु जो गौओं का पालन करता है उस सार्थक गोपालक का बोध नहीं होता । इस सब लेख का उपसंहार में अभिप्राय यह निकला कि गणेश आदि नाम मुख्य कर सार्थक परमेश्वर में हैं और आधुनिक मत वाले लोगों ने सृष्टि क्रम से विरुद्ध हाथी की सूड़ वाले आदि व्यक्तिविशेषों का नाम गणेश आदि बनावटी रख लिया है तो अब गणेश आदि शब्दों को मङ्गलाचरण आदि में उपयुक्त करने से सर्वसाधारण में उन्हीं मतवादियों के कल्पित गणेशादि समझे जावेंगे । सो इसी अभिप्राय से कि सब चराचर के स्वामी गणेश का बोध हो कोई प्रयोग करे और अभिप्राय भी जो चाहे सो निकले पर प्रयोजन वा प्रमाण भी तो होना चाहिये । सो प्रयोजन तो इस लिये नहीं कि जब मङ्गलाचरण के लिये शिष्टाचार के अनुकूल वैदिक मन्त्रों से मङ्गलाचरण सिद्ध है तो क्या प्रयोजन है ? । और किसी शिष्ट की आज्ञा भी नहीं कि गणेश आदि नामों से मङ्गलाचरण करो । इन्हीं विचारों से इन मङ्गलाचरणों का खण्डन स्वामी जी ने किया है और इन शब्दों से मङ्गलाचरण उपरोक्त दोषों के अनुसार नहीं करना चाहिये किन्तु वेद मन्त्रों का मङ्गलाचरण आरम्भ में करना चाहिये । इत्यलमतिमतिषु

ओ३म्

आर्यसमाज के नियमों पर मु० इन्द्रमणि के किये आक्षेपों का समाधान

विदित हो कि मुं० इन्द्रमणि जी मुरादाबाद निवासी ने आर्यसमाज के नियमों पर जो आक्षेप किये हैं वह आग्रह से खाली नहीं हैं मुन्शी जी के आग्रह का कारण जो है वह सज्जनों को विदित ही है इस लिये उस की यहां पर व्याख्या करना अनावश्यक है मुन्शी जी लिखते हैं कि "आर्यों को चाहिये कि वे पक्षपात छोड़ कर विचार करें कि जैसे वे मनुष्य हैं ऐसे ही स्वामी दयानन्दसरस्वती जी भी मनुष्य थे जब तक कि उन की उक्ति प्रमाण सहित न होगी क्योंकर मान्य हो सकती है"—इस पर मेरा यह निवेदन है कि वास्तव में स्वामी जी मनुष्य थे आर्य लोग कुछ उन को पौराणिकों की तरह अवतार नहीं मानते और न उन के वाक्य को ईश्वरवाक्य ही समझते हैं और वह स्वयं भी अपने को ऐसा ही मानते थे इसी लिये वह प्रामाण्याऽप्रामाण्य विषय में युक्ति और प्रमाण पूर्वक परीक्षा की अपेक्षा रख गये हैं यहां तक कि युक्ति और प्रमाण के विरुद्ध

श्रुति का अर्थ भी उन को मान्य न था विचार ने का स्थान है कि जिस ने इस भारतरूपी गृह में युक्ति और प्रमाण के द्वार को जो (चिर काल से अवरुद्ध था) अपनी विद्यारूपी कुञ्जी से खोल दिया वही युक्ति और प्रमाण के विरुद्ध कहे यह कभी युक्त हो सकता है क्या सूर्य से कोई अन्धकार की भी आशा कर सकता है ?–यदि स्वामी जी का कथन युक्ति और प्रमाण के विरुद्ध ही होता तो क्या आज लाखों मनुष्य जिन में बहुधा विद्वान् भी हैं क्या शोच समझ कर उन के सिद्धान्तों के अनुयायी हो गये ? दूर क्यों जावें मुन्शी जी ही बतलावें कि पहले आप भी क्या समझ कर उन के मन्तव्यों से सहमत हो गये थे जो कहें कि नहीं हम तो–पहले से ही विरुद्ध हैं तो मैं पूछता हूं कि पहिले क्या आप सुषुप्त्यवस्था में थे जो आपने उन के अयौक्तिक सिद्धान्तों की समीक्षा नहीं की यदि इस पर मुन्शी जी यह कहें कि पहले हम स्वामी जी के स्नेह पाश में आवद्ध थे इस लिये उन के दोषों को छिपते रहे तो यह बात नीति के सरासर विरुद्ध है क्योंकि नीति में तो कहा है कि–

शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि

अर्थात् गुण शत्रु के भी नहीं छिपाने चाहिये और दोष गुरु के भी कह देने चाहिये, और यदि मुन्शी जी कहें कि उस दशा में हम अयौक्तिक बातों की समीक्षा और प्रमाण की परीक्षा से अनभिज्ञ थे अब पूर्वोक्त विषयों में विज्ञता प्राप्त करली है इस लिये खण्डन करते हैं तो मैं पूछता हूं कि इस स्वल्प अवधि में आप कहां से विज्ञता की गठरी बांध लाये या इस बीच कोई (दैवदूत) फरिश्तह आकर आप के कान में कोई मन्त्र फूंक गया जिस से कि आप विज्ञ बनगये बड़े आश्चर्य का स्थान है कि जब तक स्वामी जी से आप की प्रीति रही तब तक तो आप अज्ञ रहे और अब विरोध के होते ही आप सुविज्ञ बन गये हम तो सुना करते थे कि क्रोध से मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है परन्तु आप की विरुद्ध इस के विशाल हो गई क्यों न हो आप की महिमा ही विपरीत है (अस्त्विदानीमप्रकृतमनुसरामः,) प्रथम मुन्शी जी आर्यसमाज के १० दशों नियमों को लिख कर प्रतिज्ञा करते हैं कि "अब हम सरसरी तौर पर अर्थात् विशेष ध्यान न देकर इन दशों नियमों पर दृष्टि देते हैं" वास्तव में मुन्शी जी के विशेष ध्यान न देने का ही यह फल है कि जो इन सर्वतः शुद्ध निर्दोष नियमों पर आक्षेप कर बैठे सच है विना शोच विचार कर जो काम किया जाता है वह परिणाम में हास्यास्पद हो जाता है इसी लिये नीति में कहा है कि–

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदाम्पदम् ।
वृणते हि विमृश्य कारिणङ्गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥

यदि मुन्शी जी पहिले ही पूर्वापर विचार कर लेते तो कदापि उन को आक्षेप करने का साहस न होता अस्तु यह मुन्शी जी की दूरदर्शिता है अब पहले नियम पर जो मुन्शी जी ने आक्षेप किया है उस का यथामति समाधान करता हूं और न्याय उस का पाठकों के ऊपर धरता हूं पहला नियम समाज का यह है कि "सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है" इस नियम को मुन्शी जी वैदिक आर्यों के विरुद्ध बतला कर यह आक्षेप करते हैं "जब कि विद्या से जाने गये पदार्थों का मूलकारण परमेश्वर है तो जीव और प्रकृत्यादि पदार्थ अनादि और नित्य न रहे किन्तु अन्य संयुक्त पदार्थों की भांति अनित्य और सादि ठहरे परन्तु यह किसी आर्य का मत नहीं है और स्वयं स्वामी जी ने भी जीव और प्रकृति को वेद भूमिकादि पुस्तकों में नित्य माना है अतिरिक्त इस के जब कि परमात्मा समस्त पदार्थों का आदि मूल है तो उन संयुक्त पदार्थों और परमेश्वर में भेद इतना ही है जितना कि वृक्ष की जड़ और शाखा में अतएव इस नियम के अनुसार जीव और प्रकृति का परमेश्वर उपादान कारण है जोकि एकदशा से दूसरी दशा में जाता रहता है क्योंकि मूल ही अवस्थान्तर को प्राप्त हो शाखादिरूप में परिणत होता रहता है॥

उत्तर—उक्त नियम वैदिक आर्यों के तो विरुद्ध नहीं किन्तु अवैदिक नास्तिकों के तो अवश्य विरुद्ध है क्योंकि वह लोग इस जगत् को अमूलक ही मानते हैं परन्तु मुन्शी जी को क्या होगया जो आस्तिक होकर नास्तिकों का आश्रय लेने लगे सच है लोभ जो न करावे सो थोड़ा है अब हम मुन्शी जी से पूछते हैं कि आपने मूल शब्द से जो उपादानकारण का ग्रहण किया है इस में प्रमाण कुछ नहीं दिया क्या मूल शब्द निमित्तकारण का वाचक नहीं है ? यदि नहीं है तो आप ने महर्षि कपिल को क्यों नहीं समझाया कि उन्हों ने अपने सांख्यदर्शन में निमित्तकारण को मूलपदवाच्य कहा है यथा " मूले मूलाभावादमूलम्मूलम् " अर्थात् मूल में मूल का अभाव होने से अमूल ही सब का मूल है, यदि इस पर आप यह कहें कि उक्त सूत्र में कपिल मुनि ने भी मूल शब्द से उपादानकारण का ही ग्रहण किया है निमित्त का नहीं तो ईश्वर अनादि और नित्य न ठहरेगा क्योंकि जब उस का कारण हुआ तो वह कार्य होने से सादि और अनित्य हो जायगा किन्तु एक प्रकृति ही अनादि और नित्य रहेगी जैसा कि नास्तिक मानते हैं इसलिये न तो महर्षि कपिल का ही ऐसा मत हो सकता है और न मुंशी जी ही इस को स्वीकार कर सकते हैं क्योंकि मुन्शी जी भी ईश्वर को अनादि और नित्य मानते हैं अब जरा मुन्शी जी की बुद्धि की सूक्ष्मता को तो देखिये कि निमित्त कारण के विधान से उपादान और साधारणादि कारण का निषेध सम-

कते हैं भला क्योंकर ईश्वर को जगत् का मूल, निमित्त कहने से प्रकृति और जीव के अनादित्व व नित्यत्व में कोई बाधा आसकती है क्या कुलाल को घट का मूल कहने से मृत्तिका भी कहीं कुलालनिर्मित हो सकती है क्या इस पुस्तक आर्यतत्त्वप्रकाश का मुन्शी जी को मूल अर्थात् निमित्त कहने से पत्र व स्याही आदि भी मुन्शी जी के ही बनाये होगये कालत्रय में भी मुन्शी जी इस को सिद्ध न कर सकेंगे दूसरे बढ़ना या घटना या अवस्थान्तर को प्राप्त होना उपादानकारण का धर्म है न कि निमित्तकारण का जब कि ईश्वर जगत् का उपादानकारण नहीं । जैसा कि उपनिषद् में कहा है (न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते) इत्यादि तो क्योंकर पूर्वोक्त आपत्ति उस में आसकती है मुन्शी जी को उचित है कि प्रथम कार्य्य कारण के भेद को जानें तत्पश्चात् इस विषय में हस्तक्षेप करें— प्रियपाठक अब दूसरे नियम पर जो मुन्शी जी ने व्यर्थ प्रलाप किया है उस को भी अवलोकन कीजिये वह दूसरा नियम यह है कि—“ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप निराकार अनुपम सर्वाधार सर्वेश्वर सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी अजर अमर अभय नित्य पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है उसी की उपासना करनी योग्य है” ? इस पर मुन्शी जी लिखते हैं कि “पहले नियम में और इस में कुछ भेद नहीं है दोनों का अभिप्राय एक है क्योंकि परमेश्वर गुणी है और सच्चिदानन्दादि उस के गुण हैं गुण और गुणी का वियोग कभी हो नहीं सकता पुनः उन को दो समझना दयानन्दसरस्वती की विद्या और बुद्धि का फल है शायद कि स्वामी जी यही समझे हुये हैं कि परमेश्वर और उस के गुणों में कभी २ वियोग भी हो जाता है परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि परमेश्वर और उस के गुण दोनों अनादि और अनन्त हैं और उन दोनों में जो गुण गुणीभाव सम्बन्ध है वह भी अनादि और अनन्त है” उत्तर, इस लेख से मुन्शी जी की पदार्थविद्या (फिलासफहदानी) का परिचय मिलता है कि उन्हों ने वैशेषिक दर्शन का दर्शन भी नहीं किया नहीं तो ऐसा कभी न लिखते कि गुण और गुणी में कुछ भेद नहीं वाहरी बुद्धि इसी के भरोसे पर कि जिस को द्रव्य और गुण का भी यथावत् बोध नहीं, आप सर्वतन्त्रसिद्धान्तों पर कि जो आर्यसमाज के नियम हैं, आक्षेप करने को उद्यत हुवे पाठक ! अब हम द्रव्य और गुण का भेद दिखलाते हैं महर्षि कणाद ने अपने वैशेषिक दर्शन में इन दोनों के लक्षणों को भिन्न २ प्रतिपादन किया है प्रथम द्रव्य का लक्षण—

क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् । वैशे० अ० १ सू० १५

क्रियाश्च गुणाश्च विद्यन्तेऽस्मिन्निति क्रियागुणवत्, क्रिया और गुण ये दोनों जिस में रहें अर्थात् क्रिया वा गुण से जो पहिचाना जावे और मिलने के स्वभाव

से युक्त कार्य बनने के पूर्व विद्यमान हो उस को द्रव्य कहते हैं और वही गुणी संज्ञक भी है क्योंकि जिस में गुण रहें वह गुणी कहाता है सो द्रव्य में सदा गुण रहते ही हैं द्रव्य का लक्षण कह कर अब गुण का लक्षण कहते हैं तद्यथा ।

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम् वै० । अ० १ आ० १ सू० १६

द्रव्यमाश्रयितुं शीलमस्येति द्रव्याश्रयी, अर्थात् जो सदा द्रव्य के आश्रय रहे और कोई गुण न रखता हो और संयोग वियोग में कारण न हो अनपेक्ष अर्थात् अपेक्षा रहित हो वह गुण कहाता है पाठको ! अब जरा इन के भेद पर दृष्टि दीजिये कि प्रथम द्रव्य के लक्षण में तो कहा था कि जो गुण रखता हो और गुण के लक्षण में कहा कि जो गुण शून्य हो क्योंकि जब वह स्वयं ही गुण है तो फिर उस का गुण क्या होगा भला कहीं ज्ञान का ज्ञान शब्द का शब्द और रूप का रूप भी हो सकता है? कभी नहीं गुण सदा गुण ही रहता है गुणी कदापि नहीं हो सकता और गुणी सदा गुणी ही रहता है गुण कभी नहीं हो सकता जिस पदार्थ में कि कोई गुण रहता है उस पदार्थ को गुण कोई नहीं कह सकता किन्तु वह गुणी कहाता है और जो उस में रहता है वह गुणी नहीं हो सकता किन्तु गुण कहाता है जैसे कि पृथिवी में गन्धगुण रहता है इसलिये पृथिवी गुणी और गन्ध उस का गुण है परन्तु पृथिवी और गन्ध एक पदार्थ नहीं किन्तु पृथक् २ हैं इसी प्रकार ईश्वर गुणी और तद्भिन्न सच्चिदानन्दादि उस के गुण हैं—यह हम भी मानते हैं कि गुण और गुणी का परस्पर समवाय सम्बन्ध होता है जो कि उन को एक दूसरे से कभी पृथक् नहीं होने देता परन्तु इस समवाय सम्बन्ध के होने से गुण और गुणी एक नहीं हो जाते देखो शब्द आकाश का गुण है और सदा आकाश में रहता भी है परन्तु शब्द को आकाश कोई नहीं कहता और यह सब जानते हैं कि ज्ञान सदा ज्ञानी में रहता है परन्तु ज्ञान कभी ज्ञानी नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञानी चेतन और ज्ञान जड़ है जड़ और चेतन कभी एक नहीं हो सकते यह मुन्शी जी की ही अपूर्वविद्या और बुद्धि का फल है कि जो जड़ और चेतन में भी भेद नहीं करते ॥

शायद कि मुन्शी जी यही समझे हुवे हैं कि जड़ और चेतन एक ही पदार्थ हैं परन्तु यह मुन्शी जी का भ्रममात्र है मुन्शी जी को उचित है कि शास्त्रों में अभ्यास करें तब उन को इन का भेद मालूम होगा दूसरे इसी नियम में जो सर्वान्तर्यामी शब्द आया है उस पर भी मुन्शी जी अपनी जीर्णबुद्धि का परिचय दिखाने को यह आक्षेप करते हैं कि "जब स्वामी जी परमात्मा को सर्वान्तर्यामी मानते हैं तो जीवान्तर्यामी भी अवश्य होगा क्योंकि जीव भी सर्व पदार्थों से बाहर नहीं है जब ऐसा है तो जीव परतन्त्र ठहरा इस लिये स्वामी जी जो जीव

को स्वतन्त्र मानते हैं वह उन्हीं के दूसरे नियम के विरुद्ध है" (उत्तर) इस आक्षेप से मुन्शी जी की रही सही विद्वत्ता भी खोल दी कि उन को स्वतन्त्र और परतन्त्र का ज्ञान भी यथावत् नहीं विदित हो कि स्वतन्त्र उस को कहते हैं कि जो सब साधनों से युक्त स्वयमेव कर्त्ता हो अर्थात् पूर्णरूप से कर्म करने का अधिकार रखता हो अब देखना चाहिये कि कर्म का और जीव का क्या सम्बन्ध है जब कि जीव अनादि है तो अवश्यमेव कर्म भी अनादि ठहरे क्योंकि बिना कर्म के जीव रह नहीं सकते इसलिये जीव का और कर्म का अनादि काल से सम्बन्ध चला आता है परन्तु इन में जीव चेतन और कर्म जड़ हैं और यह नियम है कि चेतन ही का अधिकार जड़ पर सर्वत्र होता है न कि जड़ का चेतन पर इसलिये अनादि काल से जीव का अधिकार कर्मों पर है जब कि अधिकार हुआ तो फिर वह स्वतन्त्र क्यों नहीं मुन्शी जी जो ईश्वर के सर्वान्तर्यामी होने से जीव की स्वतन्त्रता में बाधा डालते हैं वह उन की भूल है क्योंकि अन्तर्यामी का यह धर्म नहीं कि जो अन्तर्याम्य के कर्मों में लिप्त या उस के कर्मों का साथी हो किन्तु साक्षी मात्र रहकर कर्मानुसार उस को फल पहुंचाना अन्तर्यामी का धर्म है सो जीव अपनी स्वतन्त्रता से कर्मकर्त्ता है और परमात्मा अपनी सर्वज्ञता से उस को फल पहुंचाता है अतिरिक्त इस के अन्तर्याम्य के लिये कर्तव्य कर्मों का विधान और उन के करने के लिये साधनों का प्रदान कर देना भी अन्तर्यामी का काम है सो उस विज्ञानस्वरूप ने प्रथम ही वेदविद्या का उपदेश कर कर्तव्यकर्मों का विधान और शरीरादि साधन देकर करने का सामान जीवों के लिये उपस्थित कर दिया है परन्तु कर्म करने की शक्ति जीव में अनादि है जिस से कि वह स्वतन्त्र कहाता है अब उस शक्ति के द्वारा उस को अधिकार है कि चाहे वह उस की आज्ञा के अनुकूल व्यवहार करै चाहे प्रतिकूल जैसा करेगा वैसा भरेगा ईश्वर तो अपनी अन्तर्यामिता से उस के कर्मों की न्यायानुसार व्यवस्था करता रहेगा जो कि उस का धर्म है ॥

अतिरिक्त इस के जीव को अपकर्मों के करने में भय शङ्का और लज्जा का उत्पन्न होना और सुकर्मानुष्ठान में आनन्द प्रीति और उत्साह का होना भी ईश्वर की अन्तर्यामिता का फल है परन्तु स्वतन्त्र होने से जीव को सर्वदा यह अधिकार प्राप्त है कि निषेध होने पर भी दुष्कर्मों को ग्रहण और विधान होने पर भी सुकर्मों को त्याग कर बैठे इस से न तो ईश्वर की सर्वज्ञता ही में कोई दोष आसकता है और न जीव की स्वतन्त्रता ही में कोई बाधा आसकती है इस को न समझ कर उलटा आक्षेप करना मुन्शी जी की लोभग्रस्त विपरीत बुद्धि का फल है ॥

क्रमशः—बद्रीदत्त शर्मा—उपदेशक आर्यसमाज—मुरादाबाद

आर्यसमाजीयरहस्य का उत्तर

भाग दो अङ्क एक पृष्ठ ८ से आगे

श्री गोस्वामी जी अपने लेख द्वारा प्रकट करते हैं कि "प०—य०—पृ०—९ पं०—३ का यह अभिप्राय है कि ईश्वर की प्रार्थना से सब इन्द्रिय बलवान् होवें प्रथम यहां ईश्वर की प्रार्थना ही कौन है ? द्वितीय प्रार्थना वा अभिप्राय सत्य है वा मिथ्या । सत्य है तो इस तरह आंख, कान, नाक, टटोलने वालों में कोई अन्धा बहिरा न होता और मिथ्या है तो करने से क्या प्रयोजन ?" इस का उत्तर—यद्यपि इस विषय को हम आ० सि० के गत प्रथम भागसम्बन्धी १२ अङ्क में ही सप्रमाण और युक्ति से भी सिद्ध करके (अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार) दिखला चुके हैं तथापि प्रियपाठक जनों के विनोदार्थ कुछ और भी लिखते हैं—यह हम लोगों का मुख्य कर्तव्य कर्म्म है कि जितने कार्य हम किया चाहैं वे सब वेद शास्त्रों के अनुसार ही होवें । और जिस किसी को भ्रम हो वा हम लोगों का भ्रम जो कोई अपनी उक्त शास्त्रानुगामिनी (शास्त्र, वेद में प्रवीण) बुद्धि से समझे वह हम से समझ ले वा हमें सभ्यतापूर्वक लेख आदि वा प्रत्यक्षतः कृपाकर समझा दे । यहां पर हम श्रीमान् गोस्वामी जी को अनेकशः धन्यवाद देते हैं कि जिन के रचित पुस्तकों के द्वारा इस का विचार करने में तो प्रवृत्त हुए परन्तु यह भी आशा है कि उक्त महाराज अपने प्रश्नों का उत्तर पाकर अपना भ्रम हो, वा हम लोगों ही का भ्रम हो, उसे अपने करकमलाङ्कित पत्रद्वारा अपने समीपवर्त्ति मथुरासमाजस्थ श्रीमान् मन्त्रिवर महाशय को विदित करके अवश्य ही आप मुझ को सूचित करेंगे । तथा यदि कोई पुस्तक (जो इस के खण्डन वा उत्तर विषय में) रचेंगे तो अवश्य उस के लाभ से भी हम को कृतकृत्य करेंगे । क्योंकि "नहि गोप्यं हि साधूनां वर्त्तते विदितात्मनाम्" इस वचन का स्मरण अवश्य रक्खेंहीगे—अब इस प्रस्ताव को समाप्त करके उत्तर विषयक प्रसङ्ग छेड़ा जाता है ॥

पूर्वमदीयकथनानुसारन्तावद्भवतेदमवश्यमेव पृच्छ्यते "ओं-वाक् वाक्" इत्यादि वाक्ये वैदिकङ्किम्प्रमाणमिति तत्तावदाकर्ण्य-ताम् यजुर्वेदे-३६ अध्याये २४ मन्त्रे तच्चक्षुर्देवहितम् पुरस्ताच्छु-क्रमुच्चरत्" इत्यादि रूपे हि पश्येमेत्यनेन नेत्रदार्ढ्यं ज्ञाप्यते शृ-णुयामेत्यनेन च श्रोत्रदार्ढ्यम्—एवं वागादीनामपि प्रब्रवामेत्यनेन वो-बोधनीयम् । जीवेमेत्यनेन च प्राणदार्ढ्यम् तदाश्रयेणैव जी-वस्थितेस्सर्वत्रनिर्णीतत्वाद्युक्तिसिद्धत्वाच्च नाभ्यामपि प्राणवायु-निस्सरणमुख्यस्थानस्यानेनैव (जीवेम) शब्देन गृहीतत्वाच्च यथाह

सुश्रुतः शारीरस्थानेऽध्याये तृतीये गर्भावक्रान्तिशारीरसंज्ञे नाभि-रिति पाराशर्य्यस्ततो हि वर्द्धते देहो देहिनः । अदीनाः स्यामे-त्यनेन च हृदयशिरश्शिखावाहुसङ्गृहीतम्भवति । अदीनतारूपे पक्षे हेतुभूतत्वादेषाम् संज्ञायते ह्येतत्सर्वैर्यद्धृदयस्य दार्ढ्ये दीनता नेति - दीनता यतो याञ्चयैव भवति यदा कोपि हृदि दार्ढ्यङ्कुर्यात्प्राणा-निष्क्रामन्तु नैव याचे इति न स लोके दीनो निगद्यते- शिरसो-दार्ढ्ये न हि दीनतेति एवंहि दृश्यते यः कोपि युयुत्सतः समी-पमायाति स शिरोवेष्टनादिना द्रढयित्वैव (शिरः) आगच्छति नच दीनो निगद्यते तस्मादिदमवगम्यते न दार्ढ्यं शिरसि दीनतामा-पादयति अस्मात् किमायातं शिरोरक्षणे कृतबहुलतरप्रयत्नाः स्या-मेति अथवा विना स्नेहयुक्तान्नभोजनेन शिरो रिक्तम्भवति (म-ज्जादिना) इति किंवदन्त्यपि श्रूयते तेनापि शिरोदृढता घृतमि-श्रितपुष्टमिष्टपदार्थमिष्टम्भुञ्जीत शिखायास्तु बहुशो दर्शिता दीनता नाशेहेतुभूतता पूर्वेष्वेवाङ्केषु बाहुशब्देनेहैहलौकिकपारलौकिक-बुद्धिरूपाभ्यां वा(वीर्य्यं वा एतद्राजन्यस्य यद्बाहू) इति शतपथ ब्रा-ह्मणप्रतिपन्नवचनाभ्याम् पूर्वस्मिन्नपि विग्रहे"दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू" इति वैदिकनीतिव्याहृताभ्याम् वा सामान्यतः प्रसिद्धशत्रुबाधनक-रणसमर्थतरप्रभावाभ्याम् भुजाभ्यामिति वाह्यदीनता स्पष्टैव यद्वा-दीनशब्दः स्वच्छीणापीननिर्जलमीनायितपराप्यायितवाचकः(दीङ् क्षये) निष्ठान्तः क्षयं प्राप्ता न स्याम"वाग्बाहूदरसंयतत्वेनैव क्षीणता-निवृत्तिरूपफलिनः स्यामेति""यशो बलमिति"यशसा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती यशोभगश्च मा विदद्यशो माप्रतिपद्यतामिति"वैदि-कवाक्यमनुकुर्वता भगवतामनुनापि "एवंव्रतस्य नृपतेश्शिलोञ्छे-नापि जीवतः। विस्तीर्य्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि"यावत्की-र्त्तिर्मनुष्यस्य पुण्या लोके प्रगीयते। तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गे लोके महीयते । सम्भावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते" इत्यादीनि

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग २ | श्रावण संवत् १९४५ | अङ्क ३

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

(महामोहविद्रावण का उत्तर पृष्ठ २२ पं० १५ से आगे)

तत्र देवासुराः संयत्ता आसन्नित्यादय इतिहासा ग्राह्याः । सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । छान्दोग्योपनि० प्रपा० ६ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चनमिषत् । इत्यैतरेयारण्यकोपनि० अ० १ खं० १ आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास । श० कां० ११ अ० १ इदं वा अग्रे नैव किञ्चिदासीत् । इत्यादीनि जगतः पूर्वावस्थाकथनपूर्वकाणि वचनानि ब्राह्मणान्तर्गतान्येव पुराणानि ग्राह्याणि ॥

इति प्राहानभिज्ञवञ्चकः, तदिदमस्याप्यत्यनिष्टसाधकं तथासति "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम" ॥ १ ॥ ऋ० ७ अ० ७ व० ३ मं० ॥ ३ ॥ अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवां ऋषिरस्मि विप्रः । अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेहं कविरुशना पश्यता मा ॥ ऋ० अ० ३ अ० ६ व० १६ ॥ इत्यादि संहिताभागस्याप्यैतिहासिकार्थप्रतिपादकतया पुराणत्वापत्तेः । निरुक्तसंहितामन्त्रे सृष्टिपूर्वकालीनार्थप्रतिपादनेन निरुक्ते भवदभिमतेतिहासपदार्थ-

ताया अवजनीयत्वात्। किञ्च यदसौ स्वचक्षुषी निमील्य जगदन्धं प्रपश्यति तदपि तस्य शशकस्वभाव* मनुहरति। यदसौ ब्रूते ॥

"यस्माद्ब्राह्मणानीति सञ्ज्ञिपदमितिहासादिस्तेषां सञ्ज्ञेति तद्यथा ब्राह्मणान्येवेतिहासान् जानीयात् पुराणानि कल्पान्गाथा नाराशंसीश्चेति" ॥

तदिदमस्य हास्यास्पदमभिधानं विदुषां, किमप्येकं प्रमाणं प्रतिज्ञातार्थेऽनुपन्यस्य हठादेव ब्राह्मणान्येवेतिहासान् जानीयादिति वदन्कथं देवानां प्रियो हसनीयवचा न स्यात्। तथा पतञ्जलिः प्रथमाह्निके प्राहस्म "सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदास्साङ्गास्सरहस्या बहुधा भिन्ना एकशतमध्वर्य्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेद एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाऽथर्वणो वेदो वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावान् शब्दस्य प्रयोगविषयः" इति, अत्र पातञ्जले वाक्ये वैद्यकसाहचर्य्यादितिहासपुराणयोरपि स्मृतिरूपयोरेव ग्रहणस्य स्पष्टमवधारणादित्यलमनल्पजल्पनेन ॥

भावार्थः—देव और असुर सन्नद्ध हुए इत्यादि इतिहास। हे सौम्य श्वेतकेतु इस वर्त्तमान कार्य्य सृष्टि से पहिले सत् कारण था इत्यादि जगत् की पूर्वावस्था के कहने वाले ब्राह्मणान्तर्गत वचन पुराणसंज्ञक कहाते हैं। इस प्रकार मूर्खों को ठगने वाले कपटी (दयानन्द) ने कहा है। सो यह उस का कथन अत्यन्त अनिष्ट साधक है जैसे उस २ अभिप्राय से ब्राह्मणग्रन्थ इतिहासपुराण हैं वैसे (हिरण्यगर्भः०) सृष्टि होने से पहिले एक परमेश्वर विद्यमान था तथा (अहं मनुरभवम्०) मैं मनु था इत्यादि अर्थों के प्रतिपादक वेदमन्त्र भी इतिहासपुराणसंज्ञक होने चाहिये तो फिर यह कहना कट जायगा कि इतिहासपुराणसंज्ञक होने से ब्राह्मण पुस्तक वेद नहीं क्योंकि जो इतिहासादि होने से ब्राह्मण वेद न रहे तो वेदों में इतिहासादि के रहने से वेद भी वेद न रहेंगे। और जो यह (दयानन्द) अपने नेत्र मींच के जगत् को अंधा देखता है सो भी इस का स्वभाव खरहा के तुल्य है। शश (खरगोश) का यह स्वभाव है कि अपने को मारने वाले के आगे भागता २

* शशकस्यायं स्वभावो यत्स्वमारणयान्तमश्वाद्यारूढं यं कमप्यवलोक्य तदग्रतो धावन्श्रान्तः पथ्यत्रस्थापि स्वनयनं निमील्य जगदन्धं प्रपश्यति।

मार्ग में गिर के अपने नेत्र मीच के जगत् को अन्धा देखता है । और जो यह कहता है कि ब्राह्मणसंज्ञी और इतिहास संज्ञा है । सो यह विद्वानों के सामने उपहास के योग्य वचन है। प्रतिज्ञा किये विषय में कोई एक भी प्रमाण न देकर हठपूर्वक कहे कि ब्राह्मणग्रन्थों को इतिहास जानो ऐसा कहते हुए मूर्ख का वचन हसने योग्य क्यों न हो ? । तथा जैसे पतञ्जलि ऋषि ने महाभाष्य के प्रथमाह्निक में इतिहासपुराण और वैद्यकशास्त्र को पृथक् २ कहा है जैसे वैद्यकशास्त्र ब्राह्मणादि किसी पुस्तक के अन्तर्गत नहीं लिये जाते वैसे इतिहासपुराण का भी ब्राह्मणों से पृथक् ग्रहण होना स्पष्ट है। इस कारण इतिहासादि ब्राह्मणों से अलग हैं ॥ यह महामोहविद्रावण की भाषा है इस का उत्तर प्रथम संस्कृत में देता हूं

यत्तावदुक्तमितिहासपुराणादीनां ब्राह्मणभागान्तर्गतत्वेन ब्राह्मणानामवेदत्वे "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे । अहं मनुरभवम्" इत्यादौ मन्त्रभागेऽपीतिहासादिसद्भावात्तस्याप्यवेदत्वं प्राप्तमित्यतिव्याप्तिदोषापत्तिः । नैषदोषः—नहि पुरातनार्थप्रतिपादनमात्रेण कस्यचित्पुराणत्वं प्रतिपादयितुं शक्यम् । नास्माकमयं राद्धान्तो यद्वेदेषु पुरातनार्थप्रतिपत्तिर्नास्ति । किन्तर्हि वंशानुचरितत्वे सति पुरातनार्थप्रतिपादित्वं पुराणत्वम् । ईदृशं पुराणत्वं नहि वेदेषु लक्ष्यते ब्राह्मणेषु च याज्ञवल्क्यादिसंवादः स्फुटं लक्ष्यते तेन मन्यामहे ब्राह्मणान्तर्गतानि पुराणानि नतु मन्त्रभागः । इदं च पूर्वत एव प्रतिपादितमस्ति यत्र कालविशेषोत्पन्नपुरुषविशेषस्य चरित्रवर्णनपूर्वकं सर्गप्रतिसर्गादिवर्णनं तानीतिहासपुराणानि नतु सृष्टिपूर्वकालीनप्रतिपादनमात्रेण। यदि सर्गप्रतिसर्गप्रतिपादनमात्रेणेतिहासादित्वं स्यात्तदा तु भवन्मतेऽपि वेदानामितिहासादित्वं प्राप्नोति । अस्मन्मते तु नायं दोषस्तादृशस्येतिहासादित्वस्य वेदेष्वसत्त्वात् । यच्चोच्यते ब्राह्मणानां संज्ञित्व इतिहासादीनां च संज्ञात्वे न किमपि प्रमाणमुपन्यस्तमिति तत्तु न सम्यक् ब्राह्मणान्येवेतिहासान् जानीयादित्यादि प्रमाणस्य तत्रैव विद्यमानत्वात्। सप्तद्वीपा वसुमतीत्यादि महाभाष्यकारोक्तौ यदि वैद्यकसाहचर्येणेतिहासपुराणयोर्निबन्धान्तरस्थयोर्ग्रहणं क्रियते तर्हि वाक्यसाहच-

इति । मन्त्रकुत्रस्थयोस्तल्लक्षणाक्रान्तयोर्ग्रहणे किं बाधकं मन्यसे? अत्र च विशेषाभावात् पक्षासिद्धिः । यदि कथंचिदितिहासपुराणे पुस्तकविशेषनामनी सर्गादिप्रतिपादकेस्याताम् तथापि भवदभिमतानां पुराणादित्वं न सम्भवति । इतरेतरविरुद्धवेदबाह्यशैवादिमताग्रहग्रस्तत्वेन पुराणलक्षणानाक्रान्तत्वात् । एतच्च बहुशः प्रतिपादितं पूर्वम् । यच्चोक्तमैतिहासिकार्थप्रतिपादकतया पुराणत्वापत्तेरितितत्तु महदज्ञानजं वाक्यं यथा कश्चिद् ब्रूयाद् ब्राह्मणः पण्डितः क्षत्रियस्य शूरत्वात् । इदं च वाराणसीस्थानां पाण्डित्यं विद्वद्भिश्चिन्त्यम् ॥

भाषार्थः—श्री स्वामीदयानन्दसरस्वती जी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेद ब्राह्मण विषय में ब्राह्मणभागस्थ इतिहासपुराण माने हैं उस में (देवासुराः०) इत्यादि उदाहरण भी दिये हैं इस पर महामोहविद्रावणकर्त्ता कहते हैं कि यदि ऐसे उदाहरणों से ब्राह्मणभाग इतिहासपुराण हों तो (हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे०) इत्यादि मन्त्रों में वैसे इतिहासादि लक्षण होने से मन्त्रभाग भी इतिहासपुराण होगा तो उस को भी वेद न कह सकेंगे इत्यादि । इस का उत्तर यह है कि यद्यपि मन्त्रभाग में तीनों काल के सृष्टि आदि का विषय है तथापि इतिहासपुराण के लक्षण मन्त्रभाग के उदाहरणों में नहीं घटते महामोहविद्रावणकर्त्ता जी अमरकोष को देख कर भूले होंगे "इतिहासः पुरावृत्तम्" पूर्वकाल में हो चुके वृत्तान्त का कहना इतिहास कहाता है इस का यह अभिप्राय नहीं है कि किसी प्रकार का पहिला वृत्तान्त हो सभी का नाम इतिहास हो जावे किन्तु तात्पर्य यह है कि जैसे इतिहास शब्द का जो अर्थ है वही भाषान्तर में तवारीख़ शब्द से कहा जाता है और इतिहास वा तवारीख़ सम्बन्धी वृत्तान्त किसी समय विशेष में हुए विशेष मनुष्यों का लिया जाता है महाभारत भी इतिहास कहाता है उस में ऐसा वचन प्रायः स्थलों में आता है कि "अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्" ऐसे कह कर वहां २ किन्हीं विशेष ब्रह्मर्षि आदि का वृत्तान्त लिखा है इस से सिद्ध है कि "सृष्टि होने से पहिले एक परमेश्वर ही वर्त्तमान था और उत्पन्न हुए पीछे वही एक जगत् का रक्षक हुआ" इत्यादि वेद के वृत्तान्त को इतिहास नहीं कह सकते । यदि कहें कि (देवासुराः संयत्ता आसन्) इत्यादि में मनुष्यों का वृत्तान्त कहां है? तो उत्तर यह है कि जहां २ ब्राह्मणभागों में ऐसे प्रसङ्ग आये हैं वहां २ देखो! देव और असुरों का कैसा झगड़ा वा संवाद लिखा है कि जिस से वे देव असुर दोनों मनुष्य विशेष पाये जाते हैं तो मनुष्यों के वृत्तान्त को इतिहास कहना ठीक ही है । इसी से यह सिद्ध हुआ कि वेद में इतिहास का दोष

नहीं आ सकता । और पुराणके जो पांच लक्षण (आ० सि० भाग १ में) लिख चुके हैं कि उत्पत्ति, प्रलय, वंशवर्णन, मन्वन्तरों का वर्णन और वंशों में हुये मनुष्यों का वर्णन ये पांच विषय जिस २ में आवें उस २ को पुराण कहते हैं सो वेद में उत्पत्ति प्रलय का वर्णन तो आता है परन्तु इतने से वेदों को पुराण नहीं कह सकते क्योंकि वंशादि वर्णन के सहित उत्पत्ति आदि का विषय वाला पुराण हो सकता है सो ऐसा लक्षण ब्राह्मणभागों में घट सकता है किन्तु मन्त्रभाग मूल वेद में नहीं इस लिये वेद में पुराण होने का भी दोष नहीं आता ।

और स्वामी जी ने इतिहासादि को संज्ञा अर्थात् ब्राह्मणभाग के विशेष नाम माना है इस पर कहते हैं कि एक भी प्रमाण नहीं दिया सो नहीं किन्तु भूमिका में साक्षात् प्रमाण दिया है परन्तु देखने वाला चाहिये । और अनेक प्रमाणों की आवश्यकता भी नहीं क्योंकि जब सिद्ध हो गया कि इतिहासपुराण सम्बन्धी विषय ब्राह्मणभागों में है तब ब्राह्मणों के विशेषवाची इतिहासपुराण स्वयं सिद्ध हैं । और महाभाष्य में जो इतिहासपुराण तथा वैद्यक शब्द आये हैं उन में यदि वैद्यक के साहचर्य्य से इतिहास पुराणों को पृथक् पुस्तकान्तर मानो तो वाको-वाक्य-(प्रश्नोत्तर) ग्रन्थसामान्य के विषय के साहचर्य्य से इतिहासपुराणों को हम ब्राह्मणान्तर्गत मानेंगे इस में तुम्हारा माना साहचर्य्यभाव ठीक है और हमारा ठीक नहीं सो तुम्हारे पास क्या विशेष नियम है ? अर्थात् यह कहना इस प्रकार का बुद्धिमानों में समझा जायगा कि जैसे मेरे पास की मिश्री मीठी और तुम्हारे पास की खट्टी वा कड़वी है । यदि किसी प्रकार इतिहासपुराण नामक कोई पुस्तकान्तर भी ठहर जावें तो शैवशाक्तादि मतों के परस्पर आग्रह से आपस में विरुद्ध वेदबाह्य पुराणलक्षण से रहित ब्रह्मवैवर्त्तादि आप के माने पुराण, पुराण नहीं हो सकते । इस विषय में पहिले २ बहुत लिखा गया है ॥

भवन्मित्रो—भीमसेन शर्मा

(गतांक से आगे आर्य्यसमाजीयरहस्य का उत्तर) ॥

बहूनि वाक्यानि यशोलाभे प्रशंसापराणि यानि विस्तरभयान्नेह लिख्यन्ते यशोमहत्तां सूचयन्ति । न च केवलयैव प्रार्थनयेष्टसिद्धिरिति शङ्क्यम् । पुरुषार्थकरणोत्तरकालिकप्रार्थनाया बहुत्र स्थलेङ्केषु निर्णीतचरत्वादितिहरितः-

भाषार्थ

अभी हम कहते चले आते हैं कि हम लोग वेद के अनुसार ही काम करते हैं तो यह बात अवश्य ही आप (गोस्वामी जी) पूछेंगे कि आं वाक् २ इत्यादि

संस्कृतरूप वाक्यों में वेद का प्रमाण क्या है इसलिये हम श्रीगोस्वामी जी महाराज की सेवा में पूर्व ही से प्रमाण देने में उद्यत हैं सो सर्व्वमहाशयगण सुने हीं से विशेषतः श्रीमानों से निवेदन कर सूचना करता हूं कि सुनिये !!! यजुर्वेद अध्याय छत्तीस मन्त्र चौवीस—तच्चक्षुर्देव०—सन्ध्यामात्र पाठ भी जो जानता होगा अवश्य इस मन्त्र से पहिचान रखता होगा—उस में पश्येम क्रिया से सूचित होता है कि सौ वर्ष (जो मनुष्य की आयु " शतायुर्वै पुरुषः " इत्यादि वाक्यों के अनुसार पाई गई है) तक सिद्ध है उतने काल तक नेत्रों में दृढ़ता (कहे हुए वेदोक्त यत्नों के द्वारा) हमारी बनी रहे इसी प्रकार शृणुयाम शब्द से श्रोत्र (जिस के द्वारा सुनने की शक्ति होती है) इन्द्रिय की दृढ़ता होवे—एवम्, प्रब्रवाम, से वाणी इन्द्रिय की शक्ति ताड़ित न हो ऐसे ही जीवेम, से प्राण की दृढ़ता जानो ! प्राण की स्थिति ही से जीवनशक्ति है यह तो सभी साधारण विशेष जानते ही हैं और नाभि जो प्राण वायु का मूल स्थान कहा जाता है यदि उसी की दृढ़ता नहीं की तो उपरिभागरूप प्राण की दृढ़ता कदापि न होगी जैसे भित्ति (दीवार) के बनाने में नींव जो मूल है उसी को जिस ने दृढ़ नहीं किया ऊपरी अंश चाहो कितना ही पुष्ट हो एक दिन नष्ट भ्रष्ट हो कर लौट ही वा गिर ही पड़ेगी इस कारण (नाभिः) शब्द से उस की दृढ़ता में प्रयत्न करना न्याय सिद्ध है यह बात केवल युक्ति ही से नहीं अर्थात् प्रमाण से भी सिद्ध देखिये ! सुश्रुत (वैद्यविद्या सम्बन्धी पुस्तक—अध्याय ३ शारीरस्थान में गर्भ विषय प्रकरण) व्यास जी मानते हैं कि शरीर भर में से प्रथमनाभि पुरुष वा स्त्री के शरीर में बनती है क्योंकि इसी नाभि में चारो तरफ से नाड़ी छोटी बड़ी मोटी पतली अनेक प्रकार से बंधी हैं उसी के आश्रय ही के देह बढ़ता है और रस प्रत्येकस्थान से इन्द्रियों को पुष्ट करता है जिस हेतु चराचर जीव जीते हैं। अचर जीव वृक्षादि भी प्राणधारी हैं (यह बात अन्यत्र कहीं प्रकरण वश अच्छे प्रकार प्रकट करेंगे) (अदीनाःस्याम) से हृदय, शिर, शिखा, और बाहु (भुज) इन का ग्रहण होता है अदीन (न दुःखी) होवें । इस पक्ष में हृदयादि की दृढ़ता ही कारण है और यह बात सब को अनुभूत (अजमाई हुई) है कि शिर की पुष्टता से दीनता नहीं होती विचार करो! जब पुरुष अपना हृदय ऐसा दृढ़ कर लेता है कि चाहो प्राण भले ही निकल जावे अर्थात् मुझे मरना तो कबूल परन्तु (बुरे) मांगना नहीं—वह संसार में क्या दीन कहा जावेगा ? कदापि नहीं अर्थात् शूर ही एक प्रकार से कहा जायगा और जब किसी से युद्ध होता है तब शिर को बहुत दृढ़ बांध के जाते हैं कि दीनता कहीं न आजावे—और संसार में ऐसी एक बोलचाल भी पुरुषाओं की परिपाटी से सुनते आते हैं और युक्ति से भी पाया जाता है कि विना घी मीठा पुष्टवस्तु के भोजन रूक्ष (रूखासूखा). मात्र ही भोजन करने से शिर खाली हो जाता है अर्थात् चर्बी

आदि उस में पूर्ण प्रकार से नहीं रहती है इस से सिद्ध हुआ कि शिर की रक्षा अनेक प्रकार से करनी उचित ही है—और शिखा की रक्षा तो हम प्रथम ही बहुत प्रकार से सिद्ध कर आये हैं अब बाहु की दृढ़ता भी इसी मन्त्र में "अदीनाः" इसी पद से सिद्ध है बाहु नाम भुजाओं का है उन भुजाओं की (जो प्रत्यक्ष शरीर के ऊपर दिखलाई देती है) अपेक्षा दो भीतरी और भुजा हैं "इस लोक के सुख को देने वाली वा परलोक सुख की देनेवाली बुद्धिरूप" जिन को पाकर पुरुष हजारों कोश से अपने शत्रु की खबर लेता है—अथवा वीर्य का नाम बाहु है यह शतपथ ब्राह्मण का वाक्य है—वा सामान्य से भुजा जो इस मनुष्य देह के प्रसिद्ध अंग का नाम है । दीन उस को कहते हैं कि जो क्षीण हो अर्थात् पराधीन होकर विना जल के स्थान में मछली के तुल्य तड़फड़ा रहा हो दूसरे के सकाश से अपनी उन्नति की इच्छा करता हो । वाणी—भुजा—उदर की रुकावट से दीनता कदापि नहीं होती अतः दीनता न होने के उक्त कारण सूचित किये गये—अब प० म० य० में जो "यशोबलम्" पाठ है उस के ऊपर विचार यह है कि "यश से आकाश पृथिवी यश से प्राण अपान वायु युक्त हैं (अर्थात् जबतक जीवन रहे) तब तक यश और ऐश्वर्य मुझ को प्राप्त होवें" इसी वैदिकमन्त्र के अभिप्राय को लेकर (जिन कर्मों को पूर्व राज्य विषयक कह आये हैं उन को राजा यदि बराबर करता रहे तो जैसे तेल के बिन्दु जल के ऊपर विस्तारयुक्त होते हैं इसी प्रकार उस राजा का यश भी बढ़ता है) ऐसा मनु महाराज ने भी निजग्रन्थ मनुस्मृति में कहा है और जब तक मनुष्य की कीर्ति रहती है तब तक वह मरा मत समझो॥ और प्रशंसित पुरुष की अकीर्ति मरण से भी बढ़ कर है ऐसा महाभारत का भी वाक्य है ॥ और केवल प्रार्थना मात्र से ही किसी कार्य की सिद्धि नहीं होती किन्तु पुरुषार्थ भर कार्य करके ईश्वर से प्रार्थना करना यहां ही (आ० सि० पत्र में) कई एक स्थलों में लिख चुके हैं—

गोस्वामी जी वर्णन करते हैं कि "पञ्चमहाय० अनुसार ईश्वर प्रार्थना या उस का अभिप्राय सत्य है कि मिथ्या ? यदि सत्य है तब तो इस तरह नाक, कान, टटोलने वालों में से कोई अन्धा बहिरा न होय और मिथ्या है तो करने का क्या प्रयोजन" इस का उत्तर देने से प्रथम तो हम श्री गोस्वामी जी से यह पूछते हैं कि आप की कोई प्रार्थना अपने मन में है वा नहीं ? यदि है ? तो उस के द्वारा उपासना करने वाले अन्धादि दोषरहित अवश्य होने चाहिये ? मुझे इस समय एक श्लोक की स्मृति (याद) आ गयी वह यह है कि—

"वने पुष्पैर्युतेऽन्विष्यन्विष्ठाभूमिं व शूकरः"

भला ! सुगन्धित बन में विष्ठा के न होने से शूकर से की हुई उक्त बन की कहीं निन्दा हो सकती है ? हम गोपति जी से प्रार्थना करते हैं कि पूर्व अपने

ग्रन्थ के दोष हटालें (और अपने घर के भी) बाद इस के दूसरों के दोष देखने पर कमर बांधे अन्यथा आप का कथन कोई भी नहीं माने गा मित्रवर ! इस मेरे वाक्य को अवश्य प्रतिक्षण ध्यान में लाते रहिये ! (स्वयमसिद्धः कथम्परान्साधयति) टुक विचारिये तो बुद्धि को एकाग्र करके महाराज ! आप तो धर्मप्रवर्त्तक आचार्य हैं फिर ईश्वर की उपासना का फल अन्धादि दोष न होना किस प्रमाण से अपने श्रीमुख से प्रकाशित करते हैं पूर्व आप को अतीव उचित है कि श्री स्वामी जी दया० जी के ग्रन्थो को पूर्वापरभाव से एक बार समस्त देख जाइये अनन्तर मनन कर खण्डन में प्रवृत्त हूजिये यतः उन्हीं (ग्रन्थों) का आशय पूरा २ हृदयस्थ हो जावे ! इस विषय पर जो महाशय कुछ भी बुद्धि रखते होंगे वा जिन्हों ने उक्त स्वामी जी के ग्रन्थ देखे पढ़े होंगे वे अवश्य यह बात अत्यावश्यक प्रकार से अपने मन में विचार लेंगे और युक्ति प्रमाण से सिद्ध कर लेंगे कि ईश्वर प्रार्थना का फल मुख्यकर अभिमान का त्याग और उस परात्पर हम सर्व जनों के स्वामी सच्चिदानन्द के निरतिशय सुख में योगशास्त्र की रीति से मन को मग्न करके उस आनन्द के सामने अन्य आनन्द को सहस्र के सहस्र भाग भी न समझना ! यह लेख मेरा कपोलकल्पित ही नहीं अपितु प्रत्येक उपनिषद् वा अन्य सद्ग्रन्थों से मिलता ही है यथा गीता अ० ६ श्लो० २२

"यल्लब्ध्वाचापरं लाभम्मन्यते नाधिकन्ततः"

अर्थात् जिस परमात्मा को जान के दूसरा इस से अधिक जानने योग्य वा जिस को प्राप्त होके अन्य अधिक प्राप्त होने योग्य कोई पदार्थ नहीं इत्यादि सिद्धान्त शास्त्रों के पाये जाते हैं परन्तु प्रियपाठकगण ! आज तक मैंने तो सिवाय श्रीगोस्वामी जी के सिद्धान्त लेख के यह कहीं देखा न सुना कि परमात्मा की उपासना का फल अन्धा आदि न होना हो ? हम मैत्री दृष्टि से अपने गोस्वामी जी से प्रार्थना करते हैं कि जिज्ञासुओं के लिये आप इस अपने (परमात्मा की प्रार्थना का फल अन्धा आदि न होना है) वचन में कोई शिष्ट प्रमाण (वेदसङ्गृहीत) अवश्य दीजिये जिस के द्वारा हम भी उक्त प्रार्थना का फल जान के अभी तक भूले तो भूले अभी से आप सदृश पुण्यजनों की कृपा से जान लेवें और (सर्वः सर्वन्न जानाति) इस के अनुसार सब पुरुष तो सर्वशास्त्रों को प्रायः जान ही नहीं सकते अतः आप की कृतज्ञता को उचित समझो पर स्मरण करते रहैं ? वस्तुतस्तु यदि निष्पक्षपात दृष्टि से कोई नैयायिक देखे तो यही कहेगा कि—

"श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे नराणां परिकीर्त्तिते ॥
एकेन हीनः काणः स्यात् द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्त्तितः"

अर्थात् मनुष्यमात्र के नेत्रों के तुल्य पदार्थ मात्र के दिखलाने वाले श्रुति (वेद) स्मृति (धर्मशास्त्र) हैं इन दोनों नेत्रों में से जिस के एक नेत्र नहीं वही

काणा और जिस के (उक्त श्रुति स्मृ०) दोनों नेत्र नहीं वही अन्धा है और नहीं । बलिहारी ? धर्मप्रचारक जी की धर्मप्रचारकता पर जो ईश्वर की उपासना का फल अन्धेपन न होना बतलाते हैं हम पूर्व भी (एमोनिया की शीशी पर) सूचित कर चुके हैं और अब इस विषय पर फिर भी स्पष्ट कहते हैं कि गोस्वामी जी वैद्यकग्रन्थों के द्वारा वा सुश्रुत की हिन्दी भाषा कलकत्ता से मङ्गा कर देखें यतः पूर्ण प्रकार से अन्धा मनुष्य किस प्रकार होता और वह किस प्रकार के औषधों के द्वारा फिर सूझना हो सकता है वा परमेश्वर की प्रार्थना से अच्छा हो सकता है इस बात को हमारे वैद्य, वा डाक्टर, तबीब, अच्छे प्रकार श्री गोस्वामी जी को समझा सकेंगे इस कारण मैं इस विषय पर बहुत लेख देना व्यर्थ समझ कर दूसरा विषय श्री गोस्वामी जी के उत्तर विषय में प्रवृत्त करूंगा पर तनिक कुछ (थोड़ा सा) अन्य भी आप लोगों की आज्ञानुसार कहा चाहता हूं वह यह है:-

यदि उपासना का फल अन्धादि दोष से छूट जाना हो तो अन्धादि पुरुष पाप कदाचित् नहीं करें क्योंकि यह प्रत्यक्ष देखने में आता है कि नीम का वृक्ष कडुआ है पर उस के फल में भी (निमकौरी) उत्पत्ति समय कडुआपन ही होता है हां वह किसी प्रकार परिणाम होने से भले ही पक्वदशा में मिष्टता को ग्रहण कर भी ले तथापि अन्य फलों की (जोकि स्वभाव से आदि से अन्त तक मीठे हैं) अपेक्षा मीठा नहीं कहाया जा सकता "कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः" के अनुसार जब ऐसा प्रत्यक्ष देखने में आता है तो उपासनारूप वृक्ष के फल अन्धादि में भी पाप करना अपने से विपरीतगुण त्रिकाल दशा में भी नहीं बन सकता । जैसे चोरी निन्दित कर्म है उस का फल राज्यादि का मिलना (शुभ) असम्भव है और धार्मिक राजा के अनुकूल धर्म पर चलना (अशुभ) कारागार का सेवनरूप फल का देने वाला कदापि नही होता इस से साफ सांसारिक दृष्टांतों से भी यह कोई नहीं सिद्ध कर सकता कि शुभ का फल अशुभ और अशुभ का फल शुभ हो तो ईश्वरप्रार्थना शुभ फल का अन्धादि पाप करने वाले पुरुष ईश्वरोपासना के फल में दृष्टान्तरूप कैसे होंगे ? ॥

यद्यपि उक्त मेरे लेख से पाठक महाशयों को विदित हो गया होगा कि ईश्वर की प्रार्थना उपासना का मुख्य फल अहङ्कार का छूटना है और शान्तस्वरूपादि युक्त ईश्वर में चित्त लगाने से भक्त मनुष्य का स्वभाव भी शान्त्यादि युक्त होने से महान् सुख होता है जो वाणी से अकथ्य है । पर जिस समय कोई ऐसी प्रार्थना करे कि हे ईश्वर मैं नेत्रों से सौ वर्ष तक देखता रहूं अर्थात् मेरी सौ वर्ष की अवस्था हो उतने काल तक मेरे नेत्र भी बने रहैं इस प्रकार की प्रार्थना का फल यदि चक्षु का बना रहना न हो तो प्रार्थना व्यर्थ हुई इस का उत्तर यह है कि "पुरुषकारमीश्वरोऽनुगृह्णाति" मनुष्य के कर्त्तव्य पर ईश्वर कृपा करता है । यदि चक्षु की रक्षा के प्रबन्ध न करे और "पश्येम शरदः शतं" को वाणी मात्र से कह

लिया करे और चाहे कि मेरे चक्षु सदैव बने रहें सो प्रथम तो अन्तःकरण से अभीष्ट न होने से वाणी से प्रार्थना ही नहीं बने गी। और चक्षु के न रहने से हानि और बने रहने से लाभ को यथावत् समझ लेगा तो चित्त से भी अवश्य चाहे गा कि मेरे चक्षु बने रहें। और चित्त से चाहने का यही चिह्न है कि उस के लिये सब प्रकार से प्रयत्न करे उन प्रयत्नों में प्रार्थना भी एक कर्माङ्ग है लोक में यह बात प्रत्येक मनुष्य को विदित है कि जिस को वह चित्त से चाहता है उस के लिये ईश्वर प्रार्थना भी प्रायः करता है कि हे ईश्वर अमुक वस्तु की प्राप्ति का मेरा प्रयत्न सफल हो। सो समुदायरूप कर्म के फल को भी "प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः" न्याय के अनुसार प्रार्थना का फल कहें तो कह सकते हैं। जैसे कोई अग्नि जलाने का फल भोजन बन जाना कहे। यद्यपि केवल अग्नि जलाने का फल भोजन बनना नहीं तथापि अग्नि जलाने का भी वही फल है इस से कह सकते हैं। इसी प्रकार प्रार्थना मात्र का फल नेत्रादि का बना रहना नहीं किन्तु उस का भी फल इस प्रकार कह सकते हैं। परन्तु मुख्य फल प्रार्थना का पूर्वोक्त ही है॥

इस के आगे श्रीमान् गोस्वामी जी निज मुख कमल से वर्णन करते हैं कि "और लीजै यजु० पृ० ९ प० २१ ऋतञ्च०—समुद्रादर्ण०—सूर्याचन्द्र० अघमर्षण के मन्त्र लिखे हैं पर उन में नाम भी पाप दूर करने का नहीं है जब गायत्री से शिखा बांधना नहीं शन्नो० आचमन का नाम भी नहीं अघमर्षण में पाप दूर करना नहीं तो आर्यलोगो! आकृ० बृहस्पते० इत्यादि मन्त्रों से ग्रहशान्ति में क्यों घबड़ाते हो" इस का उत्तर। उक्त सब बातों का हम अपनी तुच्छ बुद्धि अनुसार उत्तर दे आये हैं अब अघमर्षण में भी यथामति प्रमाणयुक्ति दिखलाते हैं इस बात को मैं प्रथम ही लिख चुका हूं कि "भवति वाक्यस्यार्थप्रत्यायकत्वम्" अर्थात् ऐसे बहुत वाक्य सांसारिक भी कहने सुनने में आते हैं कि जिन के अक्षरों से अधिक अक्षर ले कर उन का अर्थ पूरा २ लग सकता है जैसे (घी की पूरी—ढाई सेर सत्तू) उक्त वाक्यों में यदि विचार से देखा जाय तो पूरी आटा की हैं पर बोल चाल में घी की कही जाती हैं इसी प्रकार ढाई सेर सत्तू—तो सत्तू ढाई सेर नहीं हो सकते क्योंकि सेर एकतोल करने का पदार्थ है सत्तू से कोई किसी पदार्थ को नहीं तोलता—यहां पर वक्ता का अभिप्राय यह है कि घी में पक्की पूरी—ढाई सेर से तोले हुए सत्तू पर, पक्की और तोले हुए—शब्द नहीं हैं वाक्य में और लेने वाला भी सत्तू ही ले आता है नतु ढाई सेर को (जो तोलन द्रव्य) है अतः स्पष्ट प्रतीत है कि जब श्री १०८ मान् स्वामी (दयानन्द०) जी ने अपने भाष्य में इस मन्त्र का अर्थ करके दिखला दिया और उस से परमेश्वर सृष्टिकर्त्ता और सर्वव्यापक सिद्ध होता है तब ऐसा कौन मूढ़ होगा जो अन्य दीन हीन नवीन मत का आश्रय कर अपने को तीन सवारों के तुल्य चौथे जीवधारियों में माने। और सत्य ज्ञान लाभ के काम अघमर्षण मन्त्र में भी सारासार पहिचान बुद्धिमान् मान

न लें ? गालिप्रदान आदि निदान स्वार्थसिन्धु अप्रधान विधान समाधान भले ही करो ! पर अविद्या का तिरोधान इस के ध्यान से तो हो ही गा ॥ विवेकी जन इस बात को सभी विचार लेंगे कि उक्त रीति पर परमेश्वर सर्वव्यापक सिद्ध है तो उस की सर्वव्यापकता का फल क्या ? गुप्तस्थान में भी पातक करना नहीं हो सकता ? इस विषय में मनुस्मृति अध्याय १२ श्लोक ११८ में स्पष्ट कहा है कि:—

सर्वमात्मनि सम्पश्येत्सच्चासच्च समाहितः ।
सर्वं ह्यात्मसमं पश्यन्नाधर्म्मे कुरुते मनः ॥

अर्थात् स्थूल सूक्ष्म सब संसार में जिस ने आत्मा को देखा वह पाप में कदापि मन करे ही गा नहीं—

इस से यह भी सिद्ध होता है कि विना निराकार ईश्वर के मानने सर्वव्यापकपन नहीं सिद्ध होगा और उस की सर्वव्यापकता के विना जानने से पाप से चित्त कदापि न हटेगा । अघमर्षण से पाप दूर होते हैं इस विषय को युक्ति से कहा अब इस में प्रमाण भी देखिये । मनु० अध्याय ११ श्लोक २५९ । २६० ।

त्र्यहन्तूपवसेद्युक्तस्त्रिरह्नोभ्युपयन्नपः ।
मुच्यते पातकैः सर्वैस्त्रिर्जपित्वाघमर्षणम् ॥
यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनः ।
तथाघमर्षणं सूक्तं सर्वपापापनोदनम् ॥

हम मैत्रीपूर्वक अपने गोस्वामी जी से बार बार समझा के प्रार्थना करते हैं कि जो कुछ लेख लिखें सो विचारपूर्वक लिखें क्योंकि भाई ! लेख लिख देना और हाथ को परवश फसाना एक ही है इस भय से हमारे किसी विचारशील कवि ने कहा भी है कि (वदामि सर्वं न लिखामि किञ्चित्) अर्थात् कहूंगा मन माना पर लिखूंगा कुछ भी नहीं । प्रियजनो ! इतने कहने पर भी कोई कलम् उठावेगा तो फिर भी मुक्तकण्ठ हम तीन बार तो उस से यही कह देंगे कि अलम् अलम् अलम् अर्थात् विना विचारे लिखना मत । शेषमग्रे बलदेव शर्म्मा सप्रत्र

(फर्रुखावादीय धर्मसभाविषयकपत्रसमीक्षा गत १ अंक से आगे । लेखफर्रुखाबादीय धर्मसभा का) ।

अब जिस प्रकार परमेश्वर ने वेद को शब्दरूप प्रगट किया उस का प्रमाण ओंकारउपनिषद् से देते हैं और उसी से परमेश्वर का रूप यानी मूर्त्तिपूजन भी प्रत्यक्ष होता है । उक्तञ्च ओंकारोपनिषधि * ध्यानम् ।

* उपनिषधीति श्लोकपदानि च चिन्त्यानि ।

ओंकारो यस्य मूलं क्रमपदजठरं छन्दविस्तीर्णशाखा ।
ऋक्पत्रं श्यामपुष्पं यजुरथ च फलं स्यादथर्वप्रतिष्ठा ॥
यज्ञस्छाया सुशीता द्विजगुणमधुपैः गीयते यस्य नित्यं ।
शक्तिः सन्ध्यात्रिकालं दुरितभयहरः पातु नो वेदवृक्षः ॥

अर्थः—वेदरूपी कल्पवृक्ष है वह सब की रक्षा करे कैसा है वेदरूपी वृक्ष ओंकार है मूल नाम जड़ जिस की ऐसा जो वेदवृक्ष है वुह सम्पूर्ण दुःख और भय को हरता है अतः सम्पूर्ण बुद्धिमान् सत्पुरुषों को विचारना योग्य है कि जब वेद परमेश्वर का अंग है और वह वृक्षरूप स्थापित हुआ और पद जठर मस्तकादि उस के नियत होके परमेश्वर का रूप भी दर्शित होगया तो प्रतिमा यानी मूर्त्तिपूजन क्योंकर वेदविरुद्ध हो सक्ता है इत्यादि ।

प्रिय विचारशील सज्जनो ! नव्य उत्साही पण्डितों का लेख विचारना चाहिये यह महाशय उक्त लेख के बल से आर्य महाशयों को धोखा देकर मूर्त्तिपूजन सिद्ध किया चाहते हैं आर्यमहाशय ऐसे क्या भोले पुरुष हैं जो बेठौर ठिकाने की बातों को मान कर संतोष कर लेंगे । पण्डित महाशयों के लेख को पढ़कर विचारशील आर्य महाशयों को लालबुझक्कड़ के वृत्तान्त का स्मरण तो अवश्य आता होगा । लालबुझक्कड़ का वृत्तान्त इस प्रकार है कि एक नगर में एक लालबुझक्कड़ रहता था वह विद्या का शत्रु और धोखे की टट्टी था एक दिन नगर के पास से हाथी चला गया । लालबुझक्कड़ अपने चेलों के साथ शैल को निकला । चेलों ने पूछा गुरुसाहब इस रास्ते से कौन चला गई है लालबुझक्कड़ जी रोकर फिर हंसे । चे० । गुरुजी आप रोकर फिर हंसे किस लिये । ला० । रोआ तो मैं इस लिये हूं कि हमारे देहान्त से अनन्तर ऐसे प्रश्नों के उत्तर कौन देगा और हंसने का कारण यह है कि आप हमारे चेले बन कर भी ऐसे प्रश्नों का उत्तर न समझे । चे० । तो आप ही उत्तर दीजिये । ला० । लीजिये उत्तर—

दोहा

लालबुझक्कड़ बूझिया और न बूझिया कोय ।
पग में चक्की बांध के हरना कूदा होय ॥

चेलों ने कोटि २ बार धन्यवाद दिया

प्रियपाठको ! वही लीला नव्य उत्साही महाशयों की प्रतीत होती है क्योंकि वेद से मूर्त्तिपूजन सिद्ध करना चाहते हैं प्रमाण कोटि में ओंकारोपनिषद् तथा ध्यानबिन्दूपनिषद् के वाक्य लिखते हैं जिन का उपनिषदों में कहीं नाम भी नहीं क्योंकि उपनिषद् तो बारह ही हैं—तद्यथा ।

ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्य, श्वेताश्वतर, मैत्र्युपनिषद् ।

ओंकारोपनिषद् तथा ध्यानविन्दु आदि अनेकों उपनिषद् नवीन कल्पना किये हुए हैं वेद से उन का कुछ सम्बन्ध नहीं जिन वाक्यों के तात्पर्य्य से यह मूर्त्तिपूजन सिद्ध करते हैं उन का वह तात्पर्य्य भी नहीं प्रतीत होता क्योंकि जो ओंकारोपनिषद् के नाम से वाक्य लिखा जिस में कवितार्इ के रूपकालङ्कार से वेद को वृक्षरूप में वर्णन किया उस का यह तात्पर्य्य नहीं कि वेद साक्षात् वृक्षरूप ही है किन्तु वह तो केवल कवितार्इ की चतुरार्इ है जैसे वेद में देखिये दिन रात्रि को रूपक में वर्णन किया है ॥

द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्या वत्समुपधापयेते ।
हरिरन्यस्यां भवति स्वधावां छुक्रो अन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः

उक्त मन्त्र में दिन रात्रि को रूपकालङ्कार से स्त्री रूप में वर्णन किया तो क्या यहां उन दिन रात्रि को स्त्रीरूप ही समझें क्या दिन रात्रि स्त्री हैं काव्यशास्त्र को नहीं जानते वह अवश्य दिन रात्रि को स्त्री ही मान लेंगे समझ ही तो है जो कुछ समझ में आ जावे कोर्इ लालबुझक्कड़ अपनी बिल्ली को शेर मानता था क्या हुआ जो नव्य पण्डित महाशय कल्पित ओंकारोपनिषद् के श्लोक का अण्डवण्ड अर्थ कर मूर्त्तिपूजन सिद्ध मान बैठे पर यह मानना पांडित्य से बाहर है अतएव पण्डित महाशयों को चाहिये कि अपने पांडित्य के अनुकूल मूर्त्तिपूजन पर विचार करें और वेद से उक्त अंश को सिद्ध करें जब तक वेद से कोर्इ दृढतर प्रमाण न देंगे वैदिकसिद्धान्त के मानने वाले कभी नहीं मान सकते ॥ भवदीय—ज्वालादत्त शर्मा

रामानुजीयमतसमीक्षा

समस्त महाशयों की सेवा में निवेदन है कि "आज कल रामानुज संप्रदायी लोगअपने पाखण्ड और अत्याचार से बहुत से मुग्ध (भोले) लोगों को बहका के अपना संप्रदायी बना लेते हैं परन्तु वह मार्ग श्रुतिस्मृतियों से तो क्या ? आधुनिक पुराणों से भी विरुद्ध है" केवल पुराणों ही से विरुद्ध नहीं किन्तु लोकव्यवहार तथा प्रमाण और युक्तियों से भी महाविरुद्ध है और विचारे जिज्ञासु लोग श्रुतिस्मृति और युक्तियों से सिद्ध अपने धर्म को छोड़ के उन के फंदे में पड़ जाते हैं वे लोग नहीं जानते कि उस मत में कितनी पोल है महाशयो ! प्रथम तो ये लोग अपने ग्रन्थों ही को इस भय से नहीं देते कि कहीं पोल न खुल जाय और जो दो एक ग्रन्थ किसी को मिल भी गये तो वे असली ग्रन्थ सामान्य मनुष्यों को नहीं देते इन के ग्रन्थ प्रायः द्रविड़ भाषा में अधिक हैं और

द्रविड़ भाषा के ग्रन्थों का जानना अति कष्ट से होता है और इन के प्रथम मार्ग प्रवृत्तिकारक "शठकोप जी" से ले कर रामानुज तक के जो ग्रन्थ हैं वे द्राविड़ भाषा में हैं पीछे रामानुजादिकों ने जो भाष्यादिक किये हैं वे संस्कृत में हैं उन भाष्यों से उन द्रविड़ भाषा के ग्रन्थों का आशय मालूम पड़ता है सो उन सिद्धान्त ग्रन्थों को ये लोग किसी को नहीं देते उन में से एक श्रीनिवासाचार्य्य का बनाया हुआ दिव्यसूरिचरित्र मैंने देखा है उस के अनुसार मैं आप लोगों को यह स्पष्ट सिद्ध करादूं गा कि यह मत कैसा है और इस का मूल क्या है और सिद्धान्त क्या है और कब से प्रवृत्त हुआ है और इन के ग्रन्थों में इन्हों ने अपने मत में प्रविष्टों की प्रशंसा और दूसरों की निन्दा कैसी २ लिखी है वह निन्दा इन्हों ने क्यों लिखी है इन सब बातों का यथावत् निर्णय आप की सेवा में अर्पण करूंगा मेरा सिद्धान्त इन के पूर्वापर विरोध दिखाने पर ही नहीं है किन्तु इस मत के सत्यासत्य दिखाने पर भी है उस के निर्णय में प्रत्येक वाक्य पर जितने प्रमाण इन के ग्रन्थों में हैं उन की समीक्षा धर्मशास्त्रद्वारा आप की सेवा में भेजता हूं प्रथम इन के आचार्य "शठकोप जी" के शूद्रत्व में कितने प्रमाण हैं वे लिखे जाते हैं शेष विषय फिर भी लिखता रहूंगा ।

प्रथमं प्रमाणं श्रीनिवासाचार्यकृते दिव्यसूरिचरित्रे चतुर्थे सर्गे ॥

अस्ति पूर्वपयोराशेः क्वापि पश्चिमरोधसि ॥
मण्डले पाण्ड्यभूपस्य नगरी कुरुकाह्वया ॥१॥
तत्रासीत्पदजातेषु कश्चिद्भागवताग्रणीः ।
श्रीमत्पल्लीति नाडीन्द्रः सीमातीतगुणोल्वणः ॥ २ ॥
तस्य धर्मधरो नाम तनयः समजायत ।
चक्रपाणिस्ततो जातश्चक्रपाणिपरायणः ॥ ३ ॥
अजायत सुतस्तस्माद्दलरामेति संज्ञितः ।
सुमतिं सुपुवे सोपि सुतं पाटललोचनम् ॥ ४ ॥
पुत्रं प्रासूत पार्कारिं पुत्रं पाटललोचनः ।
कारीति तनयो जातः कारीतिरहितः सदा ॥ ५ ॥
ततो जातः सुतस्तस्मात् शठकोप इतीरितः ।

टीका—पूर्व समुद्र के पश्चिम किनारे पर पाण्ड्य भूप की कुरुका नाम नगरी है ॥ तिस में शूद्रजाति में कोई भागवतों में उत्तम नाडीन्द्रनामक उत्पन्न हुआ ॥ उस का पुत्र धर्मधर हुआ फिर धर्मधर का पुत्र चक्रपाणि हुआ वह च-

क्रपाणि (विष्णु) की भक्ति में परायण था ॥ फिर चक्रपाणि का पुत्र रलराम हुआ फिर रलराम का पुत्र सुमति नामक हुआ फिर सुमति का पुत्र पाटललोचन हुआ फिर पाटललोचन का पुत्र पाकारी और पाकारी का पुत्र कारी हुआ और कारी का पुत्र शठकोप हुआ ॥

विचार शीलो! इस इन के ही प्रमाण से ठीक सिद्ध हो गया कि "शठकोप जी" पादजवंश में उत्पन्न थे और "शूद्रः स्यात्पादजो दासः" यह त्रिकाण्ड शेष कोष का वाक्य है अर्थात् पादज नाम शूद्र का है और शूद्र वही कहाता है कि जो विद्यादिसद्गुणों से रहित हो और ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीन वर्णों की सेवा करे "जाति पांति पूछे नहि कोई" इस वैष्णव सिद्धान्त से भी प्रतीत होता है कि शूद्र नाई कहार आदि भी चर्मकार चाण्डाल आदि अन्त्यजों से अवश्य घृणा करेगा अर्थात् भोजनादि व्यवहार न करेगा इस से निश्चय होता है कि शठकोप कोई ऐसे अति शूद्र थे जिनको किसी से घृणा न हो सके। इन में सभी जाति मिल जाती हैं जब मूल गुरु जैसा है तो शिष्य वैसे क्यों न हों ? । शूद्र का सेवा धर्म मनुस्मृति में भी लिखा है कि—

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ मनु० अध्याय १ श्लोक ९१

अर्थ—शूद्र को योग्य है कि निन्दा, ईर्ष्या, अभिमान, को छोड़ के ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य की सेवा करे और उसी से अपना जीवन करे यही शूद्र का गुण कर्म है ॥ फिर जब शठकोप जी शूद्र थे और विद्यादिसद्गुणों से रहित थे तो वे धर्म क्यो कर जान सक्ते हैं और जब धर्म ही नहीं जानते थे तो मुक्त क्यों कर कहे जा सक्ते हैं ? जब स्वयं ही मुक्ति के साधनों को नहीं जानते थे और न मुक्त थे तो यह बात सर्वथा असम्भव है कि जो स्वयं मुक्ति के साधनों को न जाने और दूसरों को मुक्ति के साधन बतलावे अथवा किसी सत्कर्म में प्रवृत्त करे ॥ हां यह तो है कि भिक्षा मंगाने आदि अपने प्रयोजन के लिये छोटे २ बालकों को उन के मा बाप से मुक्त कर लेते हैं । जैसे लोक में भी यह बात प्रसिद्ध है कि जो अन्धा होता है वह दूसरों को मार्ग बताने में सर्वथा असमर्थ होता है और जो कदाचित् कोई उस अन्धे के मार्ग पर चला भी तो अवश्य ही उस का कूपादि में पतन होता ही है जब शूद्र को दासत्व के सिवाय द्वितीय कर्म की आज्ञा ही नहीं है तो उस के कहे हुए को धर्म मान कर उस में प्रवृत्त होना कौन बुद्धिमान् स्वीकार करेगा ? जहां तक हो धर्मशास्त्रों से और इतिहासों से देख लीजिये ! कि सिवाय ब्राह्मण के कहे हुए वाक्य के धर्म विषय में औरों के वाक्य का अनादर ही लिखा है जहां जहां श्रुति और स्मृतियों से लेख

मिलता है वहां वहां विद्वान् ब्राह्मणों ही से धर्म मार्ग जानने का लेख मिलता है मूर्ख से नहीं मिलता ॥

यथा मनु० अ० १२। श्लो० ११३। ११४। ११५।

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥
अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥
यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄननुगच्छति॥

भाषा—एक भी विद्वान् ब्राह्मण वेद को जानने वाला जिस धर्म को कहे वही परम धर्म है और मूर्ख चाहे दशहजार मिल के कहो तो भी धर्म नहीं है॥ अव्रत वालों का अर्थात् जो अपने नियम धर्म में निश्चित न हों। जो वेदविद्या को नहीं जानते हों। जो केवल जातिमात्र से उपजीवी (जाति से तो ब्राह्मण मानते हैं परन्तु कर्म नहीं करते) हों ऐसे हजार मनुष्यों से भी सभा नहीं होती और न उन का निश्चय किया धर्म हो सकता है॥ जो तमोभूत (शून्य हृदय) धर्म को न जानने वाले मूर्ख जिस धर्म को कहते हैं वह सौ प्रकार से (सौगुणा) पाप हो कर कहने वालों को प्राप्त होता है॥ इत्यादि और भी महर्षियों के वाक्यों से स्पष्ट विदित होता है कि जो बिना वेदविद्या के जानने वालों के वाक्य पर विश्वास करते हैं वे पाषाण की नाव पर चढ के डूबते हैं॥

यदि इन में कोई महाशय यह शंका करें कि यद्यपि शठकोप जी शूद्र वा अति शूद्र कुल में उत्पन्न थे परन्तु उन्हों ने विद्याध्ययन करके सत्योपदेश किया हो यह भ्रम भी उन महाशयों का उन्हीं के ग्रन्थ दिव्यसूरिचरित्र देखने से मिट सकता है वह प्रमाण यह है। दिव्यसूरिचरित्रे द्वितीये सर्गे श्लो० ५२ भक्तिसारस्वरूपवर्णने।

विचक्षणो विश्वविमोहहेतोः कुलोचिताचारकलानुषक्तः।
पुण्ये महीसारपुरे निधाय विक्रीय सूर्पं विचचार योगी॥१॥

भाषा—संसार को धोखा देने में चतुर और अपने कुल के (खटिकपन) आदि कर्मों में प्रवीण महीसार नगर में निवास करके सूपों को बेच के फिरता हुआ॥१॥

क्या महाशयो! इतने पर भी शठकोप जी के गुण कर्मों में आप लोगों को संदेह होगा?॥ मेरी अल्प बुद्धि से तो यदि न्यायशील विचारपूर्वक निष्पक्ष दृष्टि से देखेंगे तो स्पष्ट दूध का दूध और पानी का पानी जान लेंगे॥ और एक नमूना और भी आप लोगों की सेवा में अर्पण किया जाता है कि इन लोगों का नाम आज

तक दास शब्दान्त क्यों होता है यह भी क्या शूद्र पदवी को न सिद्ध करेगा ? कदाचित् अब भी सन्देह हो तो "शैठकोप" इस शब्द का अर्थ ही देख लो। शेषमग्रे

आप का कृपाकांक्षी

क्षेत्रपाल शर्म्मा विद्यार्थी-विश्वविद्यालय-प्रयाग

मुंशी इन्द्रमणिकृत शेष आक्षेपों के उत्तर-पूर्वप्रकाशितानन्तर॥

पाठक ! प्रथम और द्वितीय नियम पर जो मुन्शी जी ने आक्षेप किये थे उन का यथामति समाधान कर चुका हूं अब शेष नियमों में से जिन २ पर कि आक्षेप किये हैं उन का सम्मार्जन करने के लिये प्रवृत्त होता हूं तीसरे नियम को छोड़ कर ४ और ५ वें के विषय में मुन्शी जी लिखते हैं कि इन दोनों में केवल शब्द भेद है अर्थ दोनों का एक है अभिप्राय भिन्न २ शब्दों में दो तरह पर कहने से पृथक् २ नहीं हो सकता-शायद कि स्वामी जी की यही सम्मति है कि शब्द भेद और अर्थ भेद एक वस्तु ही है-हे आर्य्य बान्धवो जिन की बुद्धि के भरोसे पर तुमने अपने परलोक की भलाई समझ रक्खी है उन को इतना भी ज्ञान नहीं कि अर्थ भेद क्या है ? और शब्द भेद किस को कहते हैं ॥

(उत्तर)-पाठक! उक्त दोनों नियम मैं यहां पर लिखता हूं अब आप लोग न्याय कीजिये कि इन में अन्तर है वा नहीं ॥

४ नियम--सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये ॥

५ नियम-सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्याऽसत्य विचारपूर्वक करने चाहियें॥

अब इन के अर्थभेद पर दृष्टि दीजिये कि चतुर्थ नियम में तो सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने की शिक्षा की गई है और तदन्यार्थ प्रकाशक ५ नियम में सत्यासत्य विचार पूर्वक धर्मानुसार प्रत्येक काम करने की आज्ञा दी गई है अथवा यों समझिये कि ४ नियम में तो सत्य के जानने की जिज्ञासा प्रकट की गई है अर्थात् सत्य, विपरीत मतों से भी मान लेना और अपने मन्तव्य में भी असत्य निश्चित हो तो छोड़ देना किन्तु हठ न करना। जैसे मैंने तुम्हारे

कथन को ग्रहण किया वा माना एकार्थ हैं । और ५ नियम में सत्य को जान कर उस के आचरण करने की आज्ञा दी गयी है तात्पर्य यह कि ४ नियम तो साधन है और पञ्चम नियम साध्य है क्या मुन्शी जी साध्य और साधन में भेद नहीं समझते यह मुं० जी की बड़ी भारी भूल है जो साधन को साध्य से अभिन्न बतलाते हैं यह हम ने भी माना कि साधन ही से साध्य की सिद्धि होती है परन्तु साधन और साध्य और । इसी लिये स्वामी जी महाराज ने अपनी बुद्धिमत्ता से प्रथम ४ नियम को रक्खा है क्योंकि जब पहिले साधन को संचित कर लेगा तभी साध्य को सिद्ध कर सकता है अर्थात् जब पहिले सत्य को जान लेगा तभी उस का आचरण भी कर सकता है अन्यथा नहीं—यदि किसी को सत्य के ग्रहण करने की शिक्षा न करके सत्य के आचरण करने की आज्ञा दी जाय तो क्या सफल हो सकती है? कदापि नहीं जब तक सत्य को ग्रहण न कर लेगा तब तक उस का आचरण सर्वथा असम्भव है हम कह सकते हैं कि यदि ४ नियम न होता तो ५ नियम की अभिप्रायपूर्त्ति सर्वथा असम्भव थी और विना ५ नियम के चतुर्थ नियम ज्ञेयशून्य हो जाता क्योंकि विना ज्ञान के ज्ञेय की सिद्धि और विना ज्ञेय के ज्ञान की सफलता नहीं हो सकती इस लिये उक्त दोनों नियमों का होना अत्यन्त आवश्यक था अतः स्वामी जी महाराज ने (जो शब्दार्थ सम्बन्ध की पूर्ण अभिज्ञता रखते थे) क्रमानुसार इन दोनों नियमों को (कि जिन का परस्पर सम्बन्ध और अर्थ भिन्न है) रक्खा है ॥

मुन्शी जी की बुद्धि इन दोनों के शब्द भेद पर तो (जोकि स्थूल है) झट पहुंच गई—परन्तु अर्थभेद पर (कि जो सूक्ष्म है) विना (१) आकांक्षा (२) योग्यता (३) आसत्ति और (४) तात्पर्य इन चार वाक्यार्थ बोधों के जाने कैसे पहुंच सकती है? अतएव मुन्शी जी को उचित है कि उक्त चारों वाक्यार्थ बोधों के जानने में प्रयत्न करें तब इन का अर्थभेद प्रकट होगा—बड़े आश्चर्य का विषय है कि मुन्शी जी अपना दोष स्वामी जी पर आरोपण करते हैं सच है क्रोध से मनुष्य की बुद्धि विपरीत हो जाती है ॥

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग २ } भाद्रपद संवत् १९४५ { अङ्क ४

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

गत अङ्क ३ पृष्ठ ३७ से आगे महामोहविद्रावण का उत्तर

अन्यदप्यत्र प्रमाणमस्ति न्यायदर्शनभाष्ये "वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात्" अ० २ आ० २ सू० ६० अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम् "प्रमाणं शब्दो यथा लोके विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः" अयमभिप्रायः ब्राह्मणग्रन्थशब्दा लौकिका एव न वैदिकाः ॥ इति

इदमस्याभिधानं दुष्कृतितामस्याऽवगमयति, तद्यथा "प्रमाणं शब्दो यथा लोके विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविध" इति वात्स्यायनग्रन्थस्य यदसौ "अयमभिप्रायः ब्राह्मणग्रन्थशब्दा लौकिका एव न वैदिका" इत्यर्थमाचष्टे तदत्यन्तमसाधु, तादृशार्थस्य बुबोधयिषायां वात्स्यायनः "प्रमाणं शब्दो लोके विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविध" इत्यकथयिष्यत, न तु "प्रमाणं शब्दो यथा लोके" इति सादृश्यार्थकयथापदघटितं, ब्रूते च तथेति लोके यथा शब्दप्रमाणं तथा वेदेपीत्यध्याहार्य्य वेदे ब्राह्मणरूपे ब्राह्मणसञ्ज्ञकानां वाक्यानां विभागस्त्रिविध इत्यर्थस्य तात्पर्यविषयत्वात् । सादृश्यस्य स्वनिरूपकप्रतियोग्यनुयोग्युभयसापेक्षतायाः सर्वानुभवसिद्धतया यथापदोपादानसारस्यैनैव तादृशार्थस्य सुलभत्वात् । अतएवाग्रे अत्रैव प्रकरणे "विधिविहितस्यानुवचनम-

नुवाद" इति चतुःषष्टितमे सूत्रे न्यायदर्शने अ० २ अ० १ "एवमन्यदप्युत्प्रेक्षणीय" मित्यन्तेन भाष्येण, वैदिकवाक्यानि ब्राह्मणापरनामधेयान्युदाहरणभावेन प्रदर्श्य "लोकेऽपि च विधिरर्थवादोऽनुवाद इति च त्रिविधं वाक्यम्। ओदनं पचेदिति विधिवाक्यम्। अर्थवादवाक्यमायुर्वर्च्चो बलं सुखं प्रतिभानं चान्ने प्रतिष्ठितम्। अनुवादः पचतु पचतु भवानित्यभ्यासः क्षिप्रं पच्यतामिति वा अङ्ग पच्यतामित्यध्येषणार्थम्। पच्यतामेवेति वाऽवधारणार्थम्। यथा लौकिके वाक्ये विभागेनार्थग्रहणात्प्रमाणत्वमेवं वेदवाक्यानामपि विभागेनार्थग्रहणात्प्रमाणत्वं भवितुमर्हतीति" वात्स्यायनेन इहैव प्रकरणेऽस्मदुक्तार्थस्य वादिनोऽत्यन्तप्रतिकूलस्य स्फुटमभिधानात्तस्मात्। द्वितीयाध्याये प्रथमाह्निके "वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणा" दिति पठितमसूत्रपर्य्यन्तमुपक्रमोपसंहाराभ्यासादिना ब्राह्मणानां वेदभावे सुव्यक्ते स्वीयदोषेण ब्राह्मणेषु शङ्कमानः कथन्न शङ्कनीयः ? ॥

महामोहविद्रावण का भाषार्थ

इस उक्त (ब्राह्मणभाग के वेद न होने) विषय में अन्य भी प्रमाण है न्यायदर्शन वात्स्यायनभाष्य में "कि वैदिक शब्दों का प्रमाण है जैसे लोक में ब्राह्मणवाक्यो का विभाग भी तीन प्रकार का है। इस का अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणग्रन्थों के शब्द लौकिक ही हैं वैदिक नहीं" यह ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का आशय है ॥

यह इस (दयानन्द) का कहना इस की दुष्क्रिया को जताता है। जो कि यह (प्रमाणं शब्दो०) इत्यादि वात्स्यायन भाष्य का अभिप्राय निकालता है कि ब्राह्मणग्रन्थों के शब्द लौकिक ही हैं वैदिक नहीं यह कहना अत्यन्त बुरा है यदि वात्स्यायन ऋषि को यह अभिप्राय अभीष्ट होता तो अपने वाक्य में यथा शब्द नहीं कहते सादृश्यार्थ यथा शब्द के कहने से यह प्रतीत होता है कि जैसे लोक में तीन प्रकार के वाक्य होते हैं वैसे वेदरूप ब्राह्मणभाग में भी तीन प्रकार के वाक्य हैं। सदृशता का वाचक यथा वा इव आदि शब्द लोक के साथ लगाया है इसीलिये आगे इसी प्रकरण में कहा है कि विधान किये विषय को फिर प्रकारान्तर से कहना अनुवाद कहाता है इत्यादि से वेद के पर्य्यायवाचक ब्राह्मण वाक्यों को उदाहरणरूप से दिखा के आगे कहा है कि लोक में भी विधि अर्थवाद और अनुवाद तीन प्रकार के वाक्य होते हैं भात पकाओ इत्यादि विधि-

वाक्य । आयु, तेज बल सुख आदि अन्न सेवन से होते हैं यह अर्थवाद और पकाओ पकाओ और चलो चलो इत्यादि अनुवाद कहाते हैं जैसे लौकिकवाक्यों में विभागपूर्वक अर्थ और उन का प्रमाण होता है वैसे ही वेदवाक्यों का भी विभाग से अर्थ ग्रहण और प्रमाण होना चाहिये । वात्स्यायन ऋषि ने इसी प्रकरण में हमारे कथन की पुष्टि और वादी के कथन से विरुद्ध कहा है इस से साठ सूत्र से चौंसठ सूत्र तक आरम्भ समाप्ति करके ब्राह्मणग्रन्थों को वेदत्व हो चुका तो भी ब्राह्मणों में वेदत्व की शङ्का करने वाला शङ्का के योग्य क्यों नहीं हो ? ॥

अत्र महामोहविद्रावणकर्त्रा न्यायदर्शनवात्स्यायनभाष्यप्रमाणाभ्यां ब्राह्मणभागस्य वेदत्वमुपपादि । तदित्थं -वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणादित्यस्य सूत्रस्योपरि-प्रमाणं शब्दो यथालोके विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविध इति वात्स्यायनभाष्यस्याशयोऽयमुक्तस्तत्रभवता दयादिस्वामिना ब्राह्मणग्रन्थशब्दा लौकिका एव न वैदिकाइत्यत्रोक्तं मोहाभिष्टेन—यथालोके त्रिविधानि वाक्यानि प्रमाणरूपाणि भवन्ति तथा वेदरूपे ब्राह्मणभागेऽपीति। उपमावाचक यथाशब्दसम्बद्धेन लोकदृष्टान्तेन तथा शब्दोपसंहृतो ब्राह्मणभागो वेदादन्यः को भवितुमर्हतीति वाराणसीस्थानामाशयः। अत्रोच्यते मया, नह्यत्र वात्स्यायनेन महर्षिणा तथा शब्देनोपहृतं ब्राह्मणम् । नहि तावन्त्यक्षराणि पदानि वर्षिणोक्तानि किन्तर्हि "प्रमाणं शब्दो यथालोके विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः" इत्युक्तं तस्यायमभिप्रायः-तदप्रामाण्यमित्यस्य पूर्वपक्षस्य निरासार्थं प्रमाणं शब्दः शब्दप्रमाणस्य प्रामाण्यं युक्तमेव यथा लोके इतिदृष्टान्त' स च प्रायः प्रतिज्ञातादर्थात्पश्चादेव सम्भवति । अत्रापि "प्रमाणं शब्द" इति प्रतिज्ञातोर्थः यथा लोके शब्दः प्रमाणम्भवति लौकिकशब्दस्य प्रामाण्याभावे व्यवहारानिष्पत्तेः। यदि कश्चित्कस्यचिदपि वाक्यं प्रमाणं न मन्येत तदा सर्वव्यवहारविलोपः प्रसज्येत ।लोकवच्छास्त्रीयस्याप्तोपदिष्टस्यापि शब्दस्य प्रामाण्यं सम्भवत्येव । आप्तोपदिष्टशब्दप्रमाणान्तर्गतानां ब्राह्मणवाक्यानामपि विभागस्त्रिविधः । चात्र ब्राह्मणवाक्यानां

लौकिकत्वं वैदिकत्वं वा प्रतिपाद्यते महर्षिणा। तथा च लोकशब्दोऽयं बह्वर्थः। वेदापेक्षया तु सर्वेषां तद्भिन्नशास्त्राणां लोकत्वं लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्त इत्यादिस्थलेषु लोकशब्दो न वेदादन्यस्य वाचकः किन्तर्हि प्राकृतप्रयत्नवन्तोऽकृतशास्त्राभ्यासा लौकिका अर्थाच्छास्त्रादन्यो लोकइति तथा च मनुनाप्युक्तं न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथंचन। अत्रापि शास्त्रादन्यस्यैव लोकत्वम्। तथा च प्रमाणं शब्दो यथा लोकइत्यत्र वात्स्यायनर्षिणापि वेदापेक्षया लोकशब्दो नैव प्रयुज्यते किन्तर्हि प्राकृतोऽयं लोकशब्दः। तथा च लोकोदाहरणानां विभाग उक्तं "ओदनं पचेदिति विधिवाक्यम्" केनचिदुक्तं मया किं कार्यं तदुपरि अपूर्वं वोक्तं भवानोदनं पचेदिति (आप भात पकाइये) इत्यस्य प्राकृत वाक्यस्यापि विधिवाक्यत्वसम्भवात् नेदम् "ओदनं पचे" दिति वाक्यं कस्यापि धर्मशास्त्रादेरस्ति यच्च स्वामिभिरुक्तं ब्राह्मणग्रन्थशब्दा लौकिका एव न वैदिका इति तत्तु लोकशब्दस्य वेदादन्यत्वापेक्षया। तदिदं पूर्वतः प्रतिपादनाद्ब्राह्मणभागानां वेदादन्यत्वं संसाधितमेव। अतएवोक्तमयमभिप्रायइति नदमुक्तमयमर्थइति सचाभिप्रायोऽनेकयुक्तिप्रमाणैर्ब्राह्मणभागानां वेदादन्यत्वे सिद्धे ब्राह्मणवाक्यानां विभागो लौकिकत्वेनैव भविष्यतीत्याशयः। यच्चोक्तं वात्स्यायनर्षिणा—एवं वेदवाक्यानामपि विभागेनार्थग्रहणात् प्रमाणत्वं भवितुमर्हतीत्युक्तं नात्रोपसंहृतदार्ष्टान्ते ब्राह्मणशब्दोऽस्ति यस्य वेदशब्दो विशेषणं ब्राह्मणभागस्य वा वेदत्वमापद्येत शास्त्रादन्यस्य लोकत्वस्य दृष्टान्तेनाप्तोपदिष्टशब्दशास्त्रमात्रस्य दार्ष्टान्ते समावेशसम्भवे वेदस्य दार्ष्टान्तकोटिं प्रविष्टस्य प्रधानस्य साक्षादुपदिष्टत्वादप्रधानस्य ब्राह्मणादेस्तत्र प्रवेशासम्भवः। यदि कथंचिद्वात्स्यायनोक्तौ ब्राह्मणानां वेदत्वमागच्छेदपि तथापि व्याख्यानव्याख्येयसंबन्धेन वेदवत्प्रा-

शस्त्यप्रतिपादनाय भविष्यतीति नान्यथा । एवं च ब्राह्मणभागस्य मूलवेदत्वाभावः स्थित एव ॥

भाषार्थः—स्वामी जी महाराज ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है कि ब्राह्मणभाग के मूलवेद न होने में और भी न्यायदर्शन का प्रमाण है (वाक्य०) इस सूत्र पर वात्स्यायन का भाष्य है कि शब्दप्रमाण ठीक है जैसे लोक में शब्द का प्रमाण होता है कि जिस से सब व्यवहार चलते हैं। और ब्राह्मणवाक्यों का तीन प्रकार का विभाग है । इस का अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणग्रन्थों के शब्द लौकिक हैं वैदिक नहीं । इस पर महामोहविद्रावण कर्ता काशी के पण्डित कहते हैं कि स्वामी जी ने वात्स्यायन ऋषि का आशय भी न समझा वा समझ के बिगाड़ा है क्योंकि वात्स्यायन का अभिप्राय है कि जैसे लोक में विधि, अर्थवाद और अनुवाद तीन प्रकार के वाक्य हैं वैसे वेदरूप ब्राह्मणभाग में भी तीन प्रकार के वाक्य प्रमाण मानने चाहियें यह भाष्यकार का आशय है क्योंकि यथाशब्द उपमा वाचक लोकरूप दृष्टान्त के साथ पढ़ा है और दार्ष्टान्त में ब्राह्मण आया तो दृष्टान्त लोक से भिन्न दार्ष्टान्त अवश्य मानने पड़ता है और लोक का दार्ष्टान्त वेद है वही ब्राह्मण है इस से ब्राह्मण भाग का वेद होना सिद्ध है ॥

इस का उत्तर यह है कि (प्रमाणं शब्दो यथा लोके) इस स्थल में वात्स्यायन ऋषि ने तथाशब्द से ब्राह्मण शब्द का उपसंहार नहीं किया न वहां उतने अक्षर वा पद हैं किन्तु "प्रमाणं शब्दो यथा लोके विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः" यह कहा है तिस का अभिप्राय यह है कि पहिले जो पूर्वपक्ष में शब्द प्रमाण को अयथार्थ ठहराया था सो ठीक नहीं क्योंकि आप्तों का उपदेशरूप शब्दप्रमाण ठीक है इस में (यथा लोके) यह दृष्टान्त है और दृष्टान्त का प्रायः यही नियम है कि प्रतिज्ञा रूप वाक्य से पीछे होता है यहां भी (प्रमाणं शब्दः) यह प्रतिज्ञावाक्य है इस से पीछे (यथा लोके) यह दृष्टान्त है। जैसे लोक में शब्द का प्रमाण होता है यदि लोक में किसी के कथन पर कोई विश्वास न करे तो सब व्यवहार बिगड़ जावे । जैसे लोक में शब्द (विश्वासी के कहने) का प्रमाण होता है वैसे आप्त के कहे शास्त्रीय वचन का भी प्रमाण अवश्य करना चाहिये और आप्तों का उपदेश जो शब्द प्रमाण उसी के अन्तर्गत ब्राह्मण वाक्यों का विभाग तीन प्रकार का है यह वात्स्यायन ऋषि का अभिप्राय है किन्तु यहां ब्राह्मण वाक्यों के लौकिक वा वैदिक होने से कुछ भी अभिप्राय नहीं है । और लोक शब्द के बहुत अर्थ हैं । वेद की अपेक्षा तो सब वेद से भिन्न शास्त्रों को लोक कहते हैं (लौकिकपरीक्षकाणां०) इत्यादि स्थलों में वेद से भिन्न का नाम लोक नहीं है किन्तु स्वाभाविक प्रयत्न वाले जो कुछ भी शास्त्र नहीं पढ़े वे लौकिक कहाते हैं अर्थात् शास्त्र से भिन्न को लोक कहते हैं मनुस्मृति में भी

कहा है कि शास्त्रज्ञ पुरुष जीविका के कारण शास्त्र विपरीत लोक के अनुसार न वर्त्ते। यहां भी शास्त्र से भिन्न को लोक कहते हैं। वैसे ही (प्रमाणं शब्दो यथा लोके) यहां वात्स्यायन ऋषि ने भी वेद की अपेक्षा में लोक शब्द का प्रयोग नहीं किया किन्तु यहां भी शास्त्र से भिन्न को ही लोक माना है। और वैसे ही लोक के उदाहरण भी दिये हैं (ओदनं पचेत्) यह विधिवाक्य है। किसी ने कहा कि मैं क्या करूं उस के उत्तर में वा अपनी ही ओर से आज्ञा दी कि (भात पकाओ) चाहे इस वाक्य को संस्कृत में कहें वा भाषा में सब प्रकार से विधिवाक्य होगा। और पकाने से जो २ प्रयोजन वा फल है उस का वर्णन करना अर्थवाद कहावेगा। तथा शीघ्रतादि के लिये एक शब्द वा वाक्य को वार २ कहना अनुवाद कहाता है जैसे पकाओ २ जाओ २ पढ़ो २ इत्यादि। अब जो (ओदनम्पचेत्) ये विधि वाक्य आदि के उदाहरण दिये हैं सो किसी शास्त्र के वाक्य नहीं किन्तु साधारण लौकिक वाक्य हैं। और स्वामी जी महाराज ने जो कहा है कि ब्राह्मण ग्रन्थ शब्द लौकिक ही हैं वैदिक नहीं उस का अभिप्राय यह है कि लोक शब्द वेद की अपेक्षा अन्य है। ब्राह्मणग्रन्थ भी अनेक युक्ति प्रमाणों से वेद भिन्न सिद्ध हो चुके इसी कारण वे वैदिक नहीं लौकिक हैं इसी लिये स्वामी जी ने लिखा है कि यह अभिप्राय है किन्तु अन्यथा ऐसा लिखते कि वात्स्यायन भाष्य का यह अर्थ है। सो यह अभिप्राय ब्राह्मणभागों के वेद से भिन्न सिद्ध हो जाने पर ब्राह्मण वाक्यों को लौकिकत्व ही कहना बन सकता है इस प्रकार आशय निकाला है और जो वात्स्यायन ऋषि ने लोक दृष्टान्त के उपसंहार में वेद को दार्ष्टान्त लिखा है कि जैसे लोक में विधि, अर्थवाद और अनुवाद रूप तीन प्रकार के वाक्यों का प्रमाण माना जाता है वैसे ही वेद के वाक्यों का भी तीन प्रकार का विभाग पूर्वक अर्थ मिलने से प्रमाण होना ठीक ही है। यहां उपसंहार अर्थात् दृष्टान्त के पीछे दिखाये हुए दार्ष्टान्त में ब्राह्मण शब्द ऋषि ने नहीं पढ़ा है जिस के आश्रय से कोई ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद ठहरावे जब नहीं पढ़ा तो ब्राह्मणशब्द का वेद शब्द विशेषण क्योंकर हो सकता है अथवा कैसे ब्राह्मण शब्दों को वेदत्व सिद्ध कर सकते हैं ?। जब शास्त्र भिन्न को लोक मानना ठीक हो गया तो उस लोक के दृष्टान्त के साथ आप्तों के उपदेश रूप शब्द शास्त्र मात्र का दार्ष्टान्त में प्रवेश हो सकता है फिर दार्ष्टान्त कोटि में आये प्रधान वेद का साक्षात् उपदेश होने से शब्दप्रमाण में गौण ब्राह्मणभाग का उस में प्रवेश होना असम्भव है॥

और यदि किसी प्रकार वात्स्यायन ऋषि के कथन से यह भी निकले कि ब्राह्मण वेद हैं और वेद के स्थान में ब्राह्मण के उदाहरण भी दिये हों तो यही अभिप्राय हो सकता है कि वेद के मुख्य व्याख्यान होने वा वेद के तुल्य प्रशंसित मान के कहना बन सकेगा अन्यथा नहीं क्योंकि ब्राह्मण मूल वेद नहीं यह बात

सिद्ध हो चुकी है । अनुमान है कि अनेक पाठक महाशय इस तात्पर्य को कम समझेंगे इस लिये इस लेख का खुलासा अभिप्राय यह है कि महामोहविद्रावण कर्त्ता काशी के पण्डित स्वामी दयानन्दसरस्वती जी की बनाई ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में जो वेद ब्राह्मण विषय में न्यायदर्शन वात्स्यायन भाष्य के प्रमाण से ब्राह्मण भागों का मूल वेद न होना सिद्ध किया है । इस पर कहते हैं कि वात्स्यायन ऋषि का अभिप्राय यह नहीं है जो स्वामी जी समझे हैं वा उन्हों ने समझ के अपना पक्ष सिद्ध करने के लिये रचना की है । इस पर हमारा कथन यह है कि वात्स्यायन ऋषि का आशय स्वामी जी के तो अनुकूल है परन्तु तुम लोग नहीं समझे क्योंकि आर्ष ग्रन्थों के पठन पाठन की परिपाटी तुम लोगों ने उठा दी है आधुनिक लोगों के बनाये ग्रन्थ पढ़ते पढ़ाते हो । और स्वामी जी आर्ष ग्रन्थों की परिपाटी का प्रचार सदैव करते और पढ़ते पढ़ाते थे । इस लिये वे इन ग्रन्थो का आशय ठीक २ जानते थे । अर्थात् वात्स्यायन ऋषि का इस स्थल में यह अभिप्राय है कि लोक वा शास्त्रों में तथा वेद में शब्द समुदा-यरूप वाक्य तीन प्रकार के होते हैं । विधि वाक्य । अर्थवाद वाक्य । अनुवाद वाक्य । विधि वाक्य वे कहाते हैं कि जिन से किसी प्रकार की आज्ञा (हुक्म) दी जावे कि ऐसा करो वा ऐसा मत करो । अर्थवाद वाक्य उन को कहते हैं जो दोनों प्रकार की विधि के अनुष्ठान में निमित्त रूप साधन हों जैसे ऐसा करने में अमुक २ लाभ है और ऐसा न करने में अमुक २ लाभ है और निषिद्ध के करने में अमुक २ हानि है पहिले समय में किन्हीं ने ऐसे काम किये उन को ऐसा २ सुख वा लाभ हुआ और निषिद्ध के करने से ऐसी २ हानि हुई यह सब अर्थवाद है । अनुवाद उस को कहते हैं कि जो विधि शीघ्र वा विशेष कार्य सिद्धि के लिये बार २ कहा जावे । जैसे जल्दी २ चलो वा तीनवार चारवार "बोलो" इत्यादि यह विधि वाक्य का ही भेद है । इन तीन प्रकार के वाक्यो में विधि वाक्य मुख्य माने जाते हैं क्योंकि अर्थवादादि भी इन्हीं की सिद्धि के लिये हैं । सो लोक वेद और अन्यशास्त्रों के सब व्यवहार इन्हीं तीन प्रकार के वाक्यों में चल रहे हैं । जब लोक के शब्द रूप वाक्यों का सर्वसाधारण मनुष्य प्रमाण करते हैं (यदि लौकिक वाक्यों का प्रमाण न माना जावे अर्थात् कोई किसी का कहा न माने तो सब व्यवहार बन्द हो जावें । वैद्य कहे अमुक औषधि करो उस पर कोई विश्वास ही न करे तो रोग निवृत्ति भी दुस्तर है इत्यादि) तो वेद के शब्द वा शास्त्रों के शब्दों वा वाक्यों का प्रमाण क्यों नहीं करना चाहिये ? । अर्थात् वात्स्यायन ऋषि का आशय यही है कि जैसे लोक के वाक्य जो पढ़े बिन पढ़े सब के व्यवहार में आते हैं उन का प्रमाण पण्डित·मूर्ख सब लोग मानते हैं तो

वैसे ही प्रकार के व्यवहार वा परमार्थ साधक वैदिक वा शास्त्रीय कार्यों का प्रमाण क्यों न मानना चाहिये ? अर्थात् अवश्य माननीय है । और जो महामोहविद्रावण कर्त्ता ने वात्स्यायन ऋषि का आशय समझा है कि लोक दृष्टान्त से ब्राह्मणभाग को वेद मानना चाहिये सो यों ठीक नहीं कि इस प्रकरण में शब्द प्रमाण की परीक्षा है शब्द प्रमाण में यद्यपि वेद मुख्य है तथापि अङ्ग उपाङ्ग उपवेदादि सभी शब्दप्रमाण में आप्तों का उपदेश होने से मानने पड़ता है तो ब्राह्मण का उदाहरण देने से यह नियम कैसे हो सकता है ? कि ब्राह्मणभाग भी वेद है । क्योंकि ब्राह्मण वेद से भिन्न माने जावें तब भी तो शब्द प्रमाण में होने से उन का उदाहरण दे सकते हैं । इत्यादि प्रकार से ब्राह्मणभाग का मूल वेद न होना स्थित ही रहा । इति । क्रमशः

भी० श० सं० आ० सि०

पं० नरसिंह शर्मा मङ्गलपुर निवासी कृत प्रश्नों का उत्तर भाग १ अङ्क १० पृ० १५६ से आगे ॥

(प्रश्न) "इमां त्वमीन्द्रमीढ्वः" इस मन्त्र का जो अर्थ स्वामी जी ने किया है वह ठीक नहीं क्योंकि नियोग शब्द का नाम तक भी इस मन्त्र में नहीं है और वह प्रकरण भी न्यारा है और जो स्वामी जी ने इस मन्त्र का अर्थ किया है वह ठीक नहीं है परन्तु जो श्री सायणाचार्य ने अर्थ किया है वह ठीक मालूम पड़ता है. क्योंकि "एकादशम्" शब्द से जो स्वामी जी ने ग्यारह ऐसा अर्थ किया है वह ठीक नहीं है परन्तु "पूरणार्थे डट्" इस पाणिनीय सूत्र से "एकादशम्" पूरणार्थ वाची हो कर ग्यारहवां ऐसा अर्थ होता है. और न कि ग्यारह पति क्योंकि पतिम् शब्द द्वितीया विभक्ति एक वचनांत है वैसा ही उस का विशेषण एकादशम् होना चाहिये. ग्यारह पति ऐसा बहुवचनार्थ करने को वहां पतीन् ऐसा शब्द नहीं है. इस लिये उस का तात्पर्यार्थ यही है कि "अस्यां" इस विवाहित स्त्री में 'दश पुत्राना धेहि' (दश सतान उत्पन्न कर) और 'पतिमेकादशं कृधि' (पति को ग्यारहवां मान) इस का विरुद्ध ग्यारहवां पति तक नियोग कर ऐसा अर्थ कैसा निकलता है ? और यहां भी एक विचारना कि यह मन्त्र विवाह काल में पढ़ने का है इस से जो सायण जी का किया हुआ मंगल सूचक अर्थ है वह ठीक है. और स्वामी जी का अर्थ जो कि हे सौभाग्यवती तेरा जो यह विवाहित पति मर जाय तो तू "ग्यारहवें पति तक नियोग कर" यह अर्थ अमंगल वाचक होने से इस शुभ कार्य के समय में पढ़ने योग्य नहीं और यहां एक तर्क आता है कि परमेश्वर ने ग्यारहवां पति तक नियोग करने का अवधि क्यों रक्खी. एक न्यून वा एक अधिक क्यों न रक्खा ? ॥

(उत्तर) इस मन्त्र पर आ० सि० १ भाग के अङ्क ५ पृष्ठ ७४–७५ में विचार हो चुका है वहां देखना चाहिये तथापि यहां कुछ विचार पुनः किया जाता है नरसिंह शर्मा मङ्गलपुर निवासी लिखते हैं कि "(इमां त्वमिन्द्रमीढ्वः) इस मन्त्र का जो अर्थ स्वामी जी ने किया है वह ठीक नहीं क्योंकि नियोगशब्द का नाम तक भी इस मन्त्र में नहीं है इत्यादि" कोई अधिक विद्वान् शुद्धान्तःकरण पुरुष यह तो कह सकता है कि अमुक का किया अर्थ ठीक नहीं और यह हो भी नहीं सकता कि सभी का किया अर्थ ठीक होवे क्योंकि अल्पज्ञ होने से मनुष्य का कृत्य प्रामादिक हो सकता है। परन्तु स्वार्थी और साधारण विद्वान् के अर्थ आदि में प्रायः प्रमाद होना सम्भव है और निःस्वार्थी परोपकारशील सर्वहितैषी लोगों के अर्थ में प्रमाद होना अत्यन्त ही कम सम्भव है। क्योंकि प्रमाद का मूल स्वार्थ है प्रसिद्ध भी है कि "स्वार्थी दोषन्न पश्यति" हम ने किसी प्रकार की स्वार्थपरता श्रीस्वामी जी में नहीं देखी जिस से हमें विश्वास होता कि स्वामी जी का कथन प्रामादिक है हम लोग स्वामी जी को आप्त समझते हैं जैसे कि पूर्वकाल में अनेक ऋषि लोग हुए हैं उन्हों ने भी अपनी २ सम्मति से अनेक धर्मादि-विषय में ग्रन्थ बनाये हैं उन में कहीं २ सम्मतिभेद भी है तो क्या हम लोग किसी ऋषि के वाक्य को सहसा कह सकते हैं कि यह ठीक नहीं। इसी प्रकार एक ऋषि स्वामी दयानन्दसरस्वती जी भी हुए उन के कथन को भी ऋषितुल्य ही मानना चाहिये यदि अन्य ऋषियों की सम्मति से स्वामी जी की सम्मति किसी अंश में भिन्न भी हो तो भी हम को अन्य ऋषियों के तुल्य ही सम्मतिभेद मानना चाहिये। और हमारा सिद्धान्त तो यह है कि जहां जिस विषय में ऋषियों की भिन्न २ सम्मति हैं वे सभी ठीक हैं औषधिवत् जैसे एक रोग पर पृथक् २ वैद्यों की सम्मति से अनेक औषधि नियत की गईं उन में सभी औषधियां देश काल वस्तु भेद से उपयोग में आ सकने से सभी ठीक होती हैं ऐसे ही ऋषियों की सम्मति भी किसी देश किसी काल में और किसी मनुष्य के अनुकूल पड़ी कोई ग्रन्थ के तो निरर्थक किस को कहें?। यदि कोई कहे कि तुम स्वामी जी के वचन को ऋषि तुल्य प्रमाण मानते हो इसी कारण हम को भी उन के कथन पर विश्वास कर लेना चाहिये?। चाहे बुरा भी हो। तो हम कहते हैं कि किसी के बुरे वाक्य का ग्रहण न करना चाहिये। परन्तु आप जिस कारण से बुरा समझते हैं वह तो ठीक नहीं क्योंकि नियोग का नाम उस मन्त्र में नहीं इसलिये यदि नियोग विषय में अर्थ न करें तो विवाह का नाम भी उस में नहीं इस कारण विवाह विषयक अर्थ भी नहीं कर सकते इस के साथ ही यह भी नियम होना चाहिये कि जिस २ का नाम जिस २ मन्त्र में हो उसी २ विषय में अर्थ

किया जावे । इस नियम के चलाने में बड़ा गड़बड़ मचेगा अर्थात् ऐसा होगा तो प्रकरण और वक्ता के अभिप्रायानुकूल अर्थ करने की परिपाटी टूट जाने से अनर्थ होने लगेगा । इसलिये यह कहना ठीक नहीं कि जिस का नाम जिस में हो उसी का अर्थ होना चाहिये । और वह प्रकरण निराला है सो क्या है यह नहीं लिखा अर्थात् यह किस प्रकरण का मन्त्र है ? सो भी लिखना चाहिये था जिस सूक्त में यह मन्त्र है उस में प्रायः विवाहसम्बन्धी मन्त्र हैं विवाह और नियोग का परस्पर पूर्ण सम्बन्ध है अर्थात् नियोग भी विवाह का छोटा भाई है। स्वामी जी महाराज ने इस मन्त्र को विवाह और नियोग दोनों विषय में सत्यार्थप्रकाश में लगाया है । विवाह विषय में यह अर्थ किया है कि पुरुष अपनी विवाहिता स्त्री में दश पुत्रों तक उत्पन्न करे और स्त्री को चाहिये कि दशपुत्रों और ग्यारहवें पति को अपने जाने । और नियोग विषय में यह अर्थ किया है कि नियोग को प्राप्त हुई स्त्री ग्यारहवें पति तक नियोग कर सकती है । अब आगे जो लिखा है कि (एकादशम्) का ग्यारह अर्थ करने से स्वामी जी का अर्थ ठीक नहीं और सायणाचार्य जी ने व्याकरणादि के अनुकूल अर्थ किया है इस से उन का अर्थ ठीक है इत्यादि । इस पर कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं क्योंकि "एकादशम्" पद में पूरणार्थ डट् प्रत्यय स्वामी जी महाराज को भी मालूम था यह कुछ नवीन कल्पना नहीं है और पूरणार्थ ही स्वामी जी ने भी किया है अर्थात् (एकादशम्) ग्यारहवां यही अर्थ स्वामी जी ने किया है किन्तु ग्यारह ऐसा नहीं किया । वस्तुतः ग्यारह ऐसा अर्थ करना अशुद्ध है जब नहीं किया तो प्रश्नकर्त्ता की भूल है परन्तु यह नियम करना किसी प्रकार ठीक नहीं ज्ञात होता कि दश संख्या प्रथमपुत्रों की मानी जावे तभी ग्यारहवां पति कह सकें और दश संख्या भी पहिले पतियों की मानें और दश से ऊपर की संख्या वाले पति को ग्यारहवां पति न कह सकें इस नियम के लिये कोई दृष्टान्त नहीं है । यदि व्याकरण का यह नियम होता कि सर्वथा सजातीय की संख्या के पूरक से डट् प्रत्यय न होता और विजातीय संख्या के पूरक से ही डट् प्रत्यय का विधान होता तो अवश्य ग्यारहवें से पहिले दश पति न लिये जाते सो नियम तो है ही नहीं यदि ऐसा नियम कोई माने तो (पञ्चमोऽयं मे पुत्रः) इत्यादि में पूरणार्थ प्रत्यय नहीं होना चाहिये । इसलिये पूर्व दश पति मानने में भी पूरणार्थ प्रत्यय होना किसी प्रकार विरुद्ध नहीं यद्यपि यह मन्त्र विवाहप्रकरण का है परन्तु विवाहपद्धतियों में विवाह समय पढ़ने के लिये नहीं लिखा । और विवाह प्रसङ्ग में मङ्गलसूचक अर्थ स्वामी जी का भी है । नियोग विषय में भी अमङ्गल सूचक नहीं समझना चाहिये क्योंकि वहां भी स्त्री को पुत्रवती करने से तात्पर्य है किन्तु

पति के मरने का कोई पद मन्त्र में नहीं है और ईश्वर ने ग्यारह पति का नियोग में नियम क्यों किया ? एक आगे वा पीछे क्यों नहीं कहा अर्थात् १० वा १२ क्यों न बताये । इस का उत्तर यह है कि जो शंका इस समय ग्यारह पर हुई वही १० और बारह पर भी हो सकती है इस लिये ऐसी शंका करना ठीक नहीं यदि कुछ संख्या न की जाती तो यह भी शंका कोई कर सकता कि संख्या क्यों नहीं बांधी । अर्थात् शंका करने वाले सब प्रकारों पर सन्देह कर सकते हैं और उत्तर देने वाले भी सब प्रकार उत्तर दे सकते हैं ॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखाह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥

निश्चयात्मक बुद्धि वाले मनुष्य संसार में सुखी हैं इस लिये निश्चयात्मक बुद्धि मनुष्य को होना चाहिये ॥ क्रमशः भवन्मित्रो भीमसेन शर्मा

सम्पादक—आर्य्यसिद्धान्त

(गत ३ अंक से आगे मुंशी इन्द्रमणि जी कृत शेष आक्षेपों के उत्तर)

प्रिय पाठक ! अब ६ छठे नियम पर जो मुन्शी जी ने आक्षेपरूप विष उगला है उस को भी उत्तरौषधि से निवृत्त करता हूं वह छठा नियम यह है—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना,—इस पर मुन्शी जी का कथन है कि (इस नियम के स्वामी जी ने दो वाक्य (फ़िक़रह) किये हैं शब्द संसार से लेकर उद्देश्य शब्द पर्य्यन्त पहिला वाक्य (मतन) अर्थात् मूलसूत्र है और शब्द अर्थात् से लेकर उन्नति शब्द पर्य्यन्त दूसरा वाक्य (शरह) अर्थात् उस की व्याख्या है परन्तु यह व्याख्या मूलसूत्र के विरुद्ध है क्योंकि सूत्र में संसार का उपकार करना लिखा है और व्याख्या में तद्विरुद्ध सामाजिक उन्नति लिखते हैं और सामाजिक उन्नति कहते हैं समाजाश्रित जनों की उन्नति को और यह प्रत्यक्ष है कि संसार शब्द से सामान्यार्थ का ग्रहण होता है और समाज शब्द विशेषार्थ का वाचक है—इसलिये संसार का उपकार कह कर फिर उस से समाज की उन्नति अभीष्ट रखना अज्ञानता है)

(उत्तर) इस आक्षेप से मुन्शी जी की तर्कशैली (मन्तिक़दानी) स्पष्ट प्रकट है कि वह कुतर्क को भी तर्क समझ कर तार्किकों का अनुकरण करने में उद्यत हो गये। अस्तु अब मैं मुन्शी जी से पूछता हूं कि क्या आप समाज को संसार से बाहर समझते हैं यदि बाहर समझते हैं तो इस को सप्रमाण सिद्ध कीजिये और यदि संसार के अन्तर्गत ही समाज को स्वीकार करते हैं तो आप का आक्षेप सरासर निर्मूल है क्योंकि समाजोन्नति संसारोन्नति से भिन्न नहीं है अब यहां पर यह

संशय उत्पन्न होता है कि जब संसार का उपकार करने से समाजोन्नति स्वयंसिद्ध है तो समाजोन्नति को पृथक् क्यों कहा इस का समाधान यह है कि वस्तुतः सामान्यार्थ के ग्रहण से विशेषार्थ का स्वयमेव बोध हो जाता है परन्तु यह जानना चाहिये कि व्याख्या किस को कहते हैं ? और वह किस लिये की जाती है—विदित हो कि परस्पर संयुक्त पदों के पदच्छेद और सङ्कुठित अभिप्रायों के भिन्न २ कथन करने को व्याख्या कहते हैं और वह इसी लिये की जाती है कि वक्ता के अभिप्राय को पूर्णरूप से श्रोता समझ लेवे—क्योंकि सूत्र में सामान्य रीति से किसी वस्तु का प्रतिपादन किया जाता है जिस को कि ज्ञाता ही समझ सक्ता है और व्याख्या में विशेष रीति से उस का विवरण किया जाता है जिस से कि सर्वसाधारण उस सूत्र के अभिप्राय को समझ लेते हैं जैसे अष्टाध्यायी का पहला सूत्र (वृद्धिरादैच्) है इस सूत्र का सामान्यार्थ यह हुआ कि आत् और ऐच् की वृद्धिसंज्ञा है अब कहिये आत् और ऐच् को सिवाय वैयाकरण के सर्वसाधारण क्यों कर समझ सकते हैं जब तक कि इस की विशेष व्याख्या न की जाय इस लिये व्याख्या में इस को कहना पड़ेगा कि आ और ऐ औ की वृद्धिसंज्ञा है—बस इसी आर्षशैली का आशय लेकर स्वामी जी महाराज ने यह नियम बनाया है—जैसे संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है इस को तो प्रथम सूत्रस्थानी किया क्योंकि संसार सामान्यार्थ का वाची है फिर यह व्याख्या कहकर कि अर्थात् शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना विशेषार्थ का प्रतिपादन कर दिया—क्योंकि जब उक्त तीनों प्रकार की उन्नति हुई तो फिर संसार के उपकार में शेष ही क्या रह गया—बस इसी का नाम व्याख्या है जो सूत्र के अभिप्राय को पूर्ण जता दे इस को न समझ कर अंडबंड आक्षेप कर बैठना मुन्शी जी की विद्वत्ता का फल है ॥

पाठक ! अब ज़रा मुन्शी जी की बुद्धि की तीक्ष्णता को तो देखिये आप लिखते हैं कि यह व्याख्या मूल सूत्र के विरुद्ध है क्योंकि सूत्र में संसार का उपकार करना लिखा है और व्याख्या में तद्विरुद्ध सामाजिक उन्नति लिखते हैं इस लेख से विदित है कि मुन्शी जी को सामान्य और विशेष का बिलकुल बोध नहीं यदि होता तो संसारोपकार से समाजोन्नति को विरुद्ध कभी न लिखते—क्या वृक्ष के कहने से शाखादि का यद्वा मनुष्य के कहने से स्त्रियादि का ग्रहण नहीं होता ? क्या नगर के कहने से गृहादि और गृह के कहने से उस के अवयव काष्ठ मृत्तिकादि का बोध नहीं होता ? अवश्य होता है—जैसे वृक्षादि सामान्य वस्तुओं में शाखादि विशेष वस्तुओं की सर्वदा स्थिति रहती है इसी प्रकार संसाररूप सामान्य वस्तु में समाजरूप विशेष वस्तु भी सदा स्थित है फिर समाज को संसार से

भिन्न बतलाना अज्ञानता नहीं तो और क्या है? बस इसी पर मुं० जी को इतना घमण्ड है कि दूसरों को असभ्य शब्द कहने में ज़रा भी सङ्कुचित नहीं होते—

अब इस के पश्चात् अष्टम नियम में भी मुं० जी ने अपने मन के फफोले फोड़े हैं वह नियम यह है कि अविद्या का नाश और विद्या का प्रकाश करना चाहिये इस पर मुन्शी जी लिखते हैं कि विद्या का प्रकाश कह कर पुनः अविद्या के नाश को पृथक् वर्णन करना मूर्खता है क्योंकि जब विद्या की उन्नति होगी तब अविद्या का नाश स्वयमेव हो जायगा—जैसे प्रकाश के होते ही अन्धकार दूर हो जाता है अर्थात् प्रकाश का भाव और अन्धकार का अभाव दोनों अन्योन्याश्रय हैं यही हाल विद्या की उन्नति और अविद्या की अवनति का है—जिस समय विद्या की उन्नति होगी सम्भव नहीं कि अविद्या रह सके जब ऐसा है तो फिर अविद्या के नाश को विद्या के प्रकाश से मुख्य समझ कर पृथक् वर्णन करना सरासर अयुक्त है'

(उत्तर) यद्यपि यह सत्य है कि विद्या के प्रकाश से अविद्या की निवृत्ति होती है तथापि बहुधा देखा जाता है कि कहीं २ पर विद्वान् भी किसी कारण से अविद्या के वश में हो विद्याविमुख कार्य कर बैठते हैं जिस का कि उदाहरण प्रत्यक्ष मुन्शी जी हैं विद्या शब्द का अर्थ केवल जानना है और उसी का पर्यायवाची ज्ञान शब्द भी है महर्षि गौतम जी ने ज्ञान को जीव का गुण कहा है यथा (इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् । न्या० अ० १ आ० १ सू० १०) इस से तो प्रत्येक जीव में जानने की शक्ति पाई जाती है और यह बात अनुभव सिद्ध भी है कि मनुष्य का आत्मा सत्य को जानता है परन्तु वह अविद्या लोभ आग्रह हठादि निमित्त के वश से अपने गुण के विरुद्ध कर्म कर बैठता है इसी लिये अल्पज्ञ कहाता है बस इसी अभिप्राय से उक्त नियम में शिक्षा की गई है कि प्रत्येक मनुष्य को विद्या का प्रकाश अर्थात् यथार्थ ज्ञान का लाभ और अविद्या का नाश अर्थात् अयथार्थ ज्ञान का परित्याग करना चाहिये क्योंकि विपरीत बोध का ही नाम अविद्या है जैसा कि महर्षि पतञ्जलि ने स्वकीय योगशास्त्र में कहा है (अनित्याऽशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या यो० सू०) अतएव प्रत्येक का कर्तव्य है कि अविद्या अर्थात् अन्यथा ज्ञान को दूर कर विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान का सर्वत्र प्रकाश करें सो इस में कोई दोष नहीं आता परन्तु क्या कीजीये मुं० जी की बुद्धि को तो आग्रह ने भ्रष्ट कर दिया है क्यों मुं० जी! आप ने अपने शिष्य जी को (जो दिनरात आप के समीप रहते हैं और जिन का आप को बड़ा भरोसा है) शिक्षा नहीं की देखो वह अपनी बनाई आर्यप्रश्नोत्तरी पृ० १८ पंक्ति ३-४ में क्या लिखते हैं—विद्या की वृद्धि और अविद्या के नाश में

यत्नवान् रहना—सच है इस पिशाच पक्षपात के वश में आकर मनुष्य जो न करे सो थोड़ा है ॥

पाठक अब नवें नियम में जो मुन्शी जी ने आक्षेप किया है उस को भी उत्तर सहित निवेदित कर के आप से न्याय का अभिलाषी हूं वह ९ नियम यह है— प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये इस पर मुन्शी जी का प्रलाप सुनिये कि यह नियम भी अन्यथा है क्योंकि यह सम्भव नहीं कि प्रत्येक आर्य ईसाई तथा मुसलमान आदि की उन्नति में अपनी उन्नति चाहे यदि कल्पना कर लीजिये कि कथंचित् कोई ऐसा भी होवै—और परमेश्वर न चाहे उस के मन्तव्यानुसार ईसाई आदि उन्नति भी करैं और वह आर्य उन की उन्नति को अपनी उन्नति भी समझे तो उस का आर्यपन कहां रहेगा ? वह तो उन ईसाई व मुसलमान आदि में ही सम्मिलित हो जायगा शायद कि स्वामी जी का आर्यपन इसी मूल पर क़ायम है यदि शब्द सब से कि जो मनुष्य मात्र का वाचक है कोई सम्प्रदाय विशेष समझा जावे तो भी स्वामी जी का पाण्डित्य प्रकट है कि सामान्य और विशेष के ज्ञान से भी अपरिचित हैं और नहीं जानते कि शब्द सब का प्रयोग किस स्थल पर होता है और उस का अभिप्राय क्या है अतिरिक्त इस के ९ नियम षष्ठ नियम के ही अन्तर्गत है फिर उस को पृथक् नियम स्थापन करना व्यर्थ व निष्फल है क्योंकि षष्ठ व नवम का एक ही आशय व अभिप्राय है ॥

(उत्तर) पाठक इस ऐक्य सूचक परम मनोहर नियम पर भी मुं० जी अपनी क्षुद्र बुद्धि का परिचय दिये बिन न रहे सम्प्रति जिस नियमानुसार विदेशीय बुद्धिमान् जन मन वचन और कर्म से आचरण कर के प्रत्यक्ष अनेकाऽनेक लाभ अपने देश तथा जाति को पहुंचा रहे हैं उस को मुन्शी जी अपनी विलक्षण बुद्धि से दूषित ठहराते हैं किसी कवि ने सच कहा है ॥

गुणिनि गुणज्ञो रमते नागुणशीलस्य गुणिनि परितोषः ।
अलिरेति वनात्कमलं न दर्दुरस्त्वेकवासोऽपि ॥

अस्तु अब मुन्शी जी यह बतलावें कि धर्म मनुष्यजाति के लिये एक है वा भिन्न २ जो कहें भिन्न २ तो हो नहीं सकता क्योंकि श्रेष्ठाचरण का नाम धर्म है और वह जातिवाचक मनुष्यमात्र को सर्वोपरि ग्राह्य है और जो कहें एक तो ठीक है जब कि यह सिद्ध हुआ कि धर्म सबका एक है तो वह जातिमात्र के लिये तुल्य अहेय अनुष्ठेय है अब उन्नति के निदान की ओर ध्यान देते हैं तो इसी धर्म का जैसा कि महर्षि कणाद ने वैशेषिकदर्शन में कहा है (यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः

स धर्मः) अर्थात् जिस से ऐहिक और पारलौकिक दोनो प्रकार की उन्नति सिद्ध हों वह धर्म है—जब ऐसा है तो फिर सब की उन्नति का मूल ही ठहरा धर्म से तात्पर्य कर्त्तव्य कर्मों का करना है इस लिये स्वामी जी महाराज का उक्त नियम से केवल यही अभिप्राय है कि सब लोग पक्षपात ईर्ष्या द्वेष हठ अभिमान दुराग्रहादि को छोड़ कर केवल ईश्वराज्ञानुकूल धर्म का आचरण अर्थात् अपने कर्त्तव्य कर्मों को सम्पादन कर सम्यक् उन्नति को प्राप्त हों और फिर एक दूसरे की उन्नति में अपनी उन्नति समझें जिस से कि विरोध का अभाव हो कर देश की पूर्णोन्नति सिद्ध हो क्योंकि जब तक किसी देश वा जाति में विरोध का अङ्कुर रहता है तब तक उस की पूर्ण प्रकार उन्नति नहीं होती और जब सब का उद्देश्य हो जाता है कि हमारे देश और हमारी जाति की उन्नति में स्वयमेव हमारी उन्नति सिद्ध हो जायगी तो फिर उन्नति होने में देर नहीं लगती दूर क्यों जाते हो इङ्गलिशीय विद्वानों को ही देखो कि इसी शुभोद्देश्य के कारण आज समस्त भारत वर्ष में उन का प्रबल प्रताप छा रहा है ॥

क्या मुन्शी जी ईसाई वा मुसलमान प्रभृति को मनुष्य नहीं समझते ? जो उन की उन्नति से घृणा करते हैं—यदि कोई मुसलमान वा ईसाई अविद्या भ्रम पक्षपात दुराग्रहादि के पाससे (जिन में कि बद्ध हुवा वह कुमार्ग को सुमार्ग तथा दुराचरणों को सदाचरण समझ रहा है) निकल कर माननीय वैदिक धर्मानुसार अपने कर्त्तव्य कर्मों का अनुष्ठान करै (जिस से कि वह अपनी वास्तविक उन्नति कर सकेगा) तो क्या यह अनुचित होगा कदापि नहीं क्योंकि हम पूर्व कह चुके हैं कि धर्म अर्थात् श्रेष्ठाचरण के मनुष्यमात्र समान भागी हैं इस लिये सत्पुरुषों का यह परमधर्म व कर्त्तव्य कर्म है कि जो सदुपदेश कर कुमार्ग गामियों को सुमार्ग पर चलावें अधार्मिकों को धार्मिक और नास्तिकों को आस्तिक बनावें दुराचार से हटा कर सदाचार में लगावैं उन को अवनति रूप पङ्क से निकाल कर उन्नति शिखर पर चढ़ावैं—क्योंकि (परोपकाराय सतां विभूतयः) बस इस मूल पर स्वामी जी महाराज का आर्यत्व था और वह मन कर्म वाणी से परोपकार व देशोन्नति में संलग्न थे और इसी लिये उन्हों ने इस ऐक्यवर्द्धक तथा जात्युन्नति सूचक परम मनोहर नियम को रक्खा परन्तु इस उपकार को कृतज्ञ ही मान सकता है न कि कृतघ्न हम को आश्चर्य है मुं० जी की विलक्षण बुद्धि पर कि वह दुराचारियों के सुधार और अधार्मिकों के उद्धार को बुरा समझते हैं क्या मुन्शी जी का इस में पक्षपात नहीं है कि हम एक जाति में एकव्यक्ति की तो उन्नति चाहें और एक की अवनति, हम को उचित है कि जातिमात्र की सब व्यक्तियों को समान दृष्टि से देखें —तभी निष्पक्ष कहला सकते हैं अन्यथा नहीं

और विशेष कर उन्मार्गगामी तथा दुराचारी पुरुषों के सुधार में सचेष्ट रहें तभी धर्म की वृद्धि होकर देश का कल्याण हो सकता है अन्यथा नहीं क्योंकि अधार्मिक ही धर्म का हनन करके देश में दुराचार व अत्याचार फैलाते हैं—नहीं मालूम कि मुन्शी जी किसी की उन्नति से उस के भ्रममूलक मन्तव्यों और अधर्मपूरित वासनाओं की उन्नति क्योंकर समझते हैं? क्या कोई भी मनुष्य अपनी वास्तविक उन्नति का मूल अधर्म को बना सकता है यदि भ्रम से ऐसा समझे भी तो क्या अधर्म से कभी सुख की वृद्धि हो सकती है कभी नहीं अधर्म दुःख का मूल है यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त से सिद्ध है इसलिये किसी की वास्तविक और सच्ची उन्नति तभी होगी जब कि वह श्रेष्ठ चरण सम्पन्न हो धर्म्मानुयायी बनेगा बस इसी अभिप्राय को लक्ष्य में धर कर स्वामी जी महाराज ने (जो मनुष्यमात्र के शुभचिन्तक थे) सब के कल्याणार्थ इस नियम को रक्खा है जिस को न समझ कर मुन्शी जी वृथा प्रलाप करते हैं और शब्द सब से (जोकि सामान्य जाति का वाचक है और जिस का प्रयोग यहां पर न्याय दृष्टि से सर्वथा शुद्ध व उपयुक्त है) सन्दिग्ध होते हैं सो ये उन का सरासर पक्षपात व अन्याय है—यदि इस के विरुद्ध इस नियम में किसी विशेष व्यक्ति वा सम्प्रदाय की उन्नति अभीष्ट होती तो निस्संदेह पक्षपात युक्त होने से आक्षेप करने योग्य होता अब पाठक न्याय करें कि सामान्य और विशेष के ज्ञान से मुन्शी जी अपरिचित हैं वा स्वामी जी? और इस से स्वामी जी का पाण्डित्य प्रकट है वा मुन्शी जी का?—अब द्वितीय ध्यान देने योग्य बात यह है कि मुन्शी जी इस नियम को षष्ठ नियम के ही अन्तर्गत बतलाते हैं और कहते हैं कि इन दोनों का अभिप्राय एक ही है इत्यादि—पाठक इस आक्षेप से विदित है कि मुन्शी जी को अर्थभेद समझने की किञ्चित् भी योग्यता नहीं आप लोग ६ नियम को सुन चुके हैं कि उस में शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति पूर्वक संसार का उपकार करना वर्णन किया गया है और इस में उस से भिन्न प्रत्येक को सब की उन्नति में सन्तुष्ट रह कर अपने को उन्नत समझना दर्शाया गया है इन दोनों का प्रत्यक्ष भेद यह है कि छठे नियम का तात्पर्य तो तीनों प्रकार की उन्नति से है और इस नियम का तात्पर्य केवल सामाजिक उन्नति से है अथवा छठे नियम में तो उन्नति करना लिखा है और इस में उन्नति करने की रीति बतलाई गई है इस को न समझ कर सहसा आक्षेप कर बैठना अपनी अयोग्यता का परिचय देना है—

बदरीदत्त शर्मा

उपदेशक आर्यसमाज

मुरादाबाद

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग २ | भाद्रपद संवत् १९४५ | अङ्क ५

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह ।
ब्र॒ह्मा मा॒ तत्र॑ नयतु ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे ॥

गत अंक ४ पृष्ठ ५८ से आगे महामोहविद्रावण का उत्तर ॥

यत्तु "न चत्वार्य्येव प्रमाणानि किन्तर्हि ऐतिह्यमर्थापत्तिः सम्भवोऽभावइत्येतान्यपि प्रमाणानि इतिहोचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यमैतिह्यम्" इति वात्स्यायनीयमुपन्यस्य "अनेन प्रमाणेनापीतिहासादिनामभिर्ब्राह्मणान्येव गृह्यन्ते नान्यत्" इत्यर्थकथनं तत्तु शुष्कमस्थिलिहानस्य स्वीयतालुविनिर्घर्षणजाऽसृक्पाननिरतस्य शुनो वृत्तमनुहरतीति न किञ्चिदिह वक्तुमुचितम् ॥ यदपि—

अन्यच्च ब्राह्मणानि तु वेदव्याख्यानान्येव सन्ति नैव वेदाख्यानीति। कुतः "इषेत्वोर्ज्जेत्वेति" शतपथे काण्डे १ अध्या० ७ इत्यादीनि मन्त्रप्रतीकानि धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यानकरणात् ॥

इत्याह कश्चिदिन्द्रियारामः तदप्यनवबोधविजृम्भितम्। अत्र हि ब्राह्मणानि न वेदाः वेदवाक्यधारणपूर्वकवेदव्याख्यानरूपत्वात् इत्यादिर्न्यायाकारः। अत्र हि स्मर्य्यमाणकर्तृकत्वं रागवत्पुरुषकर्तृकत्वं चोपाधिरित्येतदनुमानं पूर्वोक्तरीत्याऽपाकरणीयमिति न किञ्चिदेतत् ॥

किञ्च व्याख्यातव्यव्याख्यानयोर्नैकपदवाच्यमिति व्याप्तिर्न सम्भवति "पश्वादिभिश्चाविशेषात्" इति. भाष्यस्य स्वेनैव श-

ङ्कराचार्येण भाष्यपदव्यपदेश्यविपुलव्याख्यानकरणात् । भाष्ये हि स्वपदानि सर्वत्र स्वपदैरेव व्याख्यायन्ते। अत एव "अथ शब्दानुशासन" मिति पातञ्जलेपि, अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थ इत्यादिव्याख्यानम् । नाप्यनेककर्तृकत्वं व्याख्यातव्यव्याख्यानयोरिति व्याप्तियेनेश्वरप्रणीतत्वाभाव आशङ्क्येत ब्राह्मणेषु, पूर्वोक्तस्थलयोरेवानेककर्तृकत्वस्य व्याख्यानव्याख्येयभावव्यभिचारित्वदर्शनात् नच भाष्यादिग्रन्थे ग्रन्थान्तरस्थवृद्ध्यादिपदानां व्याख्यानं नाद्यध्याद्यादिपदवाच्यमेवमिहापि संहितास्थपदव्याख्यानरूपैर्ब्राह्मणैर्न भवितव्यं संहितापदवाच्यैरिति महदनिष्टमापद्येतेति शङ्क्यम्। ब्राह्मणेषु संहितापदव्यवहार्यत्वस्याऽस्माकमप्यनिष्टत्वात् । नच तावता वेदाम्नायपदव्यवहार्य्यत्वस्य व्याहतिप्रसङ्गः। ब्राह्मणानि संहितापदाव्यवहार्य्याण्यपि वेदाम्नायपदव्यवहार्य्याणीत्यस्यैवास्माभिरप्यङ्गीकारात् ॥

महामोहविद्रावण की भाषा

और जो यह कहा है कि "चार ही प्रमाण नहीं किन्तु ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव, ये भी प्रमाण हैं। पूर्वज लोग ऐसा कहते थे इस प्रकार किसी निज पुरुष के नाम विना ही परम्परा से कहते आये हों उस को ऐतिह्य कहते हैं, इस प्रकार वात्स्यायन के वचन को कह कर "इस प्रमाण से भी इतिहासादि नामों करके ब्राह्मण ग्रन्थों का ही ग्रहण होता है अन्य का नहीं" वात्स्यायन भाष्य का यह अर्थ कहना ऐसा है कि जैसे सूखे हाड़ों को चाब २ स्वाद लेते हुए अपने तालु में हाड छिद के निकले रुधिर के पीने में प्रवृत्त कुत्ते का वर्त्ताव हो इस लिये इस पर कुछ कहना उचित नहीं । और जो विषयासक्त (दयानन्द) ने "ब्राह्मण तो वेद के व्याख्यान ही हैं किन्तु वेद नहीं क्योंकि (इषे त्वा०) इत्यादि मन्त्रों की प्रतीकें धर के ब्राह्मण भागों में वेदों का व्याख्यान किया है" कहा है सो भी पागल की सी जम्भाई है । यहां वेद वाक्यों के धारण पूर्वक व्याख्यान होने से ब्राह्मण वेद नहीं यह न्यायाकार है अर्थात् मिथ्या न्याय है । अर्थात् यह नियम नहीं है कि जो व्याख्यान करे वह मूल को न बनावे और जो मूल को बनावे वह उस का व्याख्यान वा भाष्य न करे वा न कर सके। अर्थात् यह देखने में आता है कि जो मूल को बनाते हैं वे स्वयं कोई २ लोग उसी पर भाष्य भी करते हैं और प्राचीन भाष्यकारों की प्रायः यही शैली है कि पहिले मूल ब-

चन कह के उस पर भाष्य करते हैं। जैसे स्वामी शङ्कराचार्य्य जी ने (पश्वादिभिश्चा-विशेषात्) इत्यादि अपने मूल वचनों का आप ही व्याख्यान किया है (अथ शब्दा-नुशासनम्) इत्यादि अपने मूल वचनों का व्याख्यान महाभाष्यकार पतंजलि महर्षि ने भी किया है इस से जब व्याख्यान व्याख्येय के भिन्न २ कर्त्ता होने का नियम नहीं रहा तो व्याख्यान होने से ब्राह्मण पुस्तक वेद नहीं यह कहना नहीं बनेगा क्यों कि जिस के बनाये वेद हैं उसी ईश्वर के बनाये होने से ब्राह्मणरूप व्याख्यान हो सकते हैं। और जैसे अष्टाध्यायी के वृद्धि आदि पदों का जिन में व्याख्यान हो वे पुस्तक अष्टाध्यायी नहीं होंगे वैसे संहिता मंत्रों के व्याख्यान ब्राह्मण पुस्तक भी संहिता नहीं कहावेंगे। पर इतने से ब्राह्मण ग्रन्थों के वेद मानने में कोई दोष नहीं आता। हम लोग भी यही मानते हैं कि ब्राह्मण भाग संहिता नहीं पर वेद तो अवश्य हैं ॥ यह महामोहविद्रावण की भाषा है इस का उत्तर संस्कृत में ॥

अत्र प्रसङ्गे वात्स्यायनभाष्याभिप्रायेण तत्र भवद्भिर्दयादि-स्वामिभिर्ब्राह्मणभागानामवेदत्वं प्रतिपादितं तस्य नैरर्थक्यं कुत्सितशब्दैर्महामोहवित्-रावणो ब्रवीति तत्तु न सम्यक् प्रतिषेधहेत्वभावात्। नहि कुवाक्यैः शास्त्रीयविषयस्य कस्यचित्खण्डनं सम्भवति। यत्तु व्याख्यानव्याख्यातव्ययोरभेदः प्रतिपादितः शङ्करस्वाम्याद्युदाहरणान्यप्युक्तानि तत्रेदं विचार्य्यते यद्यप्ययं नियमो नास्ति येन व्याख्यातव्यं निर्मीयते तेन व्याख्यानं न क्रियेत। तथैवायमपि नियमो नास्ति येन व्याख्यातव्यं निर्मितं तेनैव व्याख्यानमपि कृतं स्यात्। उभयतोऽनियमे अन्यत्र कामचारः। नतु सर्वत्र कामचाराभ्यनुज्ञापि कर्त्तुमुचिता पौरुषेयग्रन्थेष्वेतदुभयं वक्तुं ज्ञातुं च शक्यते। क्वचिन्मूलकर्त्रैव स निबन्धो व्याख्यायते क्वचिच्चान्येनेति सर्वं दृश्यते। अपौरुषेये वेदे चैतन्नैव सञ्जाघटीति। वेदस्य व्याख्यानमीश्वरएवचेत्कुर्य्यात्तर्हि वेदार्थस्य स्मरणं स्मृतिरिति मन्वादिस्मृतीनां वैयर्थ्यं प्रसज्येत। अथवा मन्वादिस्मृतयोऽपि वेदपदवाच्याः स्युः। वेदव्याख्यानत्वे स्वीकृतेऽपि ब्राह्मणानां वेदत्वं तादृशार्थाभिधायकगृह्यसूत्रकल्पानामवेदत्वमित्यत्र किं विशिष्टं प्रमाणमस्ति यदि वेदस्य

व्याख्यानमपि वेदः स्यात्तर्हि सायणादिभाष्याणां वेदत्वस्य को वारयिता ? । अतएव स्वामिभिरुक्तं–ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यानकरणान्न तेषां वेदत्वमिति तदुच्यते मन्त्रसंहितानां व्याख्यानरूपैर्ब्राह्मणभागैः संहितापदवाच्यैर्न भवितव्यमित्यस्माभिरपि स्वीक्रियते । तत्रेदं तावदयं प्रष्टव्यः किं संहितात्वं नाम ? यदीतरेतरं वर्णानां सान्निध्यं संहिता तर्हि तद्ब्राह्मणभागेष्वप्यस्त्येव । यदि च मन्त्रभागे रूढः संहिताशब्दस्तर्हि वेदशब्दोऽपि ऋगादिमन्त्रभागेरूढोऽस्ति सञ्ज्ञायां घञोविहितत्वात् । यथा ऋगादिमन्त्रभागस्य शीर्षके ऋग्वेदइत्यादिशब्दा दृश्यन्ते नैवं ब्राह्मणेषु यजुर्वेदस्य मूलं हि भेदो माध्यन्दिनीयकइत्यादिप्रमाणैरपि मन्त्रभागानामेव मूलवेदत्वसम्भवात् । व्याख्यानरूपेण च ब्राह्मणानि ऋषिप्रणीतानि सन्तीति प्रतिपादितपूर्वं बहुशः ॥

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में स्वामी जी महाराज ने लिखा है कि इतिहास विषयक वात्स्यायन ऋषि के प्रमाण से भी इतिहासादि नाम वाले ब्राह्मणभाग ही लिये जाते हैं इस पर महामोहवेत्ता रावण जी जो कहते हैं वह युक्त नहीं है क्योंकि किसी के कथन को बुरा कह दिया जाय और बुरे होने का कारण न बताया जाय तो बुद्धिमान् लोग कदापि न मानेंगे यहां भी उक्त महाशय ने स्वामी जी को कुवाच्यमात्र बहुत तीव्र वाण चलाये हैं पर उन कुवाच्यों से क्या स्वामी जी का कथन खण्डित हो सकता है ?। हमारा काम यह नहीं कि इस के बदले हम भी कुवाच्य कहें । व्याख्यान और व्याख्येय (मूल) के विषय में जो यह कहा है कि (इषेत्वा०) इत्यादि प्रतीक धर व्याख्यान करने से ब्राह्मणभाग मूलवेद नहीं यह स्वामी जी का कथन विरुद्ध है क्योंकि व्याकरणादि के व्याख्यान भी व्याकरणादि नाम से प्रसिद्ध हैं तथा यह भी नियम नहीं कि जो मूल बनावे वह व्याख्यान न करे प्रायः ऐसा दीख पड़ता है कि जो मूल बनाता है वही उसका व्याख्यान भी करता है जैसे शङ्कर स्वामी तथा पतञ्जलि ऋषि अपने २ भाष्यों में आप ही मूल सूत्ररूप वचन कह कर स्वयमेव उस का व्याख्यान करते हैं जैसे स्वामि शङ्कराचार्य्य जी ने (पश्वादिभिश्चाविशेषात्) इत्यादि लिखा है” उक्त महाशय के इत्यादि लेख से यह तो स्पष्ट होगया कि ब्राह्मणभाग व्याख्यान है मूल नहीं अब यह विचार शेष रहा कि वह व्याख्यान किस का बनाया है ?। इस प्रसङ्ग में यह तो हमें भी मानने ही पड़ेगा कि जो मूल बनावे गा वह व्याख्यान भी करे तो कर

सकता है अर्थात् यह नियम नहीं हो सकता कि जिसने मूल को बनाया है वह व्याख्यान न करे पर इस के साथ हम इस नियम को भी नहीं मान सकते कि जो मूल बनावे वही व्याख्यान भी अवश्य करे इस अवस्था में लौकिक ऋषियों के ग्रन्थों पर दृष्टि दीजावे तो प्रायः मूल और व्याख्यान के कर्त्ता भिन्न२ ऋषि आदि होते आये हैं जैसे अष्टाध्यायी रूप मूल व्याकरण के व्याख्याता पतञ्जलि ऋषि हुए। अब जो (अथ शब्दानुशासनम्) इत्यादि अपने वचनों का व्याख्यान है यह तो भ्रान्ति है क्योंकि महामोहविद्रावण कर्त्ता व्याकरण की प्राचीन आर्ष परिपाटी को नहीं जानते इसी कारण व्याकरण के प्रथम सूत्र में भ्रम हो गया (अथ शब्दानुशासनम्) यह अष्टाध्यायी व्याकरण में पाणिनि का पहिला प्रतिज्ञा सूत्र है और चार सौ वर्ष पहिले के लिखे अष्टाध्यायी के पुस्तकों में लिखा भी मिलता है। इत्यादि अनेक कारणों से सिद्ध हो चुका है कि यह सूत्र अष्टाध्यायी का है अब रहे महाभाष्य में अन्य मूल वचन सो प्रायः वार्त्तिककार के वार्त्तिक सूत्र हैं जिन वार्त्तिककार को सिद्धान्तपाठी प्रायः वैयाकरण लोग जानते हैं कि वार्त्तिक कर्त्ता कात्यायन ऋषि हैं और वैसा ही कैयटादि भी लिखा करते हैं। शङ्कर स्वामी जी ने भी किसी के वचन को प्रसङ्गोपयोगी समझ के लिया हो तो कौन असम्भव कह सकता है?। तथापि यदि अपने मूल वचन बना के कहीं २ व्याख्या की हो तो असम्भव नहीं है क्योंकि मनुष्य के कृत्य में यह बन सकता है परन्तु ईश्वरीय वेद के विषय में यह कथन नहीं घट सकता यदि वेद के व्याख्यान भी ईश्वर की ओर से मानलें तो ऋषियों का वेद विषयक अनेक ग्रन्थ बनाना व्यर्थ हो जावे मनुस्मृत्यादि धर्मशास्त्रों को भी वेद मूलक मानते हैं तो जब ईश्वर ही व्याख्यान भी करता है फिर मनुस्मृत्यादि अन्य कृत वेद व्याख्यान क्यों माने जावें वा मनुस्मृत्यादि भी वेद हो जावें तो सभी के वेद हो जाने से ऋषिप्रणीत किस को कहें? इत्यादि अनेक बखेड़े ब्राह्मणों के मूल वेद मानने में पड़ते हैं। और बड़ा दोष यही है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में जिन्हीं जिन मनुष्यों का इतिहास होने पर भी उन को वेद मानें तो अन्य इतिहास के ग्रन्थ वेद नहीं इस के लिये हम क्या प्रमाण दे सकते हैं?। तथा जब ब्राह्मण ग्रन्थों को संहिता पदवाच्य नहीं मानते तो वेद पद वाच्य क्यों मानते हो? यदि संहिता शब्द का अर्थ व्याकरण के अनुसार करो तब तो परस्पर वर्ण और पदों का प्राप्तिरूप सम्बन्ध ब्राह्मणों में भी है इस अर्थ से ब्राह्मण भाग भी संहिता पदवाच्य हो सकते हैं यदि संहिता शब्द को मन्त्र भाग की ऋगादि पुस्तकों में रूढि मानो तो वेद शब्द भी घञ् प्रत्ययान्त योगरूढ़ है वह भी शीर्षक (हेडिंग) लेख आदि से मन्त्र भागों पर दीख पड़ता है अर्थात् ऋग्वेदादि शब्द मन्त्र भाग के पुस्तकों में तो दीख पड़ते हैं और ब्राह्मण भागो में नहीं दीखते किन्तु ब्राह्मण के विशेष नाम मात्र दीखते हैं इत्यादि। और लौकिक

व्यवहार में भी यही प्रसिद्ध है कि यदि कोई कहे कि ऋग्वेद लाओ तो वही मन्त्र भाग संहिता लायी जाय गी किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण को कोई न लावे गा अर्थात् ऐतिह्य (परम्परा) प्रमाण से भी मन्त्र भाग ही मूल ईश्वरीय वेद ठहरते किन्तु ब्राह्मण नहीं इसी अभिप्राय से स्वा० द० जीने वात्स्यायन भाष्य ऐतिह्य प्रमाण से भी ब्राह्मण भागों का वेद न होना कहा है जिस आशय को न समझ कर महामोहविद्रावण कर्त्ता ने कुवाच्य शब्दों की वर्षा की है। यद्यपि ऐतिह्य प्रमाण में चपला चल सकता है अर्थात् ऐसी भी अनेक निर्मूल वार्त्ता कभी २ बीच से चल जाती हैं जिन का पता मिलना दुस्तर है और वे विषय हानि कारक भी होते हैं उन को भी अनेक लोग कहते हैं कि यह बात परम्परा से चली आती है सो उस को ऐतिह्य (परम्परा) प्रमाण में नहीं मानना चाहिये। क्योंकि कई विषय तो ऐसे होंगे जिन का ऐतिह्य में लक्षण ही नहीं घट सकेगा जैसे कोई कहे कि अमुक का पुत्र ईश्वर है उस की उपासना करनी चाहिये तो जो पुरुष किसी का पुत्र हुआ वह अपने पितामह के जन्म समय अवश्य न होगा फिर उस से पहिले की सृष्टि किस की उपासना करती रही ? वा पहिले ईश्वर का अभाव था ? इस से ईश्वर के होने का समय भी परिमित हो गया जिस पदार्थ की अवधि (हद) हो वह परम्परा से सिद्ध नहीं हो सकता किन्तु जिस की अवधि न हो वही परम्परा से सिद्ध कहावे गा अब रही ऐसी बात जिस का पता न लगे कि यह कब से चली है उस को ऐतिह्य मानने में भी झगड़ा है जैसे पहाड़ी पृथिवी के जङ्गल में किसी साधु ने एक पत्थर की पटिया पर कपड़ा रंगने को गेरू घिसा पीछे किसी ग्रामीण ने पत्थर को लाल देख कर जाना कि यह किसी देवता की मूर्त्ति है इस की पूजा होती है उसने भी रोरी आदि से पूजा की पीछे देखा दूनी सभी करने लगे भेड़ चाल चल गई किसी को उस का मूल पूछो तो नहीं बता सकता कि कब से इस की पूजा होती है सब यही कहेंगे कि यह परम्परा से होती आई है। परन्तु ऐसी परम्परा को वास्तव में अन्धपरम्परा मानना चाहिये अर्थात् अन्धे को अन्धा ठिकाने पर नहीं पहुंचा सकता। "नौर्नौवि बद्धा नेतरत्राणाय भवति" जैसे एक नौका में दूसरी नौका बंधी हो तो एक दूसरे की रक्षा नहीं कर सकती। ऐसी ही अन्धपरम्परा कही है। अब सिद्धान्त यह है कि ऐतिह्य (परम्परा) से उन बातों का प्रमाण मानना चाहिये जिन में अन्य भी युक्ति वा प्रमाण मिलते हों जो बुद्धि के अनुकूल और वेदादि शास्त्रोक्त धर्म से भी अविरुद्ध हो उस को परम्परा से भी पुष्ट कर सकते हैं। अथवा धर्म सम्बन्धी आचरणों में जहां २ कई पक्ष ठीक माने गए हैं अर्थात् जहां दोनों प्रकार करना धर्मानुकूल होता है वहां अपने कुल, देश और जाति परम्परा से जिस पक्ष के अनुसार होता आया हो वैसा करे। जैसे मुण्डन संस्कार के लिये मनुस्मृति में लिखा है—

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव जन्मतः ।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों का चूडा कर्म (मुण्डन) संस्कार पहिले वा तीसरे वर्ष करना चाहिये परम्परा तीन प्रकार की माननी चाहिये कुल परम्परा देश परम्परा और जाति परम्परा। देश परम्परा कई पदार्थों के खाने पीने का वा पहरने ओढ़ने का भेद। जैसे पगड़ी, धोती, पाजामा आदि वस्त्रों तथा लशुनादि भक्ष्याभक्ष्य का विचार देश और जाति के अनुसार रखना चाहिये यदि इन कार्यों को देशादि से विरुद्ध कोई करता है तो वह उस जाति (समुदाय) में निन्दित होता है इसलिये उस समुदाय के अनुकूल ऐसे व्यवहार करने चाहिये। परन्तु कुल देश वा जाति में अधर्म सम्बन्धी कोई काम चला आता हो तो अवश्य छोड़ देना चाहिये उस के छोड़ने में कोई बुराई भी करे तो धर्म को मुख्य समझना चाहिये पर ऐसे कामों को देश कुल वा जाति से विरुद्ध कदापि न करे जिन से परलोक न बिगड़ता हो भले ही वह कार्य धर्म सम्बन्धी न हो अर्थात् तीसरे प्रकार का अशिष्टाप्रतिषिद्ध भले ही हो कि जिस के करने का विधि निषेध दोनों न हों कोई कहे कि ऐसे काम नहीं हो सकते जो धर्म अधर्म दोनों से अलग हों तो उत्तर यह है कि ऐसे अनेक काम हैं जो धर्म अधर्म से कुछ सम्बन्ध नहीं रखते। जैसे एक प्रकार की टोपी वा पगड़ी हम लोग पहनते हैं और ईसाईयों का टोप हमारे सब प्रकारों से विलक्षण है पर किसी शास्त्रकारने नहीं लिखा कि ईसाईयों की सी टोपी न देवे और न कोई किसी प्रकार की टोपी के देने न देने में धर्माधर्म सिद्ध कर सकता है कि इस प्रकार की टोपी में अमुक धर्म वा अधर्म है तो ऐसे स्थलों में हम को कुल जाति और देश परम्परा के अनुसार आचरण करना चाहिये। पाठक महाशय समझेंगे कि यह अपने प्रकरण से अलग होगया सो नहीं है किन्तु मुझ को स्मरण है स्वामी जी ने ऐतिह्य (परम्परा) प्रमाण से भी ब्राह्मण भागों का वेद न होना सिद्ध किया है उस को महामोहविद्रावण कर्त्ता नहीं समझे सो मैंने स्वामी जी महाराज का अभिप्राय परम्पराविषय में दिखाया पीछे परम्परा का प्रसंग आगया तो उस विषय में कुछ अपना भी आन्तर्य्य प्रकट कर दिया। यद्यपि इस ऐतिह्य (परम्परा) विषय पर और भी लिखा जाता पर इस प्रसंग की अन्य बात को अवकाश न रहेगा। इस कारण फिर कभी यथावसर लिखा जायगा ॥

महामोहविद्रावण कर्त्ता का यह भी कथन है कि जब (विविधाश्चोपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः) इस मनुस्मृति के प्रमाण से उपनिषद् जो ब्राह्मण भागों के अन्तर्गत हैं उन का श्रुति पद वाच्य होना सिद्ध है और वेद तथा श्रुति एक ही के नाम हैं तो अब भी क्या ब्राह्मण भागों के वेद होने में शंका हो सकती है ?

इस का उत्तर देने से पहिले यह विचार है कि श्रुति किसे कहते हैं ? श्रुधातु से क्तिन् प्रत्यय करने से श्रुति बनता है (श्रूयतेऽनया सा श्रुतिः) ऐसा अर्थ करने से कान का नाम श्रुति होता है और (श्रूयते या सा श्रुतिः) ऐसा अर्थ करते हैं तब सामान्यार्थ यह होता है कि जो सुना जाय वह श्रुति है पर इस में इतना विशेषार्थ लिया जाता है कि जिन वाक्यों का कोई कर्त्ता तथा काल ज्ञात नहीं होता कि इन वाक्यों को अमुक समय अमुक ने बनाया उन को श्रुति कहते हैं पर इस के दो भेद हैं एक तो ऐसे वाक्य हो सकते हैं कि जिन का कर्त्ता और कोई समय तो है पर किसी को ज्ञात नहीं उन के साथ एक जन शब्द और लगा देते हैं उस को जनश्रुति (कहावत) प्रसिद्ध में कहते हैं और वास्तव में जिन वाक्यों का कर्त्ता कोई पुरुष विशेष किसी से नहीं देखा गया उन्हीं को वेद का पर्याय श्रुति कहते हैं। सो मनु जी ने ही क्या किन्तु अन्य भी कई महर्षियों ने उपनिषदों को श्रुति कहा है। इस में वाजसनेयोपनिषद् तो मूल वेदों में ही है और उपनिषद् शब्द का अर्थ ब्रह्मविद्या वा आत्मविद्यापरक यौगिक लिया जाय तब मनु आदि के अनुसार वेदों के आत्मविद्या विषयक मन्त्र औपनिषदी श्रुति हो सकते हैं और यदि कोई उपनिषद् शब्द को रूढि भी माने तो भी श्रुति शब्द के सामान्य अर्थ से दोनों प्रकार की श्रुति लो जावेंगी इस में वेद सम्बन्धी तो वाजसनेयोपनिषत् तथा अन्य उपनिषदों में भी कई मंत्र ज्यों के त्यों जैसे वेद संहिता में हैं वे ही उठा के रक्खे हैं उन के लिये श्रुति शब्द वेद पर्यायार्थ चरितार्थ है और लौकिक श्रुति तो ब्राह्मण ग्रन्थों को आर्ष मानने पर भी कह सकते हैं क्योंकि ब्राह्मण और उपनिषदों के भी कोई नियत कर्त्ता और नियत समय नहीं हैं और (श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्म शास्त्रं तु वैस्मृतिः) इत्यादि वचनों से यह तो सिद्ध है कि श्रुतिनाम वेद का भी है पर लौकिक कोशों में कान तथा कहावत का नाम भी श्रुति है ही सो उपनिषद् को जहां श्रुति कहा है वहां मनुआदि महर्षियों का अभिप्राय वेद ही के ग्रहण में समझा जावे तो भी कोई दोष नहीं क्योंकि हम लोग जब (छन्दोवत सूत्राणि भवन्ति । वा छन्दोवत्कवयः कुर्वन्ति) इत्यादि प्रमाणों के अनुसार काव्य तक को वेद तुल्य मान के वैसे कार्य और व्यवहार करते हैं तो अत्यन्त निकट जो ब्राह्मण भाग हैं उन में वा उपनिषदों में प्रशंसा बुद्धि से वेद शब्द का गौण प्रयोग करें तो क्या अनुचित होगा। इतिहास पुराणं पञ्चमो वेदानां वेदः । यहां भी प्रशंसा बुद्धि से इतिहास पुराणों को पंचम वेद कहा है वास्तव में वेद चार ही हैं ऐसे ही व्याख्यान बुद्धि से वा प्रशंसा बुद्धि से मनु जी ने उपनिषदों को श्रुति कहा है इत्यादि कथन से यह सिद्ध हुआ कि ब्राह्मणादि को मनुस्मृत्यादि में श्रुति वाच्य कहने से भी वे मूल अपौरुषेय अनादि वेद नहीं हो सकते । क्रमशः ॥ भवन्मित्रो–भीमसेन शर्म्मा

सम्पादक आ० सि०

रामानुजीयमतसमीक्षा अङ्क ३ पृ० ४६ से आगे

महाशयो ! मैं, आप लोगों की सेवा में इस बात को प्रकाश कर चुका हूं कि शठकोप जी शूद्र थे परन्तु उन ही के ग्रन्थों से और भी जो प्रमाण मिले हैं उन को लिखता हूं ॥

वेदान्ताचारिणोक्तं तस्मिन्नेव ग्रन्थे शठकोपस्य शूद्रत्वे तृतीयं प्रमाणम् । नित्योथ मुक्तउत तद्गुणको मुमुक्षुर्व्यासादिवद् भगवता किमनुप्रविष्टः ? ॥

अत्र्यादिसूनुरिह वर्णयुगक्रमात् किमासीत्पुराणपुरुषः शठवैरियोगी ॥ अस्य भाष्यमपि तैः कृतमेव लिख्यते ॥ अत्र वर्णक्रमो युगक्रमश्चेति ॥ कृते ब्राह्मणस्यात्रेः पुत्रो दत्तात्रेयः ॥ त्रेतायां क्षत्रियस्य दशरथस्य पुत्रो रामः ॥ द्वापरे वैश्यस्य नन्दस्य पुत्रः कृष्णः ॥ कलौ शूद्रस्य कारिणः पुत्रः शठकोपः ॥ इति ॥

इस की भाषा ॥ पुराण पुरुष शठकोप पहिले होता भया कैसा शठकोप है कि नित्य है, और मुक्त है, और गुणवान् है और मुमुक्षु अर्थात् मोक्ष की इच्छा करने वाला है । जैसे व्यास आदिक ईश्वर के अवतार हुए वैसे यह भी अवतार था ॥ और अत्रि, आदिकों के जैसे वर्णक्रम से पुत्र होते चले आये हैं वैसे यह भी है । उक्त भाष्य का अर्थ ॥ यहा वर्णक्रम युगक्रम से जानना चाहिये ॥ जैसे सत्ययुग में ब्राह्मण के यहां भगवान् का अवतार दत्तात्रेय हुआ ॥ और त्रेता में क्षत्रिय दशरथ के यहां भगवान् का अवतार रामचन्द्र हुए ॥ द्वापर में वैश्य-नन्द के यहां भगवान् का अवतार कृष्णचन्द्र हुए ॥ इसी तरह कलियुग में कारी नामक शूद्र का पुत्र भगवान् का अवतार शठकोप हुआ ॥

विचारशीलो ! ध्यान देकर विचारिये कि इस प्रमाण से शूद्रत्व ठीक सिद्ध हुआ या नहीं ?। अब लीजिये उक्त श्लोक में इन के विशेषण देने की बुद्धिमानी पहिला विशेषण यह देते हैं कि शठकोप जी नित्य थे और फिर कहते हैं कि शठकोप अवतार हुए ॥ भला कोई भी विद्वान् इस बात को स्वीकार कर सक्ता है कि जो नित्य हो उस का जन्म भी कह सके ॥ यतः "सदकारणवन्नित्यम्" यह वैशेषिक का सूत्र है ॥ अर्थात् जो विद्यमान हो और जिस का कोई कारण न हो वह नित्य कहाता है ॥ इस से यह कथन तो इन का बन्ध्या पुत्र और खपुष्प से भी अधिक मालूम पड़ता है ॥ और द्वितीय विशेषण यह देते हैं कि शठकोप जी मुक्त थे और फिर आगे लिखते हैं कि मुमुक्षु थे । न्यायशीलो ! व्याकरण की रीति

से (मुमुक्षु) यहां मुच्लृ मोचने धातु से इच्छा अर्थ में (धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा ॥ ३।१।७॥) इस पाणिनीय सूत्र से सन् प्रत्यय होकर मुमुक्षु यह पद सिद्ध होता है और इस पद का अर्थ यह है कि मोक्ष की इच्छा करने वाला और मुक्त यहां उसी धातु से भूत अर्थ में । निष्ठा । ३।२।१०२॥ इस सूत्र से क्त प्रत्यय होता है । विचारशीलो विचार का स्थान है कि जो मुक्त होगा वह मोक्ष की इच्छा करने वाला क्योंकर कहा जा सक्ता है ? । अथवा जो मोक्ष की इच्छा करता है उस को मुक्त कौन कह सक्ता है ?। ये दोनों विशेषण आपस में रात्रि और दिवस के समान विरोधी हैं इस बात को आप लोग अच्छे प्रकार जान लोगे कि इन के प्रथम आचार्य उक्त ग्रन्थ के कर्त्ता इतने पण्डित थे इन का वर्ण तो शूद्र था फिर पीछे संस्कृत का अभ्यास किया तो भी कहां तक हो यह विद्या तो ब्राह्मणों ही के आधीन है और ब्राह्मण ही इसके पूरे २ आशय को जान सकते हैं । अब इन्हीं ने जो वर्णक्रम युगक्रम की रीति से माना है सो भी सुनिये ये लोग कहते हैं कि द्वापर में नन्द के पुत्र श्रीकृष्ण हुए । धन्य है! उन कहने वालों की बुद्धि को जिन्हों ने ऐसा लिखते समय कुछ भी पूर्वापर न विचारा मनमाना लिख मारा भला जो थोड़ासा भागवत पढ़ा होगा वह भी ठीक २ कह सकता है कि श्रीकृष्ण वसुदेव के पुत्र थे अतएव उन को वासुदेव कहते हैं फिर श्री आचार्य जी अपने भाष्य में लिखते हैं कि "शठकोप" जो शूद्र के यहां भगवान् का अवतार हुए अब विचारिये कि यह लेख आधुनिक पुराणों से भी महाविरुद्ध है या नहीं ? क्योंकि जब भागवत में स्पष्ट यह लिखा है कि कलियुग में ब्राह्मण विष्णुशर्मा के यहां सम्भलग्राम में कल्कि अवतार होगा और ये लोग लिखते हैं कि शठकोप वर्णक्रम से हुआ तो इन का वर्णक्रम से अवतार मानना इन के परममाननीय भागवत से विरुद्ध होगा वा नहीं ? यदि होगा तो इन का शठकोप को भगवान् का अवतार मानना सर्वथा असत्य ठहरेगा यदि विष्णु के अनेक अवतार माने जायं तो भी इन को वर्णक्रम से अवतार होते हैं यह कहने को अवकाश नहीं मिलता ॥ और भी देखिये इन की चालाकी कि ये लोग "शठकोप" को अवतार कहते हैं और आधुनिक पौराणिक भी अपने पुराणों से विष्णु के २४ अवतार और कोई दश अवतार मानते हैं उन में से कहीं आप लोगों के दृष्टिगोचर "शठकोप" ये चार अक्षर हुए ? तो कहिये कि ये मत आधुनिक पुराणों से भी विरुद्ध हैं वा नहीं ? और जो ये युगक्रम से वर्णक्रम मानते हैं तो चार युगों में चार ही अवतार होने चाहिये और शेष जो कच्छादि अवतार हैं उन के लिये

कोई और युग कल्पना करने चाहिये और इसी क्रम से ईश्वर के अवतार पहिले मनुष्यों में फिर पशुओं में फिर पक्षियों में इसी क्रम से कीड़े मकोड़ों में भी मानिये ॥ ये लोग शठकोप को अवतार मानते हैं भागवतादि ग्रन्थों में बौद्ध (नास्तिकों का भेद है) को भी विष्णु का अवतार माना है वह तो होगया और कल्कि अब होने वाला है ॥ फिर कहिये आर्यपुरुषो ! कि इन में से किस को ठीक माना जाय ? यदि इन हीं के कथन को ठीक मानते हैं तो आधुनिक पुराण इन के मिथ्या भाषण रूपी वायु से यमलोक को उड़ जांयगे और जो पुराणों पर विश्वास किया जाय तो शंका है कि इन का दिव्य सूरि चरित्र कहीं फिर श्रीनिवासाचार्य जी के मुह में न चला जाय अतएव मेरी अल्प बुद्धि से तो इन के मत का आश्रय लेना ही मानो निष्फल मृगतृष्णा को दौड़ना है ॥

शठकोपस्य शूद्रत्वे चतुर्थं प्रमाणमाह तस्मिन्नेव ग्रन्थे ॥
नेतुं द्राविडतां वेदानत्रैवर्णिकतां गतः ॥
मद्भक्तः शठकोपाख्यो भविष्यति मदिच्छया ॥ १ ॥

द्रविड़ देश में वेदों को पहुंचाने के लिये अत्रैवर्णिकता अर्थात् तीन वर्ण जो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन से जुदा शूद्र कुल में प्राप्त हुआ मेरा भक्त शठकोप मेरी इच्छा से होगा ॥१॥ न्यायशीलो ! अब यहां इन के इस कथन पर ध्यान दीजिये कि द्रविड़ भाषा किस भाषा को कहते हैं। और वेदों को द्रविड़ भाषा में पहुंचाया तो इस से क्या सिद्ध हुआ ॥ इस का विचार मनुस्मृति में इस प्रकार किया है ॥

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ॥ वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥४६ ॥ पौण्ड्रकाश्चौडद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ॥ पारदाः पल्हवाश्चीनाः किराता दारदाः खशाः॥४७॥

मनु अ० १० टी० धीरे धीरे ये क्षत्रियों की जाति इन की क्रिया लोप होने से और ब्राह्मण के अदर्शन से वृषलत्व को प्राप्त हुईं ॥४६॥ उन के ये भेद हुए ॥ पौण्ड्रक १ चौड २ द्रविड़ ३ कम्बोज ४ यवन ५ शक ६ पारद ७ पल्हव ८ चीन ९ किरात १० दारद ११ खश १२ ॥ ४७ ॥ जब द्रविड़ पद वृषल में अन्तर्गत है और वृषल का मनु जी ने ऐसा लक्षण कहा है ॥

वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ॥
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ १ ॥

वृषनाम भगवान् धर्म का है उस को जो नाश करे उस को विद्वान् लोग

वृषल जानें इस से धर्म का नाश न करना चाहिये ॥१॥ इस से वृषल जो "शठ-कोप" जी उन्हों ने वेद को द्राविड़ता अर्थात् वृषलों की भाषा में पहुंचाने को जन्म लिया तो सिद्ध हुआ कि वेदों को अधोगति को पहुंचाया। क्योंकि जो वेद देवताओं की संस्कृत वाणी में था और उस को धर्म विमुख वृषलो की भाषा में पहुंचाया तो इस से भी अधिक वेदों की अधोगति और क्या होगी और जब वेदों को अधोगति को प्राप्त किया तो मैं अपनी अल्प बुद्धि से इन "शठकोप" जी को शूद्रों का भी परमशिरोमणि शूद्र कहूं तो भी इस दुष्कर्म के समान नहीं होता॥ विष्णु कहते हैं कि मेरा भक्त "शठकोप" मेरी इच्छा से होगा। पाठ-कगणो! क्या ही आश्चर्य का स्थान है कि वेदो की अधोगति करे और विष्णु का भक्त कहावे॥ यदि इतने पर भी विष्णु की इन पर प्रसन्नता रही तो हम अनुमान करते हैं कि इन के विष्णु भगवान् कहीं बौद्ध धर्मानुयायी न होवें?॥ अथवा इस में यह लिखा है कि मेरी इच्छा से शठकोप होगा॥ तो इस से ठीक सिद्ध हो गया कि विष्णु भगवान् ही को यह बात अभीष्ट थी कि वेद, अत्रैव-र्णिकता (शूद्रता) को प्राप्त हों॥ यदि विष्णु का यही अभिप्राय ठीक था तो हमारा ऐसे विष्णु को दूर ही से प्रणाम है कि जिस ने वेदो को अत्रैवर्णिकता को पहुंचाने के लिये "शठकोप" को जन्माया॥

(शनकैस्तु०) इत्यादि पूर्वोक्त मनुस्मृति के वचनों का मुख्य तो यही अभि-प्राय है कि जो निरवसित शूद्रों से अनेक द्वीप देश और प्रदेश बसे हुए हैं उन की उत्पत्ति क्षत्रियो से हुई है अर्थात् क्षत्रियों में से अपने श्रौतस्मार्त्त धर्म कर्म से भ्रष्ट होने आचार के बिगड़ने और ब्राह्मण विद्वानो का उपदेश तथा सङ्ग न रहने से भ्रष्ट हो कर अनेक नाम की म्लेच्छ जाती उत्पन्न हुई हैं। इसी कारण उन अन्त्य-जादि में किसी प्रकार वीरता चली आती है। शूद्र शब्द से मुख्य कर वे लिये जाते हैं जिन के हाथ वा पात्र का जल ताम्बूलादि आर्य (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) ग्रहण करते हैं और यहां नीचता अर्थ मात्र (अर्थात् श्रौतस्मार्त्त कर्म का अनुष्ठान न करने वाले को) शूद्र शब्द का प्रयोग होता है वहा द्विजो से भिन्न सभी का ग्रहण है। महाभाष्यकार ने (शूद्राणामनिरवसितानाम्) सूत्र पर लिखा है कि—

यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण शुध्यति तेऽनिरवसिताः॥

जिन के भोजन वा पान करने से द्विजों का पात्र (लोटादि) संस्कार (मांजने आदि) से शुद्ध हो जावे वे अनिरवसित शूद्र कहाते हैं इस से भिन्न निरवसित हैं अर्थात् जिन को द्विजों ने अपने कर्मों आदि से भिन्न कर दिया उन्हीं का व्याख्यान

वृषल करके मनुस्मृति में कहा है । महाभारत में भी आदि पर्व के ययाति राजा के उपाख्यान में ययाति के कई पुत्रों को जातिबाह्य वृषल हो जाना लिखा है ये यवन कृश्चियन भी वृषल हो हैं और द्रविड़ वा खटिक आदि भी जाति बाह्य निरवसित वृषल हैं इस समय भी यवनादि के सहयोगी खटिक आदि मुरगी आदि के बच्चों को कसाइयों के हाथ बेचते हैं ॥

अथास्य शठकोपस्य शूद्रत्वे पंचमं प्रमाणमाह तस्मिन्नेव ग्रन्थे ॥ अस्य तुरीयवर्णावतारोपि नाचार्य्यत्वभञ्जकः ॥ तुरीयवर्णो भगवत्पादजन्मकृतः सकलेतरवैलक्षण्ययुक्तः परम्परायाः प्रथमप्रवर्त्तकत्वात् ॥ गुरुपरम्परामध्येप्यस्यैव निवेशः ॥

टी० इस " शठकोप " का चौथे वर्ण में अवतार होना भी आचार्यत्व का नाशक नहीं है क्योंकि चौथा वर्ण भी ईश्वर के चरणों से उत्पन्न हुआ है । और समस्त अनेक प्रकार की विलक्षणता से युक्त था और इस रामानुजीय संप्रदाय का प्रथम प्रवर्त्तक था ॥ और गुरु परम्परा में भी पहिले इसी की गिनती की है ॥ विचारशीलो ! क्या चौथा वर्ण (शूद्र) ईश्वर के चरण से जन्म होने के कारण श्रेष्ठ है ? । धन्य है इन युक्तिशून्य प्रलापों को । क्या चौथे वर्ण में "शठकोप" ही ईश्वर के चरणों से उत्पन्न हुए थे या और भी कोई शूद्र उत्पन्न हुए थे यदि और भी थे तो इन का शठकोप की उत्तमता में पूर्वोक्त हेतु देना ठीक नहीं होता और आप ईश्वर के चरणों से जन्मे को शूद्र मानें गे तो बड़ाभारी धब्बा आप के पुराणों में लगेगा क्योंकि आधुनिक पुराणों में गङ्गाजी को भी ईश्वर के चरणों से उत्पन्न लिखा है अतएव दोनों हेतु नहीं हैं ॥

अब लिखते हैं कि समस्त विलक्षणता से युक्त था ॥ हां मेरी तुच्छ बुद्धि के अनुसार इस पद का यह आशय हो सकता है कि उन की खटिक जाति के जो कार्य (सूप आदि बेचना) वह करता रहा और इस मार्ग को भी प्रवृत्त कर दिया इसी से यह विलक्षणता (चालाकी) से युक्त था । क्योंकि आगे स्पष्ट लिखा है परम्परा का प्रथम प्रवर्त्तक था और जो गुरु परम्परा में इस की गिनती करी है वह गुरु परम्परा यह है-

अस्मद्देशिकमस्मदीयपरमाचार्यानशेषान् गुरून् ॥ श्रीमल्लक्ष्मणयोगपुङ्गवमहापूर्णौ मुनिं यामुनम् ॥ एवं पद्मविलोचनं मुनिवरं नाथं शठद्वेषिणम् ॥ सेनेशं श्रियमिन्दिरासहचरं नारायणं संश्रये ॥ १ ॥

टी० हमारे देश के हमारे परम आचार्य और समस्त गुरुओं का और योग पुङ्गव रामानुज का और महापूर्ण मुनियामुन का और पुण्डरीकाक्ष का और मुनिवरनाथ शठकोप का और सेनेश (विश्वक्सेन) और श्री (लक्ष्मी) और नारायण का मैं आश्रय लेता हूं ॥

प्रिय बान्धवो ! आप विचारिये कि इन की गुरु परम्परा कैसी है यद्यपि इन के पूरे २ ग्रन्थ देखने से स्पष्ट विदित हो जाता है कि और भी जिन को गुरु परम्परा में गिनाया है वे भी इसी शठकोप के समान थे क्योंकि स्थालीपुलाक-न्याय से अर्थात् एक चांवल को पकाहुआ देख के बटलोई के सब चांवल पक गये यह अनुमान कर लेते हैं ॥ इसी प्रकार इन्हों ने पहिले सूप बेंचने वाला लिखा और अब इस श्लोक में मुनिवर विशेषण देते हैं अतः इन का गुण रहितों में भी अधिक विशेषण देना सर्वथा इन के पाखण्ड ही को सिद्ध करता है ॥ अब मैं इन "शठकोप" जी के शूद्रत्व में जो प्रमाण थे वे समाप्त करता हूं यद्यपि इन के ग्रन्थों में और भी बहुत से प्रमाण हैं तथापि समय के अधिक होने से अधिक नहीं लिखता अब वह विषय लिखूंगा जो कि इन्हों ने पक्षपात से दूसरों की निन्दा परक लिखे हैं ॥ ओ३म् शान्तिः । शान्तिः । शान्तिः ॥

भवदीयाज्ञाकारी

क्षेत्रपाल शर्मा विद्यार्थी—विश्वविद्यालय प्रयाग

मुंशी इन्द्रमणि जी के शेष आक्षेप का उत्तर

अब १० वें नियम पर जो आक्षेप किया है उस का उत्तर भी देना आवश्यक समझता हूं १० वां नियम यह है कि सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें ॥

इस नियम के अन्तिम वाक्य पर मुन्शी जी लिखते हैं कि यह सर्वथा अ-शुद्ध है क्योंकि कोई मतवादी किसी काम में स्वतन्त्र नहीं रह सकता प्रत्येक कार्य में अपने मत के शास्त्र का अनुगामी है और बात में अपने मत की मान्य पुस्तकों का अनुयायी है—जैसे आर्य लोग सदा प्रत्येक कार्य में वेद और शास्त्र के आधीन हैं किन्हीं या सब कार्यों में स्वतन्त्रता का बहाना नहीं निकाले गा जो वेद और शास्त्र की आज्ञा से विमुख होगा इस लिये वह आर्य नहीं किन्तु दस्यु है—

(उत्तर) पाठक इस आक्षेप ने मुन्शी जी के गुप्त पाण्डित्य को भी प्रकट कर दिया अर्थात् उन के अभिमान रूप ढोल को जो आग्रह के चर्म से मढ़ा हुआ था सब

पोल खोल दी—आप लिखते हैं कि प्रत्येक कार्य में जीव को परतन्त्र ही रहना चाहिये स्वतन्त्र नहीं सो यह कब हो सकता है ? कि जो कर्म करने में सदा स्वतन्त्र है वह प्रत्येक कार्य में परतन्त्रता को स्वीकार करे। हां जिन कार्यों के करने में कि वह अकेला समर्थ नहीं है—किन्तु दूसरों के सहाय की अपेक्षा रखता है उन में तो अवश्यमेव परतन्त्र कहा जा सकता है क्योंकि विना दूसरों के योग के उन को वह सिद्ध नहीं कर सकता—जैसे कि राजनैतिक व सामाजिक विषय इत्यादि। अब इन में कदाचित् कोई चाहे कि मैं स्वतन्त्र हो जाऊं तो नहीं हो सकता यदि बलात् कोई हो भी जाय तो इन की पूर्ति जैसी कि चाहिये वैसी कदापि न होगी किन्तु विपरीत फल प्रगट होगा—अतएव ऐसे कामों में प्रत्येक का परतन्त्र ही रहना श्रेयस्कर है—अब रहे ऐसे कार्य जो केवल अपने शरीर से सम्बन्ध रखते हैं और अपने ही को विशेष कर लाभ दायक भी हैं जैसे विद्या और सत्संगद्वारा आत्मिक उन्नति करना वीर्य रक्षण और पुष्ट पदार्थ भक्षणादि से शारीरिक बल बढ़ाना इत्यादि इन में सब स्वतन्त्र रह सकते हैं—यदि इन में भी परतन्त्रता हुई तो शारीरिक व आत्मिक उन्नति यथेष्ट न होगी क्योंकि जो काम जिस के करने का है उस में यदि वह स्वतन्त्र हुआ तो वह काम ठीक २ होगा और यदि परतन्त्र हुआ तो जैसा कि चाहिये वैसा कदापि न होगा—इसी लिये उक्त नियम में शिक्षा की गई है कि जो काम समुदाय से सम्बन्धित हैं वे सापेक्ष होने से मिल कर करने योग्य हैं इस लिये उन में सब परतन्त्र अर्थात् एक दूसरे के आधीन हैं।

और जो काम कि निज सम्बन्धी हैं वह अनपेक्ष होने से अपने ही करने योग्य हैं इस लिये उन में सब स्वतन्त्र रहें तभी उन की यथायोग्य पूर्ति हो सकती है अन्यथा नहीं इस उत्तम अभिप्राय को न समझ कर अयुक्त बतलाना अपनी अयोग्यता जतलाना है क्या मुं० जी अपने मत सम्बन्धी उद्देश्यों के पालन करने से जीव स्वतन्त्र नहीं रहता इस को तो अल्प बुद्धि वाला पुरुष भी जानता है कि प्रत्येक शास्त्रादि भले या बुरे कर्मों के करने की शिक्षा करते हैं मनुष्य को अधिकार है कि उस को माने या न माने करे या न करे इस से परतन्त्र तो नहीं प्रत्युत स्वतन्त्र ही सिद्ध होता है क्या कोई भृत्य जो स्वामी के आधीन है निज सम्बन्धी कार्यों में भी स्वतन्त्र नहीं कहलावे गा ? अवश्य कहलावे गा क्योंकि उस को अधिकार है कि अपने कार्यों को जैसे चाहे वैसे करे—आर्य लोग वेदादि शास्त्रों के आधीन इस लिये हैं कि उन में कर्त्तव्य कर्मों का विधान है परन्तु करने

में उन के भी स्वतन्त्र ही हैं स्वतन्त्र और परतन्त्र शब्दों की प्रवृत्ति मनुष्यादि प्राणियों में प्रायः सापेक्ष रहती कोई मनुष्य एक कार्य में पराधीन है उसी में कोई स्वाधीन भी हो सकता है। परन्तु शास्त्रीय विषय में बहुत कम पराधीनता हो सकती है सर्वथा पराधीन उस में होगा कि जिस का होना किसी प्रकार न रुक सके जैसे मरण में सब पराधीन हूंगे। शास्त्रीय कर्म को करें वा न करें पर शास्त्राज्ञा से अवश्य करना चाहिये देखो यजुर्वेद में कहा है ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतंसमाः।

इस को न समझ कर स्वतन्त्र जीव को परतंत्र बताना वेदादि के विरुद्ध कल्पना करना है जो कि आर्य का काम नहीं किन्तु दस्यु का है ॥

अतः पश्चात् अब अन्तिम प्रलाप मुन्शी जी का यह है कि देखो मुक्ति कि जिस के लिये आर्य लोग सारे कर्म धर्म जप और तप करते हैं वह दयानन्दियों के नियमों से बहिर्गत है अर्थात् इन लोगों ने मुक्ति ऐसी अधम वस्तु ठहराई कि दशो नियमों से बाहर रक्खी धन्य है दयानन्दसरस्वती की विद्या बुद्धि पर—

(उत्तर) पाठक सच तो यह है कि ६० वर्ष से अधिक आयु होजाने के कारण मुन्शी जी की बुद्धि शठगई है इसी लिये उन को अपने पूर्वापर वाक्यों का भी स्मरण नहीं रहता—इन्हीं नियमों के आक्षेप करने से प्रथम मुन्शी जी ने उमूल शब्द की जो उद्देश्य वाचक है, व्युत्पत्ति इस प्रकार की थी कि यह शब्द असिल का बहुवचन है और असिल कहते हैं जड़ या बुनयाद को—क्योंकि मुन्शी जी जब आप के ही कथनानुसार यह दशो नियम असिल अर्थात् मूल हैं तो फिर मोक्ष जो फल है इन में कैसे मिल जाता हां जब यह बढ़ कर शाखावान् होंगे तो अवश्यमेव धर्मार्थ काम मोक्ष इन चारो फलों से युक्त होगे जब कि विद्या का अध्ययन और वेद का पठन पाठन ये दोनों मोक्ष के साधन उक्त नियमों में आगये हैं तो एक दिन अवश्यमेव मोक्ष रूपी साध्य की सिद्धि होगी प्रथम तो साधन ही की अपेक्षा होती है तत्पश्चात् साध्य सिद्ध होता है जैसे कि मूल के पुष्ट होजाने से फलाशा स्वयमेव हो जाती है इस को न समझ कर यथा तथा बक बैठना और पूर्वापर का विचार न करना मुन्शी जी की जीर्ण बुद्धि का दोष है ॥

अलमित्यनेन बुद्धिमद्वर्येषु

बदरीदत्त शर्मा उपदेशक

आर्यसमाज मुरादाबाद

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग २ } कार्त्तिक संवत् १९४५ { अङ्क ६

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

मूर्तिपूजाविचार

प्रायः सज्जन लोगों को प्रकट है कि मूर्त्तिपूजा पर कुछ दिनों से आर्यावर्त्त देश में बहुत ही आन्दोलन चल रहा है। मूर्त्तिपूजा का विचार जब सन्मुख आता है तो अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प उत्पन्न होते हैं कि यह (मूर्त्तिपूजा) शब्द सनातन है तो इस का अर्थ भी सनातन ही मानना चाहिये। यदि इस को अनित्य मानें तो शब्द के सनातन होने में दोष आता है । और इस का मूल कारण क्या है ? इत्यादि अनेक प्रकार के प्रश्न चित्त में उठते हैं और उन के दृढ़ समाधान भी अनेक प्रकार के उपस्थित होते हैं कि मूर्त्तिपूजा शब्द और उस का अर्थ दोनों सनातन हैं किन्तु उस मूर्त्तिपूजा के प्रकारों में अनेक भेद खड़े हो गये हैं जब किसी कार्य की प्रणाली और अभिप्राय बदल जाता है तब वह नवीन सा प्रतीत होता है हां इतने अंश में नवीन है कि वह अपने मुख्य अभिप्राय और प्रकार से प्रवृत्त नहीं रही । और इस (मूर्त्तिपूजा) का मूल कारण यही है कि जिस से सुख प्राप्त हों और दुःखों की निवृत्ति हो क्योंकि इसी में मनुष्य अपने कर्त्तव्य को सफल समझता है । मूर्त्त नाम है स्थूल पदार्थों का कि जिन वस्तुओं की लम्बाई चौड़ाई और मुटाई निश्चित हो जावे कि इतना लम्बा चौड़ा और मोटा अमुक पदार्थ है और जिन की लम्बाई चौड़ाई आदि मनुष्य नहीं जान सकता वे सब अमूर्त्त हैं । अत्र प्रमाणम्—

द्वे वा ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च तदेतन्मूर्त्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्च । अथामूर्त्तं वायुश्चान्तरिक्षं चेत्यादि । बृहदारण्यकोपनिषदि ॥

ईश्वर की सृष्टि में दो प्रकार के पदार्थ हैं एक मूर्त्त और दूसरे अमूर्त्त इन में आकाश वायु से भिन्न सब मूर्त्त और आकाश वायु अमूर्त्त हैं अर्थात् पंचभूतों में पहिले दो अमूर्त्त और अन्त के तीन स्थूल हैं इन तीन भूतों के विकारभूत सभी पदार्थ स्थूल (मूर्त्त) हैं स्थूलता अर्थात् बनावट व्यक्ति विशेष वा आकृति का नाम मूर्त्ति है जो नेत्र द्वारा प्रत्यक्ष हो और जिस में इयत्ता (हद्द) हो । वह सब मूर्त्ति है यह मूर्त्ति शब्द का सामान्य शब्दार्थ है। कोष के अनुसार मूर्त्तिशब्द के दो अर्थ हैं "मूर्त्तिः काठिन्यकाययोः" कठिनाई और शरीर का नाम मूर्त्ति है इसी मूर्त्ति शब्द से मूर्त्तिमान् शब्द भी बनता है इसी अभिप्राय से लोक में प्रसिद्ध भी है कि कठिनाई युक्तवस्तु जो पकड़ने में आवे वह मूर्त्तिमान् कहाता है । अब इस अर्थ में मूर्त्तिशब्द से उन का भी ग्रहण हो सकता है जिन पाषाण आदि से बनी मूर्त्तियों को पूजते हैं क्योंकि कठिनाई युक्त वे भी हैं परन्तु यह नियम करना कठिन ज्ञात होता है कि जिन पाषाणादि को लोगों ने पूज्य मान लिया है वे ही मूर्त्तिमान्शब्दवाच्य समझे जावें और अन्य पाषाणादि कठिनतायुक्त पदार्थ मूर्त्ति वाले न समझे जावें । अब मूर्त्ति शब्द के साथ जो पूजा शब्द लगा है उस पर विचार करने से निश्चित होता है कि यह पूजा शब्द शरीर नामक मूर्त्ति के लिये है किन्तु पाषाणादि के लिये नहीं क्योंकि सम्भव और योग्यता के अनुसार शब्दों और वाक्यों के प्रयोगों का नियम है वैसे तो पत्थर की चक्की भी एक कठिन पदार्थ है उस की पूजा प्रसिद्ध नहीं जहां एक शब्द के कई अर्थ होते हैं वहां जिस प्रसंग में जिस को योग्यता होती है उस में वही अर्थ किया जाता है जैसे गौ शब्द के अनेक अर्थ हैं जब कहा जावे कि "गामानय, गौः पूज्या" ऐसे स्थलों में पृथिवी के लाने की योग्यता नहीं और जड़ होने से पूजन (सत्कार आदर) को नहीं जान सकती इस कारण वक्ता का अभिप्राय पृथिवी के पूजने पर नहीं किन्तु पशु जातिस्थ सास्नादिमती व्यक्ति का लाना और पूजा से तृप्त होना दोनों सम्भव और योग्य हैं इस कारण ऐसे वाक्यों में पशु जातिस्थ गौ का ही ग्रहण होता है ॥

तथा पूजा शब्द पर विचार किया जावे तो निश्चित होता है कि सत्कार करने का नाम पूजा है किसी प्रकार के कोष वा व्याकरण के प्रमाण से पूजा शब्द का अर्थ धूप दीप नैवेद्य वा चन्दनादि पदार्थ जड़ वस्तु पर चढ़ाने का प्रसिद्ध नहीं है। कहीं २ धर्मशास्त्रादि में जड़ के साथ पूजा शब्द का प्रयोग आता भी है तो गौणार्थ से उस जड़ के साथ प्रीति या रुचि विशेष करने अर्थ में आता है जैसे "पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति" प्रीति करके अर्थात् प्राण की रक्षा अन्न के विना नहीं हो सकती इसलिये प्राणवत्प्रिय मानकर अन्न का भोग लगावे किन्तु

समय पर जो अन्न मिले उस को देख चित्त कभी न विगाड़े । ऐसे२ प्रकरणों में जड़ वस्तुओं के साथ भी पूजा शब्द का प्रयोग आता है । परन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि जब भोजनार्थ अन्न सामने आवे तब उस पर चन्दनाक्षतादि चढ़ावे । क्योंकि यह अयोग्य और अप्रयोजनीय अर्थ है। प्रायः पूजा शब्द का अर्थ चेतन वस्तुओं के प्रसङ्ग में आता है। अमरकोष में जहां पूजा शब्द आया है उस प्रकरण को देखने से निश्चय होता है कि इस पूजा शब्द का अर्थ चेतनों से ही सम्बन्ध रखता है । अमरकोष के द्वितीय काण्ड के सप्तम ब्रह्मवर्ग में पूजा शब्द आया है वहां उस से पहिले अतिथि और पाहुन का प्रसङ्ग है इस से ठीक सिद्ध है कि पूजा शब्द चेतन सम्बन्धी है ॥

(२) इसी प्रकार मूर्त्ति शब्द के साथ जब पूजा शब्द लगाया जावे तब मूर्त्ति नामक शरीरों का ही ग्रहण होना है पूजा के प्रसङ्ग में मूर्त्तिशब्द शरीरों के साथ धर्मशास्त्रों में भी आता है:-

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्त्तिः पिता मूर्त्तिः प्रजापतेः ।
माता पृथिव्या मूर्त्तिर्भ्राता स्वो मूर्त्तिरात्मनः ॥ मनु० अ० २

आचार्य्य-गुरु ब्रह्म की मूर्त्ति है अर्थात् जिस भावना से आचार्य की पूर्ण सेवा करेगा वही अभीष्ट सिद्ध होगा । ब्रह्मनाम वेद वा परमेश्वर का यथावत् ज्ञान गुरु की पूजा के आधीन है जब गुरु सन्तुष्ट होगा तो उस को सुगमता पूर्वक वेद वा ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करा देगा ईश्वर और शब्दार्थ सम्बन्धरूप वेद दोनों अमूर्त्त हैं परन्तु आचार्य्य के अन्तःकरण में स्थित हैं इस कारण आचार्य्य को ब्रह्म की मूर्त्ति कहा जिस को ब्रह्म की मूर्त्तिपूजा करना अभीष्ट है वह आचार्य्य की पूजा करे। क्योंकि धर्मशास्त्र आज्ञा देता है कि ब्रह्म की मूर्त्ति आचार्य्य है और ऐसा किसी ने नहीं कहा कि (पाषाणो ब्रह्मणो मूर्त्तिः) क्योंकि "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" ज्ञान के विना मुक्ति नहीं होती और पाषाणादि जड़ पदार्थ ज्ञान होने में सहायता नहीं दे सकते क्योंकि वे स्वयं ज्ञानरहित हैं इसलिये आचार्य-गुरु की ठीक२ सेवा किये विना ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। और पिता सृष्टिकर्त्ता की मूर्त्ति है उसी के शरीर का अंशरूप पुत्र होजाता है अर्थात् पिता उस पुत्ररूप शरीर का बनाने वाला है इसलिये सृष्टिकर्त्ता की मूर्त्ति पूजना हो वहां साक्षात् पिता की मूर्त्ति को पूजे जिस से ऋण का उद्धार हो जावे। और माता पृथिवी की मूर्त्ति है क्योंकि "इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते" अन्नादि की उत्पत्ति के समान प्राणियों की उत्पत्ति का स्थान भूमिस्थानी माता है । जिस ने सब

प्रकार के क्लेश सह के उत्पन्न कर पालन पोषण कर बड़ा किया उस की साक्षात् मूर्त्ति पूजनी चाहिये । और सहोदर भाई अपनी मूर्त्ति है अर्थात् एक स्थान और एक पिता से उत्पन्न होने के कारण सब भ्राता एक ही मूर्त्ति हैं इसलिये जितनी सेवा भ्राता की करे वह जानो अपनी मूर्त्ति की पूजा है । तथा—

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः ।
नार्त्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥ मनु० अ० २

आचार्य, माता, पिता और ज्येष्ठ भाई ये यदि किसी प्रकार का दुःख भी दें तथापि इन का अपमान कदापि न करे यह उपदेश सभी वर्णों के लिये है परन्तु ब्राह्मण के लिये विशेष है क्योंकि वह धर्म की मर्य्यादा को अधिक जानता है ।

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम् ।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्त्तुं वर्षशतैरपि ॥ मनु० अ० २

मनुष्यों की उत्पत्ति में जिस क्लेश को माता पिता सहते हैं उस का बदला पुत्र लोग सैकड़ों वर्ष में भी नहीं दे सकते । इस लिये—

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्य्यस्य च सर्वदा ।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ मनु० अ० २

उन माता पिता और आचार्य्य के अनुकूल सदा प्रिय आचरण करे अर्थात् ऐसा काम कोई न करे जिस से उन के चित्त को क्लेश पहुंचे क्योंकि इन्हीं तीनों को अपनी सेवा से सन्तुष्ट कर लेने में सब तप की समाप्ति हो जाती है अर्थात् जिस पुरुष ने माता पिता आचार्य्य की साक्षात् तीन मूर्त्तियों को अपनी सेवा से सन्तुष्ट कर लिया वह पूरा तपस्वी है उस के लिये ऐहिक पारमार्थिक सुख दुर्लभ नहीं हैं। इसी प्रकार की मूर्त्तिपूजा प्राचीन काल से आर्य्यों में चली आई है और इस प्रकार की मूर्त्तिपूजा का आर्ष ग्रन्थों में बहुत उपदेश है । जैसे इन तीन की सेवा से तप की समाप्ति मनुस्मृति में लिखी है वैसे पाषाणादि मूर्त्तियों के पूजन से तप का पूर्ण होना किसी ऋषिकृत ग्रन्थ में नहीं लिखा । इस कारण जहां २ मूर्त्तिपूजा का प्रसङ्ग वेदादिशास्त्रों में आता है वहां २ इन्हीं मूर्त्तियों का पूजन शास्त्रानुकूल है । अब जो लोग मूर्त्तिपूजन को परमेश्वर की उपासना के सम्बन्ध में लगाते है कि ईश्वर के अवतारों की प्रतिमा बना कर पूजने से ईश्वर में भक्ति और उस का ज्ञान होगा उन महाशयों के प्रति निवेदन है कि आप इस विषय को अच्छे प्रकार विचार कर देखिये कि तत्त्व वस्तु क्या है ? । जब तक मनुष्य मध्यस्थ हो

कर किसी विषय की विवेचना नहीं करता तब तक उस को तत्त्व प्राप्त होना दुर्लभ रहता है जब हम लोग न्यायादि शास्त्रों के अनुसार रूपादि गुण जीवात्मा के भी नहीं मानते अर्थात् जड़ स्वरूप पंचभूतों के गुण रूपादि हैं किन्तु चेतन में रूपादि का अभाव होने से उस को इन्द्रियगोचर नहीं कर सकते तो उस परमात्मा की प्रतिमा कैसे बनी ?। यद्यपि अवतार शब्द और उस के वाच्यार्थ का विचार करना इस प्रसंग में अभीष्ट नहीं है तथापि जो लोग श्री राजा रामचन्द्रादि को ईश्वर का अवतार मानते हैं उन से केवल इतना ही निवेदन है कि आप यदि चिदात्मवाद को लेकर रामचन्द्र जी आदि को ईश्वर मानें तो चेतन वस्तु उन के शरीरों में भी रूपादिगुणरहित ही था कोई कदापि त्रिकाल में भी सिद्ध नहीं कर सकता कि अमुक चेतन की मूर्त्ति मैंने रूपादि गुणयुक्त देखी। तो अवतारों के शरीरों की (कि जो पृथिवी का विकार है) हां प्रतिमा बन सकती है किन्तु उन के शरीरों में जो आत्मा था उस की प्रतिमा बनाना सर्वथा असम्भव है। और यदि देहात्मवाद को मानते हो अर्थात् भौतिक शरीर को आत्मा मानते हो तो अविद्या का फल है क्योंकि योगशास्त्र में कहा है कि अनात्मा शरीरादि में आत्मबुद्धि करना अविद्या का लक्षण है। और किसी शास्त्र का सिद्धान्त नहीं है कि शरीर को आत्मा माना जावे। इस लिये परमेश्वर की प्रतिमा बनाना सर्वथा असम्भव है। कोई कहे कि हम ईश्वर शब्द का अर्थ ऐश्वर्य्यवान् मानते हैं कि जो २ शरीरधारी विशेष ऐश्वर्य्ययुक्त है वह सब ईश्वर है तो सो भी शास्त्र वा युक्ति के अनुकूल नहीं है क्योंकि विशेष ऐश्वर्य वाले जब कई शरीरधारी होंगे तब उन सब को ईश्वर मानना पड़ेगा और सब की सेवा शुश्रूषा ठीक २ होना कठिन है जिस की कम होगी वही अप्रसन्न होगा जिस की अधिक सेवा बनेगी वह प्रसन्न होकर अच्छा फल देना चाहेगा अन्य लोग जिन की सेवा न्यून बने गी वे बुरा फल देना चाहेंगे आपस में ईश्वरों में ही चटके गी और अनेक ईश्वरों का मान सकना भी कठिन है यदि कोई कहे कि एक काल में एक ही अवतार होगा उसी को सब मानें गे तो कोई उपद्रव न होगा सो भी ठीक नहीं क्योंकि संसार में गौणमुख्य की व्यवस्था वहां तक चलती है कि जब तक इयत्ता (हद्द) न हो ईश्वर शब्द यद्यपि राजादि का भी नाम है तथापि उपासना प्रकरण में उसी का ग्रहण किया गया है कि (यस्मात्परं नापरमस्ति किंचित्) जिस से परे वा इधर कोई भी पदार्थ ऐश्वर्यवान् नही वही ईश्वर है। योगशास्त्र में भी लिखा है कि (यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः) जिस में ऐश्वर्य्य की काष्ठाप्राप्ति (हद्द) हो जावे कि अब इस से अधिक ऐश्वर्य्य वाला कोई नही है और न हो सकता है वह ईश्वर है वही सब का उपास्य देव है.॥

और यदि मनुष्यों की स्वाभाविक वृत्ति पर ध्यान दिया जावे कि वे अपना उपास्य देव कैसा मानना चाहते हैं तो यही सिद्ध होगा कि हमारा उपास्य देव वही होना चाहिये जिस से ऊपर कोई न हो यदि हमारे उपास्य देव के ऊपर उस को दबाने वाला कोई अन्य भी हुआ तो हमारा उपास्यदेव छोटा हो जायगा फिर हम यथावत् उस की भक्ति भी नहीं कर सकेंगे और यही चित्त में आवेगा कि हम अपना उपास्य उसी को मानें जो सर्वोपरि है तात्पर्य्य यह है कि जब हम किसी पुरुष विशेष पर दृष्टि देवें तो शास्त्रों के अनुसार उन २ पुरुषों के ऊपर भी ऐश्वर्यवान् प्रतीत होते हैं क्योंकि जिन लोगों ने अवतार माने हैं उन का यही सिद्धान्त है कि नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव ब्रह्म का अवतार नहीं होता किन्तु ब्रह्मा विष्णु आदि के अवतार होते हैं जब उस नित्य ब्रह्म का अवतार नहीं तो उस की प्रतिमा कैसे बन सकेगी। रहे ब्रह्मादि सो सर्वतंत्र सिद्धान्त से संसारान्तर्गत हैं क्योंकि ब्रह्मा से लेकर स्थावरान्त जगत् कहाता है जब संसार में हैं तो विशेष विभूति वाले हो कर भी कर्मानुसार शुभाशुभ कर्मफल के भागी होते हैं। जैसे हमारा राजा विशेष विभूति और ऐश्वर्यवान् है पर भोग उस को भी कर्मानुसार मिले हैं। तो जिन को ईश्वर मान कर उन की प्रतिमा बनाना चाहते हैं और वे साक्षात् परमेश्वर नहीं तो उन प्रतिमाओं से परमेश्वर की पूजा क्यों कर कही जावेगी? यदि अस्मदादि की अपेक्षा विशेष ऐश्वर्यवान् होने से वे ईश्वर मानें जावें तो आज कल के राजा लोग क्यों नहीं माने जाते? और राजादि का ईश्वर नाम केवल ऐश्वर्य्य विशेष के ही कारण है किन्तु उपास्य देव की दृष्टि से नहीं है तो जिन का अवतार होना मानते हैं वे उपास्य प्रकरण में ईश्वर नहीं फिर उन की प्रतिकृति (तस्वीरों) के बनाने और पूजने से किस प्रकार अभीष्ट सिद्धि हो सकती है? और अवतार मानने वालों से यह भी निवेदन है कि जब चौबीस अवतार हुए मानते हो तो सब अवतारों की प्रतिमा क्यों नहीं बनाई गईं?। पांच ही प्रकार की मूर्त्तियां क्यों बनाईं?। यदि शूकरदेव वा कच्छपादि की मूर्त्ति बना कर पूजी जाती तो क्या लोग प्रसन्न होते कि बहुत अच्छे अवतार की प्रतिमा है कदाचित् शूकरादि की प्रतिमा इसी लज्जा से पूजा में न ली गई हो सो यदि लज्जा है तो क्या ऐसे अवतार मानने में लज्जित न होना चाहिये?। हां श्रीमान् राजा रामचन्द्रादि की प्रतिकृति किसी ने प्रचरित की तो बहुत अच्छे विचार से की होगी किन्तु ईश्वर का अवतार समझ के नहीं की यदि अवतारों की ही प्रतिमा बनाने का कोई नियम किया चाहे सो ठीक नहीं क्योंकि महादेवादि कई की प्रतिमा बनती हैं और वे अवतारों में नहीं गिने जाते तो यह कहना भी नहीं बनता कि जिन २ ने मनुष्यादि योनि में शरीर धारण किया उन ही की प्रतिमा पूजनार्थ बनाई गईं ॥

और यह भी विचारणीय है कि जैसे महादेव जी शरीरधारी नहीं थे तो उन के लिङ्ग की प्रतिमा कैसे बनी ? यदि साकार मानों तो उन के लिङ्ग की प्रतिमा जैसे बन गई वैसे विष्णु भी साकार हो सकते हैं और उन की विना शरीरधारण किये भी प्रतिमा बन सकती है फिर शरीरधारण अर्थात् विष्णु का अवतार लेना व्यर्थ है क्योंकि जब पहिले ही साकार थे तो शरीरधारी के तुल्य दैत्यवध आदि काम कर सकते थे ॥

अब इस के तत्त्व पर दृष्टि दी जावे कि प्रतिमा पूजन की जड़ क्या है ? तो यह प्रतीत होता है कि प्रतिकृति (तस्वीर वा फोटो) के बनाने की परिपाटी तो सदा से है और होनी भी चाहिये क्योंकि इस से अनेक प्रयोजनों की सिद्धि समझी गई है जब किसी को किसी के साथ अधिक प्रीति होती है तो उस के देशान्तर होने के समय वा शरीरान्त होने पश्चात् उस की प्रतिकृति सामने रहने से उस के गुणों का स्मरण करते और उस से चित्त को सन्तोष पहुंचता है तथा अनेक भद्र पुरुषों की तस्वीर देख के उन के सुने जाने गुणकर्मों का स्मरण होता है इस से मनुष्य को गुणवान् होने में सहायता मिलती है और यह भी विचार होता है कि जब ऐसे२ गुणी लोग संसार में न रहे तो हम क्या रह सकते हैं ? हम को भी कभी न कभी यह सब छोड़ना ही है इस से विषयासक्ति कम होती है इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं जिन के लिये प्रतिकृति का प्रचार बहुत ही उत्तम है। पर मुख्य२ प्रयोजन जो उन से निकलते हैं वैसे यथावत् काम लेना विद्यावानों का काम है । जब समय के बदल जाने से विद्या और शिक्षा प्रणाली आर्यावर्त्त में घटती गई तो सामर्थ्यहीन होने से उन प्रतिमाओं को ईश्वर की प्रतिकृति मानने लगे क्योंकि जिन श्रीरामचन्द्र जी आदि की प्रतिकृति प्रचरित थीं उन के गुणकर्म सुने तो बहुत अधिक थे अपने सामने ऐसे गुणी पराक्रमी कोई हुए नहीं तो उन्हीं को ईश्वर मानने लगे । सो यह सब अविद्यादेवी का प्रताप है। जिस ने अच्छे२ विद्वानों की विद्वत्ता को नहीं जाना वह यदि लालबुझक्कड़ को बड़ा पण्डित कहे तो कुछ आश्चर्य्य नहीं है । आज कल भी बहुत से लोग ग्रामीण रेल के इञ्जन को कालीदेवी की साक्षात् मूर्त्ति मान कर घी गुड़ से पूजते हैं । अर्थात् जिस ने विद्या शिक्षा वा सत्सङ्ग के यथावत् न होने से परमेश्वर के गुणकर्म स्वभावों को यथावत् नहीं सुना जाना वह विशेष ऐश्वर्य्य वाले शरीरधारियों के गुणकर्म सुन के उन को ईश्वर मानें वा उन की प्रतिकृतियों को ईश्वर की प्रतिकृति समझे तो इस में कुछ आश्चर्य्य नहीं है । इस से यही प्रतीत होता है कि जो २ महात्मा सज्जन धार्मिक विद्वान् पराक्रमी हुए उन की प्रतिकृति बनी तो देखने आदि के लिये थी पर अविद्या के प्रताप से उन का अभिप्राय लौट कर कुछ का कुछ हो गया और अब यह भी निश्चय नहीं

कि जो२ प्रतिमा प्रचरित हैं वे२ उन२ महात्माओं की आकृति के अनुसार हैं। हम को कदापि प्रतीत नहीं होता कि राजा रामचन्द्र जी वा श्रीकृष्णचन्द्र जी की आकृति ऐसी ही हो कि जैसी भयानक प्रतिमा अक्खड़दास वैरागियों ने त्रिवेणी आदि पर रक्खी हैं। यदि उन महात्माओं की ठीक२ प्रतिकृति (जैसी उन की आकृति थी) मिले और कोई अनेक प्रकारों से निश्चय करा देवे कि अमुक महात्मा ऐसे ही थे तो अभी प्रायः लोग ऐसी प्रतिकृतियों को अपने पास रखने की अवश्य चेष्टा करें और उन की प्रतिमाओं को देख २ आर्यों को बड़ा सन्तोष हो। जब लोगों ने मन मानी आकृति बना ली तो प्रतिकृति से जो लाभ होना सम्भव था सो भी होना कठिन हो गया। और प्रतिमा बनाने का प्रचार प्रायः ऐसा है कि शरीर के अन्य अवयवों की प्रतिकृति नहीं बनाते अर्थात् कटिभाग से ऊपर की तस्वीर प्रायः बनाई जाती है यदि कोई सर्वांग की भी बनावे तो उस का अभिप्राय भी ऊपर के भाग पर ही अधिक होता है और यही होना भी चाहिये क्योंकि मुख का नाम उत्तमाङ्ग है मुख की पहचान ही मुख्य समझी जाती है यदि किसी का शिर न हो तो उस को सदृश से पहचान लेना भी कठिन है। और विषयाशक्त लोगों की विषयों में रुचि बढ़ाने के लिये उन२ अवयवों की स्पष्ट और शृङ्गारादि सहित भी शिल्पी लोग प्रतिकृति बनाते हैं। परन्तु केवल लिङ्ग की तस्वीर कोई नहीं बनाता क्योंकि वह तो मूत्र का पनाला है उस की तस्वीर बनाने से क्या प्रयोजन होगा? अब यदि कोई प्रश्न करे कि महादेव जी कि शिव को योगिराज मानते हो उन के लिङ्ग की प्रतिकृति क्यों बनाई गई क्या उन के मुख नहीं था?। जब जटाजूट में गंगा फिरती रही और उसको पार नहीं मिला तो हजारहें। कोश बन के समान केश होंगे? उस में शिर भी बड़ा भारी होगा तीन नेत्र के कहने से भी शिर का होना सिद्ध होता है कण्ठ में विष पीलिया था इस से भी कण्ठ और शिर होना सिद्ध होता है तो सब शरीर वा उत्तमांग की तस्वीर क्यों नहीं बनाई गई? क्या कारण है जो महादेव जी के लिङ्ग की तस्वीर बनाई गई? और भगाकार जलहरी में रखना निश्चित ठहरा। अवश्य इस में कोई विशेष कारण है। जिस को अपना पूज्य वा बड़ा मानते हैं उस के पग पूजा करते हैं यही शिष्टों का व्यवहार है। महादेव जी को ऐसा पूज्य मान कर उन के लिंग की पूजा चलाई गई इस में यही कारण प्रतीत होता है कि विषयी लोगों ने वाममार्ग चलाने के लिये यही जड़ रक्खी है। यदि विरक्त से तात्पर्य था तो पद्मासनस्थ विभूति रमाये समाधिस्थ महादेव जी की प्रतिकृति बनाते जिस से सज्जनों को हर्ष होता। ऐसे प्रश्न सब के अन्तःकरण में नहीं उठते। अनेक लोग तो यह भी नहीं जानते कि महादेव जी के लिङ्ग की यह आकृति है किन्तु जो

पूजना उन को बताया गया है सो करते जाना उन का काम है। इस में उन का क्या दोष है जो लोग आग्रही वा पक्षपाती हैं उन से ऐसा प्रश्न किया जाय तो वे नास्तिकादि कह कर गालि प्रदान के विना अन्य कुछ भी उत्तर नहीं दे सकते इस कारण इस मूर्त्तिपूजन के तत्त्व को सुधारना सज्जनों का मुख्य काम है सो इसी प्रकार सुधर सकता है कि जैसा पूर्व लिखा गया अर्थात् माता पितादि की साक्षात् मूर्त्तियों की पूजा जिस के लिये धर्मशास्त्रों में आज्ञा है करनी चाहिये और वैसा ही उपदेश भी किया जावे ॥

अनेक बुद्धिमान् लोगों का सिद्धान्त यह है कि यह पाषाणादि की मूर्त्तियों का पूजन मूर्ख लोगों के लिये है क्योंकि वे परमेश्वर की उपासना वेद वा मन्त्रादि द्वारा नहीं कर सकते। चित्त में भक्ति बढ़ते २ जब उन को ज्ञान हो जाय गा तब स्वयमेव छोड़ देंगे। जैसे छोटी २ लड़की पहिले गुड़ियों द्वारा खेला करती हैं जब उन को सच्चे स्त्री पति का ज्ञान होता है तब गुड़ियों का खेल स्वयमेव छोड़ देती हैं ऐसे ही मूर्ख लोगों को जब ज्ञान होगा तब पाषाणादि मूर्त्तियों का पूजन स्वयमेव छोड़ देंगे। और मूर्खों के लिये मूर्त्तिपूजन में चाणक्यनीति का भी प्रमाण देते हैं:-

अग्निहोत्रेषु विप्राणां हृदि देवो मनीषिणाम् ।
प्रतिमास्वल्पबुद्धीनां सर्वत्र विदितात्मनाम् ॥

ब्राह्मणों का देवपूजन अग्निहोत्र में है, मन को वश में करने वाले विद्वानों की देवपूजा हृदय में अल्पबुद्धि (मूर्खों) के लिये देवपूजा प्रतिमा में है और जिन्हों ने ईश्वर को जान लिया है उन की सर्वत्र देवपूजा है। इस कारण मूर्खों के लिये मूर्त्तिपूजन रखना चाहिये ॥

इस में पहिले तो उत्तर यही है कि यदि मूर्खों को मूर्त्तिपूजन बताया जाय गा तो उस पूजा से उन को ईश्वर का ज्ञान कैसे हो जायगा और वे किस काल में ईश्वर के यथार्थ स्वरूप को जान के पाषाणादि मूर्त्तियों का पूजन छोड़ देंगे। अर्थात् अभी तक कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ कि किसी मूर्ख मनुष्य को पाषाणादि की पूजा करते २ ईश्वर का ज्ञान हुआ हो और उन्हों ने मूर्त्तिपूजन छोड़ दिया हो किन्तु यह तो प्रसिद्ध देखने में आता है कि सहस्रों ही मूर्ख लोग जन्म जन्मान्तरों तक मूर्त्तिपूजन करते २ मर जाते हैं किसी को ज्ञान नहीं होता। हो कहां से वहां स्वयमेव ज्ञान का लेश नहीं तो सेवक को कहां से देगा ?। जो पदार्थ जिस के पास होता है वही दूसरे को दे सकता है ॥

जो अब तक ऐसा नहीं हुआ तो आगे भी मूर्त्तिपूजन से मूर्खों को ज्ञान होना असम्भव ही समझिये। हां जैसे मूर्त्तिपूजन वेदादि शास्त्रानुकूल है अर्थात् चेतनमूर्त्तियों की यथायोग्य सेवा करना उस से अवश्य ज्ञान हो सकता है इस से यह सिद्ध होता है कि पाषाणादि मूर्त्तियों के पूजन से मूर्खों को भी ईश्वर का ज्ञान नहीं हो सकता। और यह भी विचारणीय है कि यदि मूर्खों के लिये पाषाणादि पूजन है तो किन मूर्खों के लिये है अर्थात् एक तो जन्म से बाल्यावस्था में सभी मूर्ख होते हैं तथा एक मूर्ख वे हैं जिन को बड़ी अवस्था में भी किसी प्रकार की विद्या वा सत्संग से ज्ञान नहीं हुआ। यदि बालकों के लिये है तो उन को सन्ध्योपासनादि का विधान जैसा ब्रह्मचर्य्य आश्रम से ही धर्मशास्त्रों में किया गया वैसे मूर्त्तिपूजन का उपदेश क्यों नहीं किया गया? और उन बालकों को सन्ध्योपासनादि वा विद्याभ्यास से जब ज्ञान हुआ तो उन के लिये पाषाण पूजन का उपदेश निरर्थक है दूसरे प्रकार के मूर्खों को इस मूर्त्ति पूजा से ज्ञान होना ही असम्भव है। कदाचित् मान भी लिया जावे कि मूर्खों के लिये है तो फिर विद्वान् लोग क्यों करते हैं? अथवा आज कल कोई विद्वान् ही नहीं?। प्रसिद्ध देखने में आया है कि अच्छे २ पण्डित लोग अग्निहोत्र के मन्त्र और विधान तक नहीं जानते और बटियां अष्टप्रहर बानरी के बच्चों के समान दबाये फिरा करते हैं। तो पण्डित लोगों को अग्निहोत्र करना चाहिये किन्तु पाषाणादि मूर्त्तिपूजन नहीं करना चाहिये। यदि कहें कि भगवद्गीता में लिखा है कि-

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥

जैसा २ आचरण श्रेष्ठ पुरुष करता है वैसा ही दूसरे अप्रधान लोग भी किया करते हैं वह श्रेष्ठ पुरुष जिस कर्त्तव्य को प्रामाणिक मानता है लोक उसी के अनुसार वर्त्ताव करते हैं इस कारण यदि पण्डित लोग मूर्त्तिपूजन न करें तो मूर्ख लोग भी नहीं करेंगे क्योंकि श्रेष्ठ विद्वान् नहीं करते इस लिये मूर्खों को दिखाने वा सिखाने के लिये विद्वानों को भी पाषाणादि पूजा करनी चाहिये तो सो भी ठीक नहीं क्योंकि प्रथम तो मूर्ख लोग सब काम विद्वानों की देखा देखी पर नहीं करते अर्थात् अनेक काम ऐसे अज्ञानता से करते हैं कि जिन को पण्डित लोग नहीं चाहते कि ये ऐसा करें। यदि पण्डितों के देखे विना अन्य लोग काम न करें तो किसान लोग कह सकते हैं कि पण्डित लोग हल जोतें तो हम भी जोतेंगे और पण्डित लोग जो २ काम करें वही मूर्ख और नीच करें तो बड़ी गड़बड़ मचेगी अर्थात् पण्डितों के किये विना नीच लोग भी अपने काम क्यों करेंगे। इस

लिये उक्त भगवद्गीता के श्लोक का मुख्य अभिप्राय यही है कि सज्जन लोग सामान्य लोगों को सज्जन बनाने के लिये जैसा उपदेश करें कि तुम्हारा कल्याण इन २ कामों से हो सकता है उन २ कार्यों का आचरण स्वयं भी करें तभी उपदेश का फल ठीक हो सकता है इसी को सदाचार धर्म का लक्षण कहते हैं। यदि उक्त श्लोक का यह अभिप्राय हो कि श्रेष्ठ पुरुष सभी समुदायों में होते हैं तो नीचों की जाति में जो श्रेष्ठ हैं वे अपने सहयोगियों को दिखाने के लिये वैसे कर्म करें पण्डितों की क्या आवश्यकता है ? तो इस पक्ष से भी मूर्खों में जो श्रेष्ठ हों वे अपने अनुयायियों को दिखाने के अर्थ मूर्त्तिपूजनादि करें तो भी पण्डितों का काम पाषाणादि मूर्त्तिपूजन नहीं आता। इस कारण मूर्त्तिपूजनादि यदि शूद्रों के लिये रहे तो उन को कालान्तर में ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती और यह अभीष्ट होना चाहिये कि जिस से मूर्खों के अन्तःकरण की भी धीरे २ शुद्धि होती जावे सो इसी प्रकार हो सकती है कि महात्मा विद्वानों की सेवा उन शूद्रों वा मूर्खों से कराई जावे कि जिस से उन को भी सत्संग का गंध पहुंचे इसी लिये धर्मशास्त्रों में कहा है कि—

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥

शूद्र का काम तीन वर्णों की सेवा करना है। इस लिये पाषाणादि मूर्त्तियों का पूजन ज्ञान प्राप्ति वा ईश्वर भक्ति के लिये किसी का कर्त्तव्य कर्म नहीं ठहर सकता ॥

आज कल आर्यसमाजस्थ लोग इस (प्रचरित) मूर्त्तिपूजा को अच्छा नहीं समझते और समय २ पर इस का वेदादि सच्छास्त्रानुकूल न होना भी सिद्ध करते हैं अन्य लोग जो अन्तःकरण से यह भी जानते हैं कि वास्तव में यह मूर्त्तिपूजन वेदानुकूल नहीं है किन्तु पौराणिक (बनावटी १८ पुराणोक्त) है और कहीं २ अवसर पाकर वास्तविक अभिप्राय भी कह डालते हैं पर कोई समय ऐसा आ जाता है कि जब अनेक संस्कृतविद्याहीन लोगों से कुछ काम बनाना होता है तो वे ही लोग (जो वस्तुतः मूर्त्तिपूजन को वेदबाह्य जान चुके हैं) अपना कार्य साधने के लिये आर्यों के प्रतिपक्षी बन कर शास्त्रार्थ खड़े कर देते हैं और इस मूर्त्तिपूजन के शास्त्रार्थ को (जो वास्तव में शस्त्रार्थ है) महाविघ्नकारी समझना चाहिये। आज कल घर की लड़ाई का समय नहीं है। अर्थात् इस भारतवर्ष के बिगड़ने का बड़ा कारण फूट और आपस का ईर्ष्या द्वेष है इस समय ईर्ष्याद्वेष

के मेटने वाले भारतवर्ष में बहुत थोड़े पुरुष हैं परन्तु फैलाने वाले अधिक हैं। बहुतेरे ऐसे हैं जो ऊपर से देशहितैषी दीख पड़ते और दावा करते हैं कि हम यह देशोपकार करते वा करेंगे। पर वे ही अधिक हानि करते हैं अर्थात् देशोपकार के छल से अपनी प्रतिष्ठा और प्राप्ति के बढ़ाने का उपाय कर रहे हैं। मेरा प्रयोजन इस प्रसंग में यही है कि इस समय जितने भारतवर्षीय जन इस देश का सुधार होना अन्तःकरण से चाहते हैं उन को मुख्य कर यही उचित है कि इस समय ईर्ष्याद्वेष की न्यूनता कर कराके देश के सुधारार्थ कार्यों में सब सब की सहायता करें। अर्थात् उन विषयों की चर्चा न बढ़ावें कि जिन से द्वेष उत्पन्न हो मूर्त्तिपूजन के शास्त्रार्थों की चर्चा बढ़ने से भी कोई विशेष फल नहीं निकलता। आर्यसमाज का अभिप्राय तो यही है कि वैदिककर्मों का प्रचार हो और हम सब वेदानुयायी अर्थात् आर्यावर्तीय मनुष्य मात्र में एकता होवे। और यह भी चाहते हैं कि सत्य का प्रकाश होता जावे असत्य से बचें। यदि इसी प्रकार सब हिन्दु मात्र लोग अपना विचार करें और शत्रु मित्र को समझ लेवें तो कृतकार्य हो सकते हैं। क्रमशः

भवन्मित्रो–भीमसेनशर्मा
सम्पादक

(प्रेरित पत्र)

सूर्यकुमार जी पांड़े सभापति आर्यसमाज पुराना कानपुर का ॥

मैं आप को नमस्कार करता हूं–और श्रीयुत पं० नरसिंह शर्मा के इस तर्क (परमेश्वर ने ग्यारहवां पति तक नियोग करने की अवधि क्यों रक्खी एक न्यून वा एक अधिक क्यों न रक्खा) का उत्तर लिखता हैं अपनी बुद्धि के अनुसार–लेकिन इस से पहिले चार बातें जो निहायत ज़रूरी विचारतलब हैं उन को लिखता हूं और उन पर विचार करता हूं ॥

वह यह हैं

(१) अव्वल यह कि जो तर्क ग्यारहवें पति तक नियोग करने में पण्डित न० सिं० श० मझुलपुर निवासी को सायणाचार्य्य का भाष्य देख कर सूझी है वह बमूजिब उन के ख़त मुन्दर्जे आर्यसि० प० भा० १–७–१०८ के तलाशहक़ पर है या पक्षपात से भरा हुआ केवल श्री १०८ स्वामी जी के किये हुये अर्थ के खंडन पर।

(२) दूसरे यह कि संख्या पर होने से पं० जी का तर्क पूरा है या अधूरा (लंगड़ा) ॥

(३) तीसरे यह कि सन्तानोत्पत्ति करने के लिये वेदशास्त्रानुकूल सामान्य विशेष विवाह और नियोग की दो ही विधि हैं या तीसरी और कोई—या विवाह के सेवाय और कोई नहीं ॥

(४) यह कि (इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः) इस मन्त्र में—दश पुत्रों के करने और ग्यारहवें पति को जानने अथवा वर्तमान रखने के लिये एक जड़ वस्तु—मेघदारक इन्द्र (सूर्य) से प्रार्थना करने और उस की कृपा यानी सहायता चाहने का उपदेश परमेश्वर ने किया है—या मनुष्यमात्र को विधिपूर्वक मैथुन कर के सन्तानोत्पत्ति करने का उपदेश किया है ? ॥

(विचार)

(१) निसबत अमर अव्वल के यह है कि इस में ज्यादा तरद्दुद करने की कोई जरूरत नहीं पण्डित जी का पक्षपात उन के तर्क से ही साबित है क्योंकि मन्त्र में पाठ है (दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि) जिस्से १०-११ की दो संख्या निकलती हैं क्या इन में से कोई एक को भी पृथक् कर सक्ता है कैसा ही असम्भव अर्थ क्यों न कर लीजिये मैं प० जी को उमर भर के लिये ठेका देता हूं उक्त वाक्य से किसी एक संख्या को पृथक् कर अर्थ कर देवें तो सिवाय दांत निकालने के और कुछ न बनैगा और जो बन सकै तो उमर भर के लिये छुट्टी ही है मैं जान्ता हूं कि कोई विचारवान् दश की सख्या को छोड़ ग्यारा की सख्या पर तर्क करने से अथवा ग्यारा की सख्या को छोड़ दश की संख्या पर तर्क करने से कदापि सत्यार्थ को प्राप्त नहीं होसक्ता—सच तो यों है कि जो कोई अन्धे की लाठी पकड़ कर पीछे २ चलैगा वह अवश्यमेव कुंए में गिरे गा वैसाही पं० जी भी सायणाचार्य्य का पुछल्ला पकड़ दश की संख्या को उल्लंघन कर लगे ग्यारहवें पर कूदने तभी तो रसातल को चले गए कि उमर भर भटकैं तौ भी खोज नहीं पाने के इस्से बढ़ कर और पक्षपात क्या होगा—मालूम होता है कि पण्डित जी नियोग को बहुत ही बुरा समझते होंगे—और स्वामी जी के किये हुए अर्थ में अनेक प्रमाणों से प्रतिपादित सिद्ध किये हुये नियोग विधि को देख अवश्य उन को क्रोध हुवा होगा कि फिर क्या है (क्रोध पाप का मूल) जब और प्रश्न चलते न देखा तो एक दश की संख्या को छोड़ दूसरे ग्यारा की संख्या पर तर्क घर घसीटा—खैर कुछ हो अब मैं पूछता हूं कि जैसी शंका पं० जी को ग्यारहवें पति तक नियोग करने में हुई है वैसी तर्क क्या दश पुत्रों के उत्पन्न करने में नहीं हो सक्ती कि एक दो घाट बाढ़ क्यों न करे दश ही की अवधि परमेश्वर ने क्यों रक्खी क्या एक सौ एक-व-साठ हजार एक-न करें और किसी से वरदान में न

मांगे यह पं० जी को निश्चय हो गया है कि अधिक न्यून करने मांगने से पाप होगा या क्या ?—अगर कहैं कि नहीं दश की संख्या पर तर्क इस लिये नहीं हो सक्ता कि वह सायणाचार्य्य का किया हुवा अर्थ है उत्तम ही है और व्याकरण रीति से भी सिद्ध है तो मैं पूछता हों कि पं० जी का तर्क तो संख्या पर है जिस का सिद्ध होना युक्ति से ही संभव है-इस में व्याकरण का क्या झगड़ा यहां तो न्याय की कहिये—अब जो कोई युक्ति सायणाचार्य्य ने ज़ाहिर की हो या पं० जी ने सोची हो कि पुत्रों के लिये दश ही की अवधि यथार्थ है एक घाट वा एक बाढ ठीक नहीं—कृपाकर सूचित करैं मैं राह देख रहा हूं वाह री पाण्डित्य ! क्या इन्हीं कुतर्कों के भरोसे तलाशहक़ का दावा किया चाहते हैं——अब मैं इस बात को जाना चाहता हों कि पं० जी ने ऐसी लङ्गड़ी तर्क क्यों की और अपने व्रत को क्यों भंग किया—देखो पूरी तर्क करने से सचाई की सचाई थी और विचार का विचार—ख़ैर उन की ख़ुशी —अनुमान तो ऐसा होता है कि शायद पं० जी सायणाचार्य्य के स्तुति प्रार्थना करने से पिघल गये हों या धृतराष्ट्र—और सगर के पुत्रों की पैदायिश की याद आ गई हो क्योंकि मन्त्र में दश पुत्र से अधिक पैदा करने की कोई आज्ञा ही नहीं फिर इस असमंजस को देख यही सोचे होंगे कि दश पुत्रों की संख्या ही उड़ा दें नहीं तो उक्त संख्या को तर्क से कदापि न छोड़ते—परन्तु खेद यह है कि पंडित जी ने—धृतराष्ट्र—और पाण्डु—और अर्जुन आदि की उत्पत्ति की याद क्यों न करली जिस से ग्यारहवें पति तक संख्या में तर्क करते पण्डित जी का हृदय कंप जाता—हम नहीं जानते कि आज कल के पण्डितों के हृदय में बिना बिचारे श्री १०८ स्वामी जी के लेख पर कैसे तर्क पैदा हो जाती हैं और छुकरिया पुराण को देखते हुये भी कौन इन लोगों को नेत्र बुद्धि दोनो से हीन कर देता है अनुमान ऐसा होता है कि शायद लोभ हो—क्योंकि ऐसा काम और से होना कठिन है और लोभ को मनु जी ने सब दोषों का कारण माना है—यह जो न करा दे सो थोड़ा है लेकिन हम को इस में भी बड़ी भारी यह ख़ुशी है कि पण्डितों के हृदय में "क्यों" को तो जगह मिली—अब हम को आशा हुई कि कभी निर्णय हो ही रहैगा और सत्यार्थ को भी प्राप्त हो जावेंगे लेकिन "क्यों" को न छोड़ैं ॥

(२) निसबत अब दूसरे के यह है कि अब अव्वल ही में हम इस बात को सिद्ध कर चुके हैं कि तर्क पंडित जी का अधूरा ही है जब तक ऐसा न सिद्ध कर देखावैं कि दश पुत्र इस लिये उत्पन्न करै एक घाट एक बाढ़ इस लिये नहीं या ऐसा न स्वीकार कर लें कि हम को तलाशहक़ से कुछ मतलब नहीं या दश की संख्या जो पुत्रों के लिये मन्त्र में पड़ी है उस का मन्त्र से निषेध न दिखला दें तब

तक पं० जी के तर्क का पूरा होना असम्भव है नहीं तो संख्या पर होने से तर्क तभी पूरा होगा कि जब निम्नलिखित किया जायगा (तर्क) परमेश्वर ने दश पुत्रों तक उत्पन्न करने और नियोग में ग्यारहवां पति तक करने की अवधि क्यों रक्खी एक२ न्यूनाधिक क्यों न रक्खा ?

(३) निसबत अम्र तीसरे के यह है कि विवाह और नियोग दोनों विधि वेदशास्त्र अनुकूल ही हैं मनुष्यमात्र को सन्तानोत्पत्ति करने के लिये—जिन में विवाह सामान्य सर्वसाधारण के लिये—और नियोग विशेष आपत्काल के लिये है (याने विवाहित पति वा स्त्री के न रहने से पुत्रों के अभाव में पुत्रोत्पादन ही के लिये है जिस में अनेक प्रमाण हैं अगर लिखे जावें तो एक किताब अलाहदा और बनजावे इसलिये संक्षेप से दो एक वाक्य लिख दिये है (देवृकामः) (निओ-विन्देत देवरम्) अ० वेद (देवरःकस्माद्द्वितीयो वर उच्यते) नि० उक्त प्रमाणों से साफ सिद्ध है कि नियोग भी पुत्रोत्पत्ति करने की एक विशेष विधि है जब विवाह और नियोग दोनों सन्तानोत्पत्ति करने के विधि ठहरे तो कोई अवधि भी होना चाहिये मगर उस के लिखने की यहां जरूरत नहीं है तर्क के उत्तर में लिखी जायगी—लेकिन सहायता और कृपा किसी जड़ वस्तु की वेद और शास्त्रों में सन्तानोत्पत्ति विधि में ढूंढने से न मिलैगी इससे क्या आया कि मनुष्यमात्र के लिये प्रजा उत्पन्न करने को कोई तीसरी विधि धर्मयुक्त है ही नही देखो (सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः) इस मन्त्र में चार प्रकार के पति कहे हैं वह नियोग के न मानने से कहां चरितार्थ होंगे—अब जो लोग इस मन्त्र में तीन पति कन्या के विवाह से पहिले देवता मानते हैं उन का मानना उन्ही के मन्तव्य ग्रन्थो के प्रमाण से व्यर्थ हुआ जाता है—क्योकि पुराणो में देवताओं को अमोघवीर्य माना है यहां तक कि चाहे उन का वीर्य दोनैया में रख दिया जाय चाहे नाक कान में छोड़ दिया जाय चाहे मछली आदि जानवर कोई किसी तरे से खा जाय हर सूरत में इन्द्रिय से निकले पीछे उस्से लड़का ही होगा—लेकिन यहां हम किसी मानने वाले की कुमारी कन्या के एक मुसरिया भी होते नही देखते तो क्योंकर मान लिया जावे कि उक्त मन्त्र का अर्थ देवतापद में चरितार्थ है—(फिर जो सर्वथा प्रमाणशून्य) इस्से क्या आया कि उक्त मन्त्र के अर्थ से विवाह और नियोग ही का प्रतिपादन होता है—और अगर कोई कहे कि वह देवता नपुंसक हैं तो अव्वल उन के नाम से यह बात नहीं पाई जाती—और अगर हो भी तो फिर ऐसे निकम्मो को किस पागल ने पतिभाव को प्राप्त किया—इस्से भी उन का अन्यथा ही होना सम्भव है—और अगर कहा जावे कि नहीं वह पूरे पुरुषार्थी हैं तो भी वही बात आई जाती है कि फिर.मानने वालों को कुंवारे में

नाती खेलाने को क्यों नहीं मिलता जो कहा जावै कि वह भोग नहीं करते हैं इसलिये पुत्र नहीं होता तो हम पूछते हैं कि भोग नहीं करते तो क्या करते हैं— अगर कहा जावे कि रक्षा करते हैं तो फिर पिता क्यों नहीं कहते पति के अर्थ में क्यों विचारो को घसीटते फिरते हैं—इससे सिद्ध होगया कि उक्त मन्त्र में विवाहित और नियुक्त पति का ग्रहण है जहां कहीं पिता का ग्रहण होता हो वहां इन तीनों देवताओं को बुलालें-ऐसी असम्भव वार्ता वही मानेगा जिस के हिये बाहर की दोनो फूटी हों क्या यह पागलपने की बात नहीं है? कि समर्थ को असमर्थ ठहराना और असमर्थ को असमर्थ जानते हुये भी समर्थ ही कहे जाना और माने जाना इस में तो घृणा न आती होगी—और जो मनुस्मृति में साध्वी स्त्रियो के लिये दूसरे पति का निषेध है उससे नियोग का निषेध नहीं निकल सक्ता—उस का तात्पर्य यह है कि यद्यपि पुत्रोत्पत्ति करने के लिये नियोग एक प्रकार का विशेष विधि है तथापि कोई मनुष्य अज्ञान वश उक्त विधि को वारट न समझें कि चार नाचार नियोग किया ही जावे—इससे क्या आया कि जिस को पुत्र की इच्छा हो वह नियोग करे और जिस को न हो वह न करे— किन्तु ब्रह्मचर्य्य रह कर अपना जन्म व्यतीत करे (सोचो समझो इस में नियोग की क्या हानि हुई) और यही तात्पर्य्य श्री १०८ स्वामी जी महाराज के उपदेश का है (यह नहीं कि जन्मभर भ्रूणहत्या किया करें और नियोग को बुरा समझें इस में एक उदाहरण क़ानूनी बहुत ही उपयोगी है दिया जाता है कि जैसे क़ानून माल या दिवानी में प्रकट किया गया कि हक़शुफा वह कर सक्ता है कि जो शामिल हो लेकिन यह नहीं कि जो शामिल महाल मौजा नहीं) इससे क्या समझा गया कि चाहै मालिकान महाल में से किसी शख्स का कोई शख्स शरीक भी हो लेकिन महाल में शरीक न होने से हक़शुफा नहीं कर सक्ता मगर इससे यह हरगिज़ साबित नहीं हो सक्ता कि हक़शुफा नाजायज़ हो गया इससे सिद्ध होगया कि मनु जी ने नियोग का प्रतिपादन ही किया है परन्तु यह नहीं कहा कि विना नियोग किये कोई बचने न पावें—हमारे प्यारे पण्डितों को समझना चाहिये कि धर्मशास्त्र कुञ्जरिया पुराण नहीं है जो कभी कुछ बकता कभी कुछ उस में आज कल के टकाहरण उपरहिता पण्डितों की राय नहीं लीगई— वह बड़े भारी आलीदिमाग़ महर्षि का विचार है वह आलादरजे की क़ानून है उस में ऐसा मिलना मुशकिल है कि उसी बात का प्रतिपादन किया हो फिर उसी का निषेध और अगर कहीं ऐसा देख भी पड़े तो यक़ीन रखना चाहिये कि वह किसी स्वार्थी का छल होगा सो उसी क़ानून याने शास्त्र के देखने से खुल जाता है—क्रमशः

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग २ | मार्गशीर्ष संवत् १९४५ | अङ्क ७

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

गत अङ्क से आगे पं० सूर्य्यकुमार जी का शेष लेख

परन्तु उस में सीधे का उलटा उस को एक अक्षर नहीं समझना चाहिये—इस्से सिद्ध हो गया कि सन्तानोत्पत्ति करने के लिये मनुष्यमात्र के वास्ते विवाह और नियोग सामान्य और विशेष तौर पर दो ही विधि हैं और एक दूसरे के आगे पीछे ही हो सकते हैं एक साथ एक काल में कदापि नहीं क्योंकि विवाह अक्षतयोनि का होता है और नियोग क्षतयोनि का भी इस से यह भी सिद्ध भया कि विवाह के पीछे ही नियोग हो सकता है ॥

(४) निसबत अम्र चौथे के यह है कि (इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः) इस मन्त्र का सायणाचार्य्य का किया हुआ अर्थ जिस को प० जी अति उत्तम बतलाते हैं वह ऐसा असम्भव और सम्बन्धशून्य है कि जैसे कोई उन्मादी पुरुष अकस्मात् बक उठै कि ओ—कुए—तू—चूल्हा—जगाव—अथवा अपनी मेहरबानी से इस का—चूल्हा—जगाव दे—देखिये उक्त आचार्य्य अर्थ करते हैं कि (हे मेघों के स्वामी सेचन से सम्पूर्ण जगत् के पालक इन्द्र तू) इस अर्थ से यह ज़ाहिर है कि मेघों का स्वामी होने से इन्द्र शब्द का अर्थ रूपकालंकार से सूर्य्य ही लिया जा सकता है—लेकिन मन्त्र के अर्थ से यह नहीं मालूम होता कि ऐसे जड़ इन्द्र को कन्या में दश पुत्र करने को और ग्यारहवां पति करने को कौन आज्ञा देता है ? और यह भी नहीं मालूम होता कि उक्त इन्द्र से कौन मिन्नत आर्ज़ू करता है कि आप की कृपा से यह कन्या दश पुत्र तक उत्पन्न करै—और ग्यारहवां पति क़ायम रहे—इन हाकिम वा सिफ़ारशी दोनों में से किसी का पता नहीं चलता—जो कहा जावै कि परमेश्वर वेदों का उपदेश करने वाला है वही उपदेश करता है तो हमारा सवाल है कि किस को ?—जो कहैं कि—मेघों के स्वामी इन्द्र को—तो सर्वथा असम्भव है

क्योंकि परमेश्वर ज्ञानस्वरूप है उस को ऐसा भ्रम कभी नहीं हो सकता कि वह जड़ को चेतन समझे या चेतन को जड़। उस की वेदविद्या से यह साफ़ ज़ाहिर है कि मेघदारक इन्द्र जड़ है-उस से कन्या का सौभाग्यवती होना वा दश पुत्रों का होना असम्भव है उस के द्वारा जल वृष्टि हो कर घास फूस इत्यादि का होना तो सम्भव है परन्तु स्त्री को सौभाग्यवती करना और उस से पुत्रों की उत्पत्ति करना वीर्यसेचन करने वाले पुरुष ही का काम है इस से क्या आया कि इन्द्र शब्द से इस मन्त्र में पुरुष ही का ग्रहण यथार्थ है तभी परमेश्वर का उपदेश भी ठीक है-अब रहा मिन्नत आर्ज़ू करने वाला उस में अगर कोई मनुष्य लिया जाय तो बतलाना चाहिये कि वह कौन है और अगर परमेश्वर लिया जावै तो उस का क्या प्रयोजन? दिखलाना चाहिये कि वह एक अपनी ही बनाई चीज़ को बे-मतलब आजिज़ी करता-क्या परमेश्वर को भी टीकाकार ने अपना सहपाठी समझ लिया-हम ऊपर लिख चुके हैं कि वह पूर्ण है उस में किसी प्रकार का भ्रम कोई साबित नहीं कर सकता वह सब से बड़ा है उस से कोई बड़ा नहीं कि जिस की वह आजिज़ी करै और यहां तो वही मसल चरितार्थ है कि (खिलिल के खियाल हिलाल पायन परे) अब इस से यह तो सिद्ध है कि सायणाचार्य्य का किया हुआ अर्थ किसी उन्मदी के बकवाद से न्यून नहीं है लेकिन इतना और पण्डित जी को सूचित करता हूं कि जिस इन्द्र का वह भरोसा करते हैं-ऐसा कि वोह-हमारे दश पुत्र तक अपनी कृपा से पैदा करेगा-सो इस भरोसे को निर्मूल समझ कर पुरुषार्थ करैं इन्द्र कोई गोलोक का स्वामी नहीं है कि वह घर २ परसादी पाता डोले-उस के द्वारा भी ईश्वर नियम से जो कुछ संसार के उपकार होते हैं उन के लिखने की यहां कोई ज़रूरत नहीं अनेक पदार्थविद्या के जानने वाले अच्छी तरह जानते हैं अब पण्डित जी से मेरी सविनय यह प्रार्थना है कि पुत्र उत्पन्न करने में इन की किसी की सहायता काम न आवैगी पुत्र तभी होगा जब ऋतुकाल में वीर्य्यसेचन करने वाला समर्थ पुरुष स्त्री के साथ मैथुन क्रिया से ग्यारह का सा अङ्क बन जायगा यह रूपकालङ्कार है जल-सेचन करने वाले से कुछ भी न होगा-इस से क्या सिद्ध हुआ कि (इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः) इस मन्त्र में परमेश्वर ने मनुष्यमात्र को यह उपदेश किया है कि विधिपूर्वक मैथुन क्रिया कर सन्तानोत्पत्ति करे-यही सिद्धान्त श्री १०८ स्वामी जी का था और आ० सि० प० भाग १-५-व भा० २-४-में व्याकरण रीति से सप्रमाण अच्छी तरह से दिखला दिया है-शेष तर्क के उत्तर में दिखलाया जाता है-जो चार बातें मैंने ऊपर लिखी हैं वह इस लिये कि १ तो पं० जी का पक्षपात दिखलाने

२ सन्तानोत्पत्ति के लिये वि० नि० दो ही विधें जानने ३ सायणाचार्य्य के अर्थ की उत्तमता दिखलाने और नि० से पं० न० सि० शर्मा की घृणा दूर करने के लिये लिखी है ४ कहीं कहीं उत्तर में भी काम आ जावेंगी। अब पहिले मैं मूल मन्त्र लिखता हूं तत्पश्चात् विचार और उत्तर :—

(मन्त्र)

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु ।
दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि ॥

यद्यपि इस मन्त्र का भाष्य स्वामी जी का किया हुआ मैंने आज तक नहीं देखा जिससे निश्चय करता कि उक्त मन्त्र में कौनसा ही अलङ्कार है तथापि अनुमान होता है कि चाहे रूपकालङ्कार चाहे उपमालङ्कार दो में से कोई एक अवश्य होगा या दोनों हों परन्तु ऐसा कभी न होगा कि उक्त मन्त्र में कोई अलङ्कार हो ही नहीं इस बात को आप श्री ६ पं० भीमसेन जी से निश्चय करलें इस में हम ज्यादा नहीं लिख सक्ते। अब देखिये कि उक्त मन्त्र को सायणाचार्य्य और उन के पीछे उन के अनुयायियों ने विवाह का गीत समझ रक्खा है और नियोग का सर्वथा निषेध करते हैं-केवल निषेध ही नहीं बल्कि घृणा करते हैं- और इसी मन्त्र से श्री १०८ स्वामी जी महाराज ने विवाह और नियोग यथाक्रम सिद्ध किया है-और जाहिरा मूलमन्त्र में विवाह और नियोग दोनों विधों का कुछ पता नहीं चलता-तो आश्चर्य है कि फिर क्या समझ लिया जावे कि मनुष्य भी पशुवत् सन्तानोत्पत्ति कर लिया करै या यों ही कोरी इन्द्रदेवता की कृपा से-जो कहा जावे कि नहीं प्रकरण से विवाह ले लेना चाहिये अर्थात् वि० करके पुत्र उत्पन्न करना चाहिये तो मैं पूछता हूं कि क्या नियोग करके पुत्रोत्पत्ति न करे-क्या नियोग विधि नहीं जो प्रकरण से उस का ग्रहण नहीं हो सक्ता। इस बात को कोई सिद्ध कर सक्ता है? कदापि नहीं-नियोग भी वेद और तदनुकूल शास्त्र वा वेद प्रमाण से सन्तानोत्पत्ति करने की एक उत्तम विधि है- इस से क्या सिद्ध भया कि पुत्रोत्पत्ति करने के लिये वि० और नि० सामान्य विशेष दोनों विधि हैं प्रकरण से यथासम्भव दोनों का ग्रहण करना ठीक है-लेकिन पं० न० सिं० श० जी घबरावैं नहीं यह न समझें कि प्रकरण ही से वि० और नि० ये भी सिद्ध करते हैं मन्त्र में उक्त विधों का लेश मात्र कहीं ठिकाना नहीं-मैं उन को उसी नियत अवधि की संख्या से जिस पर उन का तर्क है दोनों विधों को और भी कई एक प्रयोजनों के साथ दिखलाये देता हूं लेकिन तनक

विचारें यही वेदवाक्य हैं जिन को समग्र विद्वान् अर्थ मागर मान्ते आये हैं–बल्कि मान्ते ही नहीं किन्तु निश्चय करके यही बात आ० सि० पत्र भा० १ अं० २–३ में भी अच्छी तरह से दिखला दी गई है फिर सन्देह क्या रहा यहां भी वैसा ही प्रयोजन है जैसा किसी कवि का वचन है कि (एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा।) जब मनुष्यों के वाक्य का यह हाल है तब ईश्वर उपदेश में क्या सन्देह है। (पण्डित नरसिंह शर्मा का तर्क) परमेश्वर ने ग्यारहवां पति तक नियोग करने की अवधि क्यों रक्खी एक न्यून वा अधिक क्यों न रक्खा ? ॥

(उत्तर) मनुष्य मात्र को विधि क्रिया अपना धर्म और अवधि इन सब के जानने के लिये देखो जब परमेश्वर ने (इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः) इस मन्त्र में पुरुष के सामर्थ्य को उस से जताया और स्त्री को सौभाग्यवती कर उससे पुत्र उत्पन्न करने का उपदेश किया है तो उस की विधि और क्रिया में उस के धर्म और अवधि का नियत करना भी परमेश्वर पर फर्ज़ है आगे देखिये सुनिये समझिये यह उक्त अवधि संख्या ही से कर दियी है (विधि) (पतिमेकादशं कृधि) हे स्त्रि जैसे एक एक की संख्या पूर्व पर आने से वृद्धि को प्राप्त हो ग्यारह ११ की संख्या बन जाती है वैसे तू आगे पीछे विवाह और नियोग को विधि पूर्वक करके सन्तानोत्पत्ति से वृद्धि को प्राप्त हो किन्तु एक साथ एक काल में दो भी कदापि नहीं–एक के निधन व असमर्थ होने में ही दूसरा–क्योंकि एक काल में दो होने से कई प्रकार का दोष है–१ तो यही बडी भारी हानि है कि जो दो के बीच में पुत्र होगा वह किस का कहलावे गा ॥

(२) दूसरे वि० अक्षतयोनि का होता है नियोग क्षतयोनि का तो एक काल में इन दोनों प्रकारों का मिलना सर्वथा असम्भव है ॥

(३) तीसरे एकादश संख्या के रूपक का ऐसा नियम नहीं–इससे सिद्ध हो गया कि विवाह और नियोग पूर्व पर ही होने चाहिये यही रूपक से चरितार्थ है (क्रिया) (दशास्याम् पुत्रानाधेहि) यहां ऐसा कहने से कि स्त्री या पुरुष तू दश पुत्र तक उत्पन्न कर–एक तर्क पैदा होता है कि किस प्रकार उस का समाधान आगे के वाक्य से कर दिया है कि (पतिमेकादशं कृधि) जैसे ग्यारह की संख्या का दर्शन तुम को प्रत्यक्ष होता है अथवा जैसे एक एक सम नीचे ऊपर होने से ग्यारह की संख्या बनती है वैसे हे स्त्रि तू पति को एकादशस्यामी अपने साथ में कर अर्थात् मैथुन क्रिया करके दश पुत्र तक उत्पन्न कर अधिक नहीं इस लिये कि अधिक में कई प्रकार के दोष हैं देखिये ॥

(१) एक तो अतिविषय सेवा जिससे आत्मघात होता है ॥

(२) तृतीय आश्रम की हानि ॥

(३) मनुष्यमात्र में पुत्र को पति का स्थानी और कन्या को स्त्री का स्थानी समझना या करना महान् अधर्म्म है और एकादश संख्या का रूपक सर्वथा पति व स्त्रीभाव ही में चरितार्थ है इस बात में कहीं अन्यत्र से प्रमाण लाने की ज़रूरत नहीं पुत्रों की अवधि की संख्या बिन्दु ही बतलाये देता है कि पति के स्थान में पुत्र को शून्य बतलाता है ॥

इससे सिद्ध होगया कि पुत्रों की संख्या की अवधि दश से अधिक न होनी चाहिये क्योंकि आगे पति की अवधि भावपूर्वक वर्त्तमान और साथ ही इस के यह भी सिद्ध होगया कि पति की अवधि न्यून न होनी चाहिये क्योंकि जो दोष पुत्रों की अवधि के अधिक होने में हैं वही दोष पति की अवधि में एक न्यून होने से आ जायगा फिर किसी प्रयोजन की सिद्धि न होगी—अब कोई इस में ऐसी शङ्का करै कि परमेश्वर को ऐसा घृणित उपदेश करने की क्या ज़रूरत तो हम कह सक्ते हैं कि अव्वल तो महीधरादि की टीका देख २ जो महाघृणित है शंका करने वालों का दिमाग़ बिगड़ गया है तो वह जब किसी आप्त सत्यवक्ता के किये अर्थ को देखते हैं झट उन को घृणा आ जाती है जैसे इस का उदाहरण समझ लेने के लायक यह है क्या कहा जावै—लेकिन परमेश्वर ने इस लिये उपदेश किया है कि मनुष्यमात्र सन्तानोत्पत्त्यादि अपने धर्म्म को पश्वादि के धर्म्म से विलक्षण समझे और इसी लिये श्री १०८ स्वामी जी महाराज ने इस अर्थ में (कृधि) शब्द का अर्थ भी (समझ) ऐसा किया है सो यह समझने ही की बात है इससे क्या जाना गया कि उक्त अवधि की संख्या से रूपकालङ्कार से परमेश्वर ने मैथुन क्रिया और पुत्रों की अवधि की संख्या का रूपक मिला कर मनुष्यों के धर्म का भी उपदेश किया है (विविध) देखो जिस एकादश (११) की संख्या के रूपक से परमेश्वर ने सन्तानोत्पत्ति करने की विधि (वि० और नि०) और क्रिया (मैथुन) और विवेक (पश्वादि से विलक्षण मनुष्य धर्म) मनुष्यों के लिये उपदेश किया है क्या उक्त संख्या पति करने की अवधि में रखना उस की सर्वज्ञता से बाहिर है कदापि नहीं यह उस ज्ञानस्वरूप परमपिता का सर्वोपकारी उपदेश है—देखिये जब उस ने विवाह और नियोग दोनों विधों का उपदेश किया है तो अवधि भी अवश्य होनी चाहिये कि कहां तक पति करै उस के समाधान के लिये यह वाक्य है कि (पतिमेकादशङ्कृधि) तात्पर्य्य यह है कि दश पुत्र उत्पन्न करने के लिये ग्यारवां पति तक करै इस में जिन किन्हीं को शङ्का होती है कि यह दोनों पद एक वचनान्त हैं इससे पति एक ही लेना चाहिये उन का भ्रममात्र ही नहीं किन्तु अन्य भी महादोष है अर्थात् वह अपने पूर्वज व्यास युधिष्ठिरादि को नीच बतलाने और वर्त्तमान संसार के मनुष्यों

के सन्मुख महापापी ठहराने वाले हैं क्योंकि इस समय पूर्व पर दो तीन स्त्री तक की सादी हो जाना सहज है इन को बुद्धिमान् विचार लेंगे—असल में एक वचनांत का तात्पर्य्य यह है—कि एक पति के समर्थ होते हुए वर्त्तमान समय में दूसरा पति न करे क्योंकि पति वा स्त्री दोनों पुत्र त्पत्ति करने के लिये हैं और उक्त काम में इन दोनों का समान धर्म है सो (मनु० अ० ९ श्लो० ९६) में कहा है—जब समर्थ और वर्त्तमान है तो दूसरे का क्या प्रयोजन और अगर पूर्व पति का अभाव हो या असमर्थ हो ता जब तक पुत्र न हों और दैवयोग से पति मरते या असमर्थ होते जायं तो (एके बाद दीगरे) अर्थात् एक के बाद दूसरा इसी सिलसिले से ग्यारह ११ पति तक स्त्री करे परन्तु एक काल में एक साथ दो कदापि नहीं दो का होना ही महादुःख की बात है यह एक वचनान्त होने ही का फलितार्थ है और रूपकालङ्कार से भी एक साथ दो का कहीं ठिकाना नहीं इससे क्या सिद्ध भया कि उक्त वचनों के एकवचनान्त होने का यह प्रयोजन नहीं कि एक विवाह के सिवाय दूसरे (नियोग) का निषेध है बल्कि सिलसिलेवार प्रतिपादन है जैसा ऊपर लिख चुके हैं २ दूसरा उक्त वचनों में एक वचन के होने का यह प्रयोजन है कि अगर ये बहुवचन होते तो शायद् कभी कोई मूर्ख वा स्वार्थी ऐसा भी समझ जाता कि एक २ स्त्री को ग्याहर २ पति करने को परमेश्वर ने एक साथ आज्ञा दी है देखो लड़के तीन तीन होते हैं कुछ पाप की बात है नहीं वह तो पद बहुवचनान्त है पाप होता तो परमेश्वर क्यों उपदेश करता परन्तु इस बात पर ख्याल कीजिये कि जब परमेश्वर ने उक्त वाक्य को एकवचनान्त पढ़ा है और इस के अर्थ से एक काल में दो पति का होना असम्भव है मन्त्र में, तब तो हमारे महात्मा पौराणिकों ने श्रीमहारानी द्रौपदी जी को पञ्चभर्तारी और श्री महाराज योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र जी को सोलह हज़ार १६००० नारी का व्यभिचारी बना दिया तिस पर भी सन्तोष न हुआ एकतीस क्रोड़ वाले गोलोक का स्वामी हो इलाहदा है एक चोली मार्ग वाला अलग—एक तन मन धन अर्पण कराने वाला अलग—एक घोड़े से समागम कराने वाला अलग (हा) शोक क्या ये घृणा की बातें नहीं क्या इससे भी बढ़कर घृणित बातें सिवाय पुराण आधुनिक टीकाकारों की टीका के और कहीं मिलेंगी ? कहीं भी नहीं—खैर हुई कि परमेश्वर ने उक्त वाक्य को एकवचनान्त प्रकाशित किया नहीं तो न जाने पौराणिक क्या करते अब पं० नरसिंह श० से मेरी यह प्रार्थना है कि वर्त्तमान काल में जैसे घृणा और दुःख और लज्जा भ्रूणहत्या करने और कुटुम्बवैधव्य स्त्रियों की नीचों के साथ निकल जाने में होता है वैसी कोई भी घृणा की बात एक २ कर के वि० और नियोग में जैसा ऊपर लिख आये हैं ग्यारहवां पति तक करने में नज़र

नहीं पहुंती बल्कि इन दुष्ट कामों से बहुत ही उत्तम है क्योंकि फल तो नहीं नष्ट होता जब फलनाश नहीं तो अधर्म भी कोई उसे नहीं कह सक्ता जब अधर्म नहीं कह सक्ता तो धर्म होने में क्या सन्देह रहा जब धर्म सिद्ध हो गया तो कर्त्तव्य कर्म है ॥

अब देखिये कि इसी वाक्य के पूर्व (दशास्यां पुत्रानाधेहि) यह वाक्य बहुवचनान्त है उस का फलितार्थ भी मैं आप (प० न० सिं० श०) जी को प्रत्यक्ष दिखलाये देता हूं जिस्से उन को एकवचन का भी अभिप्राय मालूम हो जायगा देखिये पुत्र अगर एक काल में एक १ दो २ तीन ३ तक पैदा करें कुछ भी अधर्म की बात नहीं ऐसा ही एकवचन का भी मतलब है जैसा ऊपर लिख चुके हैं इस्से सिद्ध हो गया कि एक एक कर के यथाक्रम आपत्काल अर्थात् पुत्र के अभाव में स्त्री ११ तक पति करै इसी तरह से समानधर्म होने से पुरुष भी ११ स्त्री तक करै अब युक्ति से भी ग्यारह ही की अवधि ठीक है उस को आगे दिखलाता हूं देखिये यद्यपि यत्नसाध्य संसार है तथापि मनुष्य वहीं तक यत्न कर सक्ता है जहां तक उस के सामर्थ्य की अवधि है जैसे वैद्य रोगी के रोग को दूर कर सक्ता है परन्तु उस की मृत्यु को नहीं हटा सक्ता—वैसे ही सन्तानोत्पत्ति करने में वही तक यत्न हो सक्ता है जहां तक रजवीर्य शुद्ध मिलै या शुद्ध करने से हो सके अथवा जहां तक रजोदर्शन की अवधि है—तो देखिये कि परमेश्वर ने जो ग्यारह तक की अवधि रक्खी है वह यथार्थ है या नहीं इस पर विचार यह है कि जो परमेश्वर ने पति करने के लिये अवधि रक्खी है वह बहुत ही ठीक है क्योंकि मनुजी का वाक्य है कि (बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्) इस का तात्पर्य्य यह है कि बाल्यावस्था में कन्या पिता के गृह में रहै तत् पश्चात् युवावस्था में उस का विवाह सदृश पति से किया जाय इस से क्या आया कि १६ सोलह वर्ष की कन्या का विवाह करना चाहिये ऐसा ही वै० शास्त्र सुश्रुत का मत है अब अगर औसत दर्जे एक पति के लि० उन से न्यून अवधि ली जावे तो ३ तीन वर्ष से कम क्या ली जावें क्योंकि मनु के प्रमाण से यही अवधि क्षेत्र शुद्धि की है तो ११ ग्यारहतीयां तेतिस ३३ और तेतिस और १६ सोलह ४९ उञ्चास होते हैं और पचास के लग भग रजोदर्शन स्त्रियों का बन्द हो जाता है फिर पति करने का क्या प्रयोजन रहा इस में अगर कोई शङ्का करै कि अगर भांवरैं परते ही निधन हो जाय तो अव्वल तो उस की गणना विवाह में नहीं क्योंकि उस ने क्षतयोनि किया नही उस का तो विवाह होना चाहिये मगर जो छः महीने वर्ष भर में या दो वर्ष में मरते जावें तो उन के लिये तीन वर्ष का अन्तर है क्योंकि पति शोक अत्यन्तकठिन होता है साधारण स्त्रियों के लिये—कुलटाओं को नहीं और यह भी असम्भव बात्ता है कि

सब छः छः महीने या वर्ष वर्ष में मर जावें इससे क्या सिद्ध भया कि तीन वर्ष का औसत ठीक है—और उपाय करने का क़ायदा भी यही है कि हद दरजे तक पहुंचा देना सो भी इसी अवधि की संख्या में चरितार्थ है क्योंकि जो उपाय सन्तानोत्पत्ति के लिये हैं वह इसी संख्या के रूपक से जाने जाते हैं तो इससे बढ़ कर अवधि की हद और कौन उत्तम समझी जा सक्ती है ? जैसे किसी ने किसी से एक अनाश्रितकार्य्य को कहा कि करलाओ परन्तु पहिले फलानी जगह ज़रूर देखना कि वह मुख्य द्वार है उस के मिलने का । और जो न मिले तो निराश न होना और जगह भी देखना परन्तु जो अन्त में कहीं न मिलै तो फिर उसी स्थान में देखना जब न मिले तौ निराश होना यह जानना कि आज ये काम होना नहीं इससे क्या जाना गया कि जैसे एक पूर्व विवाह से प्रारम्भ हुआ और पर में वर्त्तमान नियोग की प्रवृत्ति दूसरे से दश तक (९) नौ नियोग से कुछ हासिल न हुआ जो अंक वृद्धि से सिद्ध है तो ग्यारह में फिर वही पूर्वरूप पर याने अन्त में आ गया अब अगर उस में भी फल प्राप्ति न हुई तो समझ लेना चाहिये कि बस हम को अब बाञ्छित फल की प्राप्ति नहीं निश्चय करना चाहिये इस को मैं किन्हीं २ कार्य्य में प्रत्यक्ष दिखला सकता हूं कि फिर निराश होने के सिवाय और कुछ नहीं बनता और कभी २ फल भी प्राप्त हो जाता है और चाहै फल प्राप्त हो चाहै न हो जब मनुष्य उस हाल को पहुंच जाता है जिस से कार्य का आरम्भ किया था फिर आगे को एक पग नहीं बढ़ सकता यह बात दिन की दिन में और आयु की आयु में परीक्षा की हुई बात है जब ऐसा है तो फिर परमेश्वर एक अधिक भ्रम डालने के लिये क्यों उपदेश करता क्या परमेश्वर को अपनी प्रजा के हैरान करने का शौक़ है ? इस से सिद्ध हो गया कि परमेश्वर ने बड़े भारी उसूलों के साथ युक्ति सिद्ध ग्यारहवां पति तक करने की अवधि रक्खी है न्यून अधिक करने का प्रयोजन क्या क्योंकि न्यून में सब को अधिकार हो है कि जो एक ही में १० पुत्र हो जावें तो सिवाय किसी दुष्ट पुरुष के दूसरी का कभी कोई नाम नहीं ले सकता या अवधि के भीतर जहां तक कार्य न हो वहां तक हम सब को परमेश्वर ने अधिकार ही दिया है फिर भी उस के उपदेश करने की उस को ज़रूरत क्या—और अधिक तो तब कर सकता जब मनुष्यों को पशुवत् समझ लेता उस में ऐसा भ्रम होने का सम्भव नहीं फिर अधिक उपदेश करने की क्या ज़रूरत । इति ॥

अब अगर किसी को ऐसी शङ्का हो कि ग्यारह तक विवाह करै या नियोग तो उस का उत्तर यह है कि ग्यारह न विवाह करै न ग्यारह नियोग किन्तु वि० और नियोग दोनों इस प्रकार करे कि १ एक विवाह शेष नौ ९—एक १ दश १०

नियोग कुल ११ जो अङ्क वृद्धि गणित रीति से सिद्ध है योने १-१ (११) इस के हिसाब लिखने में विस्तार होगा जनश्रुति भी है (एक एक ग्यारह) और विवाह का एक होना इस से सिद्ध है कि वह अक्षतयोनि का होता है और नियोग क्षतयोनि का इस से भी नियोग ही की वृद्धिसंज्ञा पाई जाती है क्योंकि विवाह के पश्चात् पर में वर्त्तमान है विधि जिस की । इति ॥

(निवेदन) अब जो कुछ उलटा सीधा जहां जैसा मेरी समझ में आया है आप की सेवा में निवेदन किया है असिल मतलब कुल लेख का यह है कि-विधि (विवाह और नियोग-१-१-११) क्रिया (मैथुन-१-१-११) अवधि (संख्या कहां तक-१-११-१) विवेक (पश्वादि से मनुष्यों का विलक्षण धर्म १०-११ दोनों संख्या मिला कर) इन सब बातों का उपदेश परमेश्वर ने किसी अलङ्कार से १०-११ की संख्या से किया है अब अन्त में भी मेरी आप से यही प्रार्थना है कि जो कुछ मेरे इस ऊटपटांग लेख में आप के नजदीक काबिल समायत के हो स्वीकार कीजियेगा और अपने आशीर्वादरूप पत्र से मुझे कृतकृत्य कीजियेगा इति ॥

इस लेख में सम्मति शिवगोविन्द बाजपेई टेढानिवासी की भी मैंने ले ली है ।

आप का दर्शनेच्छु सूर्यकुमार शर्मा पुराना कानपुर

सम्पादकीय सम्मति

उक्त लेख श्रीयुत सूर्यकुमार जी पांडे का है और उक्त महाशय ने अपना विचार (इमां त्व०) मन्त्र पर नियोग विषय में प्रकट किया है । प्रत्येक मनुष्य अपना अभिप्राय प्रकट करने में स्वतन्त्र है । यदि कोई अनुपकारी अभिप्राय पांडे जी ने निकाला होता तो अवश्य दोषभागी हो सकते सो मेरी सम्मति में पांडे जी का अभिप्राय उपकारी है । और जो उपकारी विषय है वही वेदानुकूल हो सकता है क्योंकि (सत्यं हि तद्भूतहितं यदेव) परन्तु संस्कृतविद्या में पांडे जी का विशेष प्रवेश न होने और उर्दू का अभ्यास होने से फ़ारसी के शब्द पांडे जी के लेख में अधिक आये हैं सो इस से कोई विशेष हानि नहीं, क्योंकि मनुष्य जैसी भाषा जानता है उसी के द्वारा अपने अभिप्राय को प्रकट कर सकता है इस कारण अभिप्राय पर दृष्टि देनी चाहिये किन्तु भाषा पर नहीं । और पांडे जी का यह भी अभिप्राय नहीं कि मैं किसी के मन्तव्य का खण्डन करूं जिस से उस को क्लेश पहुंचे क्योंकि क्लेश पहुंचाना धर्म से बाह्य है किन्तु पांडे जी ने अपना अभिप्राय नियोग और विवाह विषय पर प्रकट किया है कि इस मन्त्र से मेरी समझ में ईश्वर ने विवाह नियोग में पुत्र पति का नियम ऐसा दिखाया है अर्थात् एक मनुष्य एक स्त्री में १० दश पुत्र तक उत्पन्न कर सकता है अधिक नहीं कोई कहे कि अनेक स्त्रियों में दश से अधिक पुत्र करे वा नहीं ?

तो पुत्रों की वर्त्तमानता में अन्य स्त्री से पुत्र करने की आज्ञा नहीं क्योंकि नियोग भी सन्तान के अभाव में होता है सन्तानों के अभाव में ११ तक नियोग हो सकता है इन ग्यारह से भी सन्तान न हों तो आगे नियोग भी नहीं हो सकता यही मुख्य सिद्धान्त है। अब प्रार्थना है कि पांडे जी का लेख किसी महाशय को अनुचित ज्ञात हो तो क्षमा करें और उन के अभिप्राय पर ध्यान देवें ॥

(गत अंक से आगे मूर्तिपूजाविचार)

कितने ही लोगों का विचार है कि हमारे इन्द्रियों का स्वभाव है कि वे साकार विषयों को ग्रहण करते हैं जिन विषयों को हम इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं कर सकते उन का ध्यान भी करना कठिन है इसी लिये शिष्ट लोगों ने ईश्वर की प्रतिमा कल्पित की है और कोई लोग जो संस्कृत विद्या के शब्द अर्थ और सम्बन्धों को यथावत् नहीं जानते वे प्रतिमा शब्द को माप का वाचक कहते हैं यह उन की भूल है क्योंकि प्रतिमा शब्द माप का वाचक नहीं है मान शब्द सामान्य इयत्ता (हद्द) का वाचक है उस के साथ प्रति, परि, प्र, उप, उत्, उपसर्गों के लगाने से भिन्न २ तुलनाओं के नाम पड़ते हैं जैसे प्रतिमान वा प्रतिमा, परिमाण, प्रमाण, वा प्रमा, उपमान, वा उपमा, उन्मान इन शब्दों के अर्थ में थोड़ा २ भेद है और किसी २ अंश में एकार्थ हैं प्रतिमा और प्रतिमान वा प्रतीमान शब्दों का अर्थ अमरकोष के अनुसार प्रतिकृति (तस्वीर, वा फ़ोटो) है यथा—

प्रतिमानं प्रतिविम्बं प्रतिमा प्रतियातना प्रतिच्छाया ।
प्रतिकृतिरर्चा पुंसि प्रतिनिधिरुपमोपमानं स्यात् ॥

अमरकोष कां० २ व० १० प्रतिमान, प्रतिविम्ब, प्रतिमा, प्रतियातना, प्रतिच्छाया, प्रतिकृति और अर्चा ये प्रतिविम्ब के नाम हैं इन में अर्चा शब्द प्रतिविम्ब का नाम कहीं प्रकट नहीं यह अमरकोष वाले की भूल है क्योंकि प्रतिविम्ब के प्रतिमादि नाम हैं और अर्चा नाम पूजा का आता है और प्रतिबिम्ब सब जीवों वा मकान आदि के भी बनते और बन सकते हैं कुम्हार आदि अनेक लोग हाथी घोड़ादि की प्रतिकृति माटी की बनाते हैं किन्तु उन की पूजा कोई नहीं करता केवल लड़कों का खेलमात्र होता है फिर सामान्य प्रतिमा का अर्चानाम होना असम्भव है। अमरकोष वाले ने लोक में प्रचार देख कर रख दिया पर इतना विचार न किया कि जब सामान्य प्रतिविम्ब के नाम गिनाता हूं तो सब कैसे पूजे जा सकेंगे ? और पूजा वा प्रतिबिम्ब से क्या सम्बन्ध है अस्तु अब विचारणीय यह है कि प्रतिबिम्ब (तस्वीर) बनाने का प्रकट में तात्पर्य यही है कि जिस का प्रतिबिम्ब बनाया वा

उतारा जाता है उस से उस की बनावट आकृति जान सकते हैं कि इस मनुष्य वा अन्य जन्तु वा किसी वस्तु की आकृति वा बनावट इस प्रकार की थी वा है इसी कारण आज कल प्रायः ऊपरले धड़ की प्रसिद्ध मनुष्यों की प्रतिकृति उतारी जाती हैं क्योंकि उत्तमाङ्ग होने से मुख की पहचान मुख्य है इस से यह सिद्ध हो गया कि प्रतिबिम्ब के प्रचार का मुख्य अभिप्राय आकृति का ज्ञान है किन्तु माप से तात्पर्य नहीं। भाषा में जिस को नाप वा माप बोलते हैं उस का अभिप्राय लम्बाई चौड़ाई को जानने पर है इसी लिये कपड़े आदि के साथ नाप शब्द का प्रचार हो रहा है संस्कृत में उस नाप का पर्य्याय शब्द परिमाण है किन्तु प्रातिम शब्द का अर्थ माप नहीं हो सकता तो हिन्दीप्रदीप मासिक पत्र संख्या ४ जिल्द १२ में प्रतिमा शब्द को माप वाचक किन्हीं महाशय ने लिखा सो ठीक नहीं किन्तु संस्कृत विद्या की शैली न जान कर लिखा है प्रतिमा शब्द का यह उक्त अर्थ कोष के अनुसार है पर मनुस्मृति में प्रतिमान शब्द का अर्थ अन्य प्रतीत होता है—

तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात् सुलक्षितम् ।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥

तुलामान तराजू और प्रतीमान बटखरों की परीक्षा राजा छः २ मास में किया करे इस से प्रतिमा शब्द का अर्थ सेर आदि बटखरे भी बन सकता है इस का अभिप्राय भार ज्ञान से है कि अमुक वस्तु कितनी भारी है इस से भी माप का वाचक प्रतिमा शब्द नहीं हो सकता नाप आदि के विषय में महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि की एक कारिका महाभाष्य में है—

ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः ।
आयामस्तु प्रमाणं स्यात्संख्या बाह्या तु सर्वतः ॥

ऊंचाई का निश्चय करना उन्मान कहाता है जैसे कटिभाग पर्यन्त अमुक वस्तु वा जल है उसी की ऊंचाई का मान ऊर्ध्वमान वा उन्मान कहाता है और सब ओर से अर्थात् माप के तोल के निश्चय करने को परिमाण कहते हैं और किसी वस्तु के विस्तार ज्ञान के साधन को प्रमाण कहते हैं और संख्या सब के साथ रह सकती है संख्या से सब का निश्चय होता है और कोई महाशय किसी प्रकार खेंचखांच कर उस प्रतिमा शब्द को माप का वाचक ठहरा भी लेवें तो अभीष्ट सिद्ध होना दुर्घट है क्योंकि उपासना प्रकरण में वेद वा किसी शास्त्रकार ने माप पर उपासना कर चित्त ठहराने को नहीं लिखा फिर किस प्रकार कोई मान लेगा? प्रथम भगवद्गीता में ही देखिये जहां अर्जुन ने श्री कृष्ण महाराज से प्रश्न किया है कि:—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

हे कृष्ण ! मन बड़ा चञ्चल है और अपनी चञ्चलतारूप क्रिया में दृढ़ है उस को रोकना मैं वायु के तुल्य कठिन समझता हूं जैसे मनुष्य वायु के वेग को नहीं रोक कर ठहरा सकता वैसे ही मन का रोकना है इस पर श्री कृष्ण जी ने यही उत्तर दिया है कि-

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

हे महाबाहु अर्जुन ! निस्सन्देह मन चञ्चल है उस का ठहराना बहुत कठिन है तथापि अभ्यास और वैराग्य से ठहराया जाता है। योग सूत्र के अनुसार यह श्री कृष्ण जी का भी कथन है योग सूत्र में लिखा है कि-

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ समाधिपादे-

उस चित्त का निरोध अभ्यास और वैराग्य से करना चाहिये । मन को स्थिर करने के लिये प्रति दिन अभ्यास और जिन वस्तुओं के लिये मन अधिक चलता है उन से वैराग्य कर के रोकना चाहिये क्योंकि जिस की उपासना करना चाहते हैं उस आत्मा में चित्त को स्थित करने के लिये बार २ प्रयत्न करने को अभ्यास कहते तथा संसारी वा परमार्थ सम्बन्धी सुखों के भोग की तृष्णा को छोड़ना वैराग्य कहाता है । भगवद्गीता में और भी कहा है कि-

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

स्थिरतारहित चञ्चल मन जिधर २ को निकले उधर २ से बार २ रोक २ कर अन्तःकरण में वशीभूत करे इत्यादि प्रकार से मन को स्थिर करने के अर्थ अनेक उपाय शास्त्रकारों ने लिखे हैं पर यह किसी ने नहीं लिखा कि ईश्वर की प्रतिमा पाषाणादि की बनाकर उस में चित्त को ठहरावे तो किस प्रकार मान लिया जावे कि चित्त को स्थिर करने के लिये प्रतिमा होनी चाहिये । और यह बात युक्ति से भी सिद्ध नहीं कि जो विषय भौतिक इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष करें उसी को हम जान सकें यदि ऐसा हो तब भूख प्यास सुख दुःख हानि लाभ आदि अनेक विषय हैं जिन को हम ने कभी इन्द्रियों द्वारा न प्रत्यक्ष किया और न कर सकेंगे कि भूख इतनी लम्बी चौड़ी मोटी पतली काली नीली आदि है परन्तु जानते अवश्य हैं कि यह भूख प्यास आदि है किन्तु उस निराकार भूख प्यास

आदि के जानने के लिये किसी पाषाणादि की प्रतिमा बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती और मूर्ख पण्डित सभी उस को जानते हैं तो निराकार ईश्वर को जानने के लिये पाषाणादि निर्मित प्रतिमा की क्या आवश्यकता है ? यदि कहा जावे कि भूख प्यास के जानने का स्वभाव पड़ रहा है तो अभ्यास से स्वभाव पड़ता है ईश्वरोपासना का स्वभाव डाला जाय प्रतिदिन अभ्यास किया जाय तो उस का भी स्वभाव पड़ सकता है फिर ईश्वर ज्ञान के लिये पाषाणादि प्रतिमा की कुछ आवश्यकता नहीं ॥ प्रश्न—जैसे अकारादि वर्ण और वर्ण समुदाय पद सब निराकार हैं इन को समझने के लिये अकारादि वर्णों की आकृति कल्पना की गई अर्थात् (अ) यह अकार का वास्तविक स्वरूप नहीं किन्तु उस को समझने के लिये एक प्रकार की आकृति कल्पित की गई है यह प्रश्न बहुत लोग किया करते हैं ॥

उत्तर—यह प्रश्न अवश्य किसी प्रकार युक्ति से सम्बन्ध रखता है । पर विचार का स्थल है कि अकारादि वर्णों की आकृति कल्पना न की जावे तब भी वे अतीन्द्रिय नहीं हैं किन्तु तालु आदि स्थान में वायु की ताड़ना से उत्पन्न होते और श्रोत्र इन्द्रिय से सुने जाते हैं । तो इन्द्रिय ग्राह्य हुए अर्थात् वाणी और श्रोत्र दो इन्द्रियों से बोध होता है तो निराकार नहीं है किन्तु नेत्र द्वारा उन की आकृति मनुष्य नहीं जान सकता तथापि वाणी और श्रोत्र द्वारा उन का स्वरूप सब के अनुभव में आसकता है तो उस की आकृति मनुष्य बना सकते हैं और जिस का अनुभव किसी इन्द्रिय द्वारा नहीं हो सकता उस की आकृति किस प्रकार बनाना हो सकता है ? आकृति उसी की कल्पित हो सकती है कि जिस का किसी इन्द्रिय द्वारा अनुभव हो । जैसे ह्रस्व दीर्घ प्लुत भेद से न्यूनाधिक उच्चारण का अनुभव हुआ वैसी ही उस की आकृति भी न्यूनाधिक बनाई गई अकारादि वर्णों में ह्रस्व दीर्घादि भेद परस्पर सापेक्ष हैं ईश्वर में न्यूनाधिक भेद को अवकाश नहीं उस का निराकार स्वरूप अनन्त होने से मनुष्य के अनुभव में नहीं आसकता अकारादि वर्ण स्वरूपों की इयत्ता (हद्द) इन्द्रियों से जानी जाती है पर ईश्वर की इयत्ता किसी इन्द्रिय द्वारा किसी मनुष्य ने न कभी जानी और न कोई जान सकता है फिर उस की आकृति कैसे कल्पित हो सकती है ? ॥

और अकारादि वर्णों की जो शिष्टों ने आकृति कल्पना की उस से व्यवहार की सिद्धि अधिक है जैसे देशान्तर में समाचार पहुंचाना आदि प्रत्यक्ष फल इस से हैं वैसा मूर्त्ति वा प्रतिमा की कल्पना से प्रत्यक्ष फल कुछ भी प्रतीत नहीं होता और जिस की कल्पना शिष्ट लोगों ने लोकोपकारार्थ की है उस का प्रचार किसी न किसी प्रकार सब प्रदेशों में है यदि ईश्वर ज्ञान के लिये शिष्ट लोगों ने पाषाणादि की प्रतिमा कल्पित की होती तो उस का भी प्रचार वैसा ही सब प्रदेशों

में होता जैसे कि किसी न किसी प्रकार की लिपि (लिखावट) सब प्रदेशों में प्रचरित है वैसे किसी न किसी प्रकार का प्रतिमापूजन भी सब प्रदेशों में होता वा एक ही प्रकार का सर्वत्र होता सो नहीं है यवनादि के कई द्वीपों वा प्रदेशों में प्रतिमा पूजन का नाम निशान भी नहीं है। इस का कारण यही है कि यह सर्वोपकारी नहीं ॥

और जैसा अनुभव अनेक लोगों का है कि यह मूर्त्तिपूजन मूर्खों के लिये है उस से विपरीत दीख पड़ता है अर्थात् जहां वेदादिशास्त्रों का कुछ प्रचार है वहां २ इस प्रतिमापूजन का प्रचार विशेष है और जिन २ जङ्गली प्रदेशों में केवल मूर्खमण्डली रहती है वहां न प्रतिमापूजन न कोई मन्दिर आदि है इस से यह प्रतीत होता है कि यह प्रतिमापूजन वेदशास्त्रविहित अग्निहोत्रादि द्विजों के वैदिक कर्मों में बाधा डालने वाला है उन लोगों के विचारानुसार इस का प्रचार केवल मूर्खमण्डली में होता तो द्विजों में उन २ के श्रौतस्मार्त्त कर्मों की प्रवृत्ति बनी रहनी सम्भव थी। क्योंकि यह मनुष्यमात्र का स्वभाव है कि वह अपने परमार्थ साधन के लिये कुछ न कुछ सुगम उपाय चाहता है और करता रहता है यदि इस मूर्त्तिपूजा का प्रचार देश में न होता तो भी मनुष्य कुछ न कुछ करते ही अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्मों का प्रचार बना रहता सो इस पाषाणपूजा ने बिगाड़ा ॥

(प्रश्न) मूर्त्तिपूजन से कुछ फल नहीं तो किसी प्रतिष्ठित पुरुष की मूर्त्ति बना के अप्रतिष्ठा करने से उस को बुरा न लगना चाहिये वा यों कहो कि जो लोग पाषाणादि मूर्त्तिपूजा को कार्यसाधक नहीं मानते वा उस से हानि बतलाते वा खण्डन करते हैं उन की प्रतिमा बना के अप्रतिष्ठा करने से अप्रसन्न न होना चाहिये ॥

इस का उत्तर प्रथम तो यही है कि मूर्त्तिपूजन से कुछ फल नहीं यह कहना नहीं बनता क्योंकि संसार में ऐसा कोई काम नहीं कि जिस का कुछ फल न हो किन्तु सभी कर्मों का योग्यतानुकूल उचित अनुचित फल अवश्य होता है अर्थात् कर्म के अनुसार उत्तम मध्यम निकृष्ट फल सब कर्मों के हुआ करते हैं इस में मातापिता आदि की जैसी मूर्त्तियों की पूजा वेदादि सच्छास्त्रों के अनुकूल है उस का फल तो सर्वोत्तम है पर पाषाणादि मूर्त्तियों के पूजने से भी फल अवश्य होता है पूजारी आदि सैकड़ों मनुष्यों की जीविका है परन्तु यह जीविका उत्तम प्रकार की नहीं है। इसी लिये अमरकोष के शूद्रवर्ग में लिखा है कि (देवाजीवी तु देवलः) देवाजीवी, देवल ये दो नाम पुजारी के हैं इस के पीछे कलवार और गड़रिया के नाम हैं तथा आगे छली के नाम हैं यदि अमरकोश वाले की दृष्टि में पाषाणपूजा अच्छे ब्राह्मणादि द्विजों का कर्त्तव्य काम होता तो ब्राह्मणादि के वर्गों में देवलादि को लिखता। इस से ठीक निश्चित है कि यह ब्राह्मणादि

बच्चों का वा अन्य का उत्तम काम नहीं है और न इस का फल उत्तम है किन्तु निकृष्ट फल है । इसी प्रकार प्रतिष्ठित पुरुष की प्रतिमा बना के अप्रतिष्ठा करने से यदि उस को ज्ञात होगा तो अवश्य क्लेश पहुंचेगा वा उस के सम्बन्धियों को दुःख होगा । यदि न जान पड़ा तो कोई दुःख नहीं अप्रतिष्ठा करने वाला अपने क्रोध को शान्त करेगा यही फल है पर यह वार्त्ता प्रतिष्ठा अप्रतिष्ठा की तब बन सकती है जब वह विद्यमान हो जिस की प्रतिमा बना के अप्रतिष्ठा करते हैं । यदि वह ऐसा विचारशील हो कि मेरे नाम की प्रतिमा बना के अप्रतिष्ठा करने से वास्तव में मेरी कुछ हानि नहीं तो विद्यमान होने पर भी कुछ क्लेश नहीं हो सकता पर प्रति फल में प्रश्न कर्त्ता का जो अभिप्राय है कि जैसे किसी की प्रतिमा बना कर उस की अप्रतिष्ठा करने से उस को दुःख पहुंचेगा इसी प्रकार उस की प्रतिमा बना कर पूजने से उस को (जिस की प्रतिमा है) सुख और प्रसन्नता प्राप्त होगी सो ठीक नहीं प्रतीत होता कि यह सम्भव हो जिस को निश्चय करना हो वह अभी द्वीपान्तर के वा इसी भारतवर्ष के किसी राजा की प्रतिमा बना कर पूजे और पीछे पत्रादिद्वारा निश्चय करे कि उस राजा को कितना सुख वा प्रसन्नता हुई यदि यह होना सम्भव हो तो अन्यत्र भी प्रतिमा के पूजने से उस प्रतिमा वाले का प्रसन्न होना कह सकते हैं सो कदापि सम्भव नहीं किन्तु यदि राजा राणी दोनों की प्रतिकृति प्रसिद्धि में रख के कोई पूजे तो उस राजा का अप्रसन्न होना तो सम्भव है । और पूछा जावे कि आज कल लोग जिन प्रतिमाओं को पूजते हैं वे श्री राजा रामचन्द्र जी वा श्री कृष्णचन्द्र जी आदि की हैं उन को यदि आप विद्यमान मानते हैं तो किस रूप में ? और किस योनि में ? तथा आत्मरूप से कहें तो सभी जीव आत्मरूप से बने रहते हैं आत्मरूप से मानने में किसी आत्मा वा जीवात्मा की प्रतिमा नहीं बन सकती क्योंकि राजा रामचन्द्र केवल आत्मा का नाम नहीं था किन्तु शरीर विशेष सहित आत्मा का नाम था तो उस शरीर की प्रतिमा हुई आप का भाव आत्मा की पूजा पर है आत्मा की प्रतिमा न कभी बनी और न बन सकती है आत्मा अरूप है। और शरीर से विद्यमान मानना असम्भव है । अब यदि वे किसी प्रकार के शरीर धारी हैं तो उस प्रकार के शरीर की प्रतिमा बनानी चाहिये जब जिस योनि वा शरीर में जीवात्मा रहता है तब उसी में प्रसन्न रहता है। यदि श्री रामचन्द्रादि को मुक्त मानते हैं तो बद्ध शरीर की प्रतिमा बनाने से उन को सुख वा प्रसन्नता कदापि नहीं हो सकती। यदि किसी योनि में शरीरधारी मानो तो भी प्रतिमा के आगे धरी सुगन्धि वा भोजनादि से किया सत्कार उन को पहुंचना असम्भव है । हां कोई पुरुष उसी प्रदेश में

विद्यमान हो और उस की प्रतिमा बना कर अप्रतिष्ठा करने से उस को क्लेश पहुंचे गा यदि जान लेगा तो । सो इस का दृष्टान्त ईश्वर विषयक मूर्त्तिपूजा में नहीं घटता क्योंकि वह परमार्थ विषय और यह लौकिक व्यवहार है इस से उस से बड़ा भेद है । आर्य लोग पाषाणादि की मूर्त्तिपूजा से पुजारी आदि की जीविकारूप कार्यों की सिद्धि होना मानते हैं परन्तु इस के साथ ही यह भी मानते हैं कि द्विजों के श्रौतस्मार्त्त कर्मों में इस की संख्या न होने से निकृष्ट है । कार्यसाधक होने से उत्तमता हो तो चोरी भी चोरों की कार्यसाधक है वह भी उत्तम क्यों नहीं ? । इस मूर्त्तिपूजन से श्रौतस्मार्त्त अग्निहोत्रादि कर्मों की हानि होकर उन के फल से वंचित रहना यही हानि है और माननी चाहिये इस के अनन्तर अपने जन्म को सुधारने से वञ्चित रहना लोक में परस्पर अनेक मत फैलने से विरोध होकर दुःख होना यह भी हानिरूप फल है इत्यादि । और आर्य लोग मूर्त्तिपूजा का खण्डन नहीं करते किन्तु खण्डन यवन लोगों ने किया है कि खण्ड २ कर डाले और वे लोग खण्डन करते हैं जो उन को काट छांट के हथियारों से बनाते हैं । आर्य्य लोग तो वेदादि के अनुसार मूर्त्तिपूजा का मण्डन करते हैं जैसा कि पहिले लिख चुका हूं ॥

अनेक लोगों का विचार है कि वास्तव में हम लोग भी पाषाणादि की प्रतिमा को देवता नहीं मानते किन्तु उस में देवता की भावना करके पूजा करते हैं जिस से देवता की प्रसन्नता हम पर होती है । चाणक्य में लिखा है कि—

न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृण्मये ।
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम् ॥

काष्ठ पाषाण और मट्टी की बनाई प्रतिमा में कोई देवता नहीं किन्तु भाव में देवता है इस कारण पूजा भाव की है सो यदि विचार के देखें कि यह भावना क्या वस्तु है तो भाव मन का विकार वा अभिप्राय का नाम है तो यह अर्थ निकलेगा कि यद्यपि वास्तव में काष्ठ पाषाणादि देवता नहीं तथापि हमारा अभिप्राय है कि हम उस को देव मान कर पूजें तो (अतस्मिंस्तद्बुद्धिर्मिथ्याज्ञानम्) के अन्तर्गत यह भाव भी आ गया कि अन्य पदार्थ में अन्य की बुद्धि करना अर्थात् अन्य को अन्य समझना मिथ्याज्ञान वा अविद्या है । इस अविद्या को किसी ने परमार्थ साधक न माना और किसी युक्ति वा प्रमाण से मान सकते हैं । अर्थात् परमार्थ सुधार मुक्ति प्राप्ति का साधन मुख्य कर सब शास्त्र और युक्ति से ज्ञान ही निश्चित किया गया है और इस ज्ञान का विरोधी यह मिथ्याज्ञान है तो स्वत एव मुक्ति का विरोधी सिद्ध हो गया फिर जिस कार्य की सिद्धि के लिये उस को प्रथम श्रेणी ठहराना चाहते हैं उसी का हानिकारक होने से कौन बुद्धिमान् उस को मान लेगा ? ॥

ओ३म्

आर्य्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग २ } पौष संवत् १९४५ { अङ्क ८

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

भाग दो अङ्क ५ से आगे महामोहविद्रावण का उत्तर ॥

नच "इषे त्वोर्ज्जेत्वे" त्यादिप्रतीकमुपादाय ब्राह्मणेषु व्याख्यानदर्शनात् स्फुटन्तेषान्तदनन्तरकालिकत्वमिति कथं ब्राह्मणानां वेदभाव इति वाच्यम् । क्रमिकेषु संहितामन्त्रेष्वपि पूर्वोत्तरभावस्यावर्जनीयतया वेदत्वव्यवस्थितौ पूर्वोत्तरभावस्याकिञ्चित्करत्वात् । अथ यथा ब्राह्मणेषु संहितामन्त्रोल्लेखः, न तथा संहितास्विति संहितास्ववश्यं वैचित्र्यमङ्गीकरणीयमिति माशङ्किष्ठाः । व्याख्यातव्यव्याख्यानरूपवैचित्र्यस्य संहिताब्राह्मणयोर्मयाप्यङ्गीकरणीयत्वात् नहि अष्टाध्यायीस्थपदव्याख्यानस्य महाभाष्ये दर्शनवदष्टाध्याय्यां महाभाष्यस्थपदादर्शनादष्टाध्यायी व्याकरणतां जह्यादिति शङ्कोदेति प्रेक्षावतः, ततश्च संहिताब्राह्मणयोः समानेऽपि वेदभावे, संहितास्थपदानां ब्राह्मणेषु व्याख्यानेऽपि ब्राह्मणस्थपदानां संहितायां व्याख्याया अदर्शनं संहितानां वेदभावे यथोदासीनमेवं संहितास्थपदानां ब्राह्मणेषु व्याख्यानदर्शनमप्युदासीनमेवेति न व्याख्यातव्यव्याख्यानभावो वेदब्राह्मणयोरन्यतरस्याप्यवेदत्वमापादयतीति त्रैवर्णिकसर्वस्वेऽस्मद्गुरवो निराकृतैकोत्तरशतावैदिकमताः सत्यसरस्वतीव्यपदेशयोग्याः श्री ७ राममिश्रशास्त्रिणः ॥ इतरथा तु ब्राह्मणानां संहिताव्याख्या-

नरूपतया यथा तेषामवेदत्वं तथा मयाऽपि संहितानां ब्राह्मणव्याख्यानरूपत्वव्यभिचारितया तासामेवावेदत्वं साधयिष्यते नहि व्याख्यानरूपत्वमेवावेदत्वसाधकं, नतु व्याख्यातव्यत्वमिति विनिगन्तुं शक्यम् । व्याख्यातव्यव्याख्यानभावस्य लौकिकग्रन्थसाधारणत्वात् । नच ब्राह्मणानि न वेदा वेदव्याख्यानत्वान्माधवीयर्ग्वेदव्याख्यानवदिति शङ्क्यम् । ब्राह्मणानि वेदा अपौरुषेयवाक्यत्वात् सहस्रशीर्षेति वाक्यवदित्यादिहेतुशतद्वारा तस्य सत्प्रतिपक्षित्वात् । तस्मात्पूर्वोक्तरीत्या सर्वर्षिसंमते संहिताब्राह्मणयोर्वेदभावे ब्राह्मणानि न वेदास्तद्व्याख्यानरूपत्वादिति पूतिकूष्माण्डायितं हेतुमुपन्यस्य विवदमानो विमतिः केनोपमेय इति न जानीमः ॥

महामोहविद्रावण की भाषा

ब्राह्मण ग्रन्थों में (इषे त्वोर्जे त्वेति०) इत्यादि मन्त्रभाग की प्रतीक धर के व्याख्यान दीख पड़ने से प्रसिद्ध है कि मंत्रभाग के पीछे ब्राह्मण भाग हुए तो वेद कैसे हो सकते हैं । इस का उत्तर यह है कि क्रम से पढ़े हुए संहिता मन्त्रों में भी एक काल में होने का नियम नहीं अर्थात् मंत्र भी आगे पीछे उत्पन्न हुए हैं तो भी मंत्रभाग सब वेद कहाता है इसी प्रकार पीछे हुआ भी ब्राह्मण भाग वेद ही है पीछे होना उन के वेदत्व की हानि नहीं कर सकता । यदि कहो कि जैसे ब्राह्मण ग्रन्थों में मन्त्रों की प्रतीकें हैं वैसे संहिताओं में ब्राह्मण ग्रन्थों की प्रतीकें न होने से विलक्षणता माननी चाहिये सो ठीक नहीं क्योंकि व्याख्यान व्याख्येयरूप विलक्षणता हम को भी मान्य ही है । अष्टाध्यायी के पदों का व्याख्यान जैसे महाभाष्य में देख पड़ता वैसे अष्टाध्यायी में महाभाष्य के पद न देख पड़ने से अष्टाध्यायी व्याकरण न रहे ऐसी शंका बुद्धिमान् को नहीं होती इस से संहिता ब्राह्मण का वेद होना तुल्य होने पर भी संहिता के पदों का ब्राह्मणों में व्याख्यान होने से भी ब्राह्मण के पदों की संहिता में व्याख्या का न देखना संहिताओं के वेद होने में जैसे उदासीन है वैसे संहितास्थ पदों का ब्राह्मण में व्याख्यान देख पड़ना भी उदासीन ही है इस प्रकार व्याख्येय व्याख्यान का होना वेद ब्राह्मणों में से किसी को वेद बाह्य नहीं कर सकता सो हमारे गुरु श्री ७ रामिश्र शास्त्री जी ने त्रैवर्णिकसर्वस्व नामक ग्रन्थ में निरूपण किया है यदि ऐसा न मानें तो ब्राह्मणों को संहिताओं के व्याख्यान होने से जैसे ब्राह्मण नहीं वैसे मैं भी संहिताओं में ब्राह्मणों का व्याख्यानरूप धर्म न होने से संहिताओं को वेद बाह्य सिद्ध करूंगा । वेद न होने में व्याख्यानरूप होना साधक

हेतु नहीं कि जो २ व्याख्यान रूप हो वह २ वेद न हो । व्याख्येय ही वेद है यह नही कह सकते क्योंकि व्याख्यानव्याख्येयभाव लौकिक ग्रन्थों के तुल्य यहा भी है । यह शंका न करनी चाहिये कि जैसे ऋग्वेद का सायणाचार्य कृत व्याख्यान वेद नहीं वैसे व्याख्यान रूप होने से ब्राह्मण भाग भी वेद नहीं क्योंकि पौरुषेय वाक्य न होने से ब्राह्मण वेद हैं सहस्रशीर्षा इत्यादि मन्त्र भाग के तुल्य । इत्यादि हेतुओं से ब्राह्मणों का वेद न होना विरुद्ध है । इस कारण पूर्वोक्त रीति से संहिता ब्राह्मण दोनों का वेद होना मन्त्र ऋषियो के सम्मत होने से "ब्राह्मण वेद नहीं वेद के व्याख्यान होने से" इस प्रकार कहने वाला दुर्गन्ध से भरे कुम्हड़े के तुल्य हेतु देकर विवाद करता हुआ किस उपमा के योग्य है यह हम नहीं जानते ॥

अत्र तावत्संस्कृतेनोत्तरम्

यत्तावदुच्यते -इषे त्वेति मन्त्रप्रतीकमादाय व्याख्यानकरणाद् ब्राह्मणानामर्वाक्कालिकत्वेन वेदभावो न शङ्क्यो मन्त्रभागस्य पूर्वोत्तरभावेपि वेदत्वादिति तन्न सम्यक् । अत्रेदं विचार्य्यते पूर्वोत्तरकाले निर्माणेन भवतः कोऽभिप्रायः ? किं यस्मिन् काले मन्त्रभागो निरमायि तदेव सर्वमन्त्राणां निर्माणमभूत् । कालावयवः क्षणादिस्तस्मिन्नेकस्यापि वर्णस्योच्चारणं कर्त्तुमशक्यं किमुत मन्त्रभागमात्रस्येति । एवं सत्युत्तरकालीनस्य मन्त्रभागस्याप्यवेदत्वं शङ्क्येत । यथा मन्त्रभागे परस्परं पूर्वोत्तरकाले मन्त्राणां निर्माणं तथैव ब्राह्मणानां मन्त्रभागेन सहेतरेतरं कालक्रमोऽभीप्सित आहोस्विदन्यः कश्चित् प्रकारः ? नाद्यः पक्षः प्रबलः तयोर्व्याख्यानव्याख्येययोः क्रियाया वैलक्षण्यात् । नहि व्याख्येयकाले व्याख्यानस्य सम्भवोऽस्ति । यथैकस्यां पाकक्रियायां कियानपि कालो व्यतीयात्त्र कालस्य पौर्वापर्य्यभावः केनापि न विवक्ष्यते । एवमिहाप्येकस्य व्याख्येयस्य व्याख्यानस्य च यावता कालेन निर्माणमकारि तावानेक एव कालः परिगण्यते । अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयमन्यथा वर्त्तमानादिकालव्यवस्था नोपपद्येत । एवं सति व्याख्यानरूपब्राह्मणभागस्यैकोन्यः कालस्ततः पूर्वं मन्त्रभागस्येति । यथा व्या-

ख्येयव्याख्यानयोर्गौणमुख्यव्यवस्था जायते तथैवात्र मन्त्रब्राह्मणविषयेऽपि बोध्यम् । यद्यपि पूर्वोत्तरकालभावो वेदत्वव्यवस्थापने प्राधान्येन कारणं न भवति तथापि सर्वासां विद्यानां वेदमूलकत्वात्सर्वनिबन्धेभ्यः पुरातनस्य मन्त्रभागस्यैव मूलवेदत्वं सम्भवति । कार्येभ्यः कारणस्य पूर्वभावनियमात् मन्त्रानन्तरकालीनस्य ब्राह्मणभागस्य च मन्त्रभागात्पूर्वकालनिर्माणोपपादनमाशामोदकायितमेव । अस्माभिरार्यैश्च ब्राह्मणानामर्वाक्कालिकतयैव मूलवेदत्वाभावो न साध्यते किन्तु तत्रान्यान्यपि बहूनि कारणानि सोपपत्तीनि प्रतिपादितानि प्रतिपाद्यन्ते च ॥

यच्चोक्तं-"नहि अष्टाध्यायीस्थपदव्याख्यानस्य महाभाष्ये दर्शनवदष्टाध्याय्यां महाभाष्यस्थपदादर्शनादष्टाध्यायी व्याकरणतां जह्यादिति शङ्कोदेति प्रेक्षावतः" इति च वदतो व्याघातः । मन्त्रभागवदष्टाध्याय्या एव मुख्यत्वेन व्याकरणत्वमिति पूर्वाङ्केष्वप्यस्माभिः स्पष्टं प्रत्यपादि । महाभाष्यकृता च पतञ्जलिमुनिनाप्येवमेव हेतुभिरवाधारि "व्याकरणमित्यस्य शब्दस्य कः पदार्थः" इत्युत्थाप्य सूत्रमिति प्रत्युत्तरम् । अष्टाध्याय्यां महाभाष्यस्थपदादर्शनान्महाभाष्यं व्याकरणतां नहि जहातीति वक्तव्ये विपरीतमुक्तमष्टाध्यायी व्याकरणतां न जहातीति । अष्टाध्याय्या व्याकरणमूलत्वं मन्त्रभागस्य वेदत्वमिव सर्वैः शिष्टैः सर्वतन्त्रसिद्धान्तेनोररीकृतमेवास्ति । नास्ति तत्र विचारणा । अस्मिंश्च प्रसङ्गे भवतापि व्याख्यानस्य ब्राह्मणस्य वेदत्वं साध्यम् । तत्र दृष्टान्तेऽपि व्याख्यानरूपस्य महाभाष्यस्य व्याकरणत्वं प्रतिपादनीयमासीत् । ततो विरुद्धकरणेन ज्ञायते विजयामोदकं प्रत्यवसीयेदं लिप्तमिति । संहितायां ब्राह्मणस्थपदानां व्याख्याया अदर्शनं संहितानां वेदभावे यथोदासीनमित्यादिस्वीकारे सायणाचार्य्यादिकृतव्याख्यानानां वेदत्वं कुतो नाङ्गीक्रियते क्रियते चेत्

तर्हि धर्मशास्त्रादीनामपि वेदमूलकव्याख्यानरूपत्वा तेषामपि वेदत्वे श्रुतिस्मृती उभे मूले इत्यादि महर्षिवाक्येष्वद्वैतापत्त्या भवितव्यमिति महदनिष्टमापद्येत । तस्माद् व्याख्येयस्यैव वेदत्वं स्वीकार्य्यम् । युष्माभिरिदं चेत्साध्यते–संहितासु ब्राह्मणस्थपदानां व्याख्यानं नास्तीति कृत्वा तासामप्यवेदत्वमिति स्वीकारे सर्वस्य भवत्कथनस्य वैयर्थ्यं प्रसज्येत इदं च कथनं तादृशमेवास्ति यथा कश्चिद् ब्रूयात्–यथा पुत्रस्य पितृसम्बन्धिदुःखविशेषमोचकत्वात् पुत्रत्वं न पित्रपेक्षया पितृत्वमेवं पुत्रकर्मव्यभिचारितया पितुरपि पितृत्वं नास्तीति । यद्वा यथा पृथिव्यां वाय्वग्निजलगुणानामन्वयात् स्वस्य विशेषगुणस्य च सत्त्वात्पृथिव्या वाय्वादित्वं नास्ति एवं वाय्वादिषु पृथिव्या विशेषगुणस्यानन्वयाद्वाय्वादीनामपि वाय्वादित्वं नास्तीति । नहीदं वचो बुद्धिमद्ग्राह्यं भवितुमर्हति । कारणगुणपूर्वकः कार्य्यगुणो दृष्ट इति यौक्तिकं काणादं वचः सर्वार्य्यसम्मतम् । नहि कश्चित् प्राज्ञः कार्य्यगुणपूर्वकत्वं कारणगुणस्य स्वीकर्त्तुमर्हति । यथा व्याख्याने मूलधर्माणामसद्भावे मूलविरुद्धं व्याख्यानं वा मूलधर्मान्वयाद् व्याख्यानं मूलानुकूलं नतु मूलम् । एवं मूले व्याख्यानधर्मासद्भावे मूलस्यामूलत्वं वक्तुमशक्यम् । तथैवात्रापि व्याख्यानरूपस्य ब्राह्मणभागस्यावेदत्वे मूलवेदस्यावेदत्वं कदापि न भविष्यतीति । यच्च ब्राह्मणानि वेदा इति प्रतिज्ञावाक्ये–अपौरुषेयत्वात् सहस्रशीर्षेतिवत्–इति हेतूदाहरणे व्यवस्थापिते ते न सङ्घटेते । हेतोः साध्यत्वात् । ब्राह्मणानामपौरुषेयत्वमेव साध्यम् । शौनकः पारीक्षितं जनमेजयं याजयाञ्चकारेत्यादिब्राह्मणस्थवाक्यैरेव स्पष्टं प्रतीयते नास्ति तेषामपौरुषेयत्वमिति । तथा च पूर्वाङ्केषु बहुशः प्रतिपादितम् । एवं च हेतोः साध्यत्वात्साध्यसमहेत्वाभासो निग्रहस्थानं पराजयप्राप्तिरिति निराकृते भवत्पक्षे सिद्धो ब्राह्मणानां मूलवेदत्वाभाव इति शमग्रे ॥

भावार्थः—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में जो लिखा है कि मन्त्रों के व्याख्यान रूप होने से ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं इस पर पहिले भी लिखा गया है पर अभी इसी विषय पर महामोहविद्रावण कर्त्ता की तर्क शेष हैं उन का उत्तर यहां दिया जाता है—महामोहविद्रावण कर्त्ता ने लिखा है कि (इषे त्वोर्जे त्वा०) इत्यादि मन्त्रों की प्रतीक देकर व्याख्यान करने से ब्राह्मणग्रन्थ पीछे के बने मान कर उन के वेद होने में शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि मन्त्रभाग में भी सब मन्त्र एक साथ नहीं बने किन्तु आगे पीछे बने हैं तो भी उन को वेद ही मानते हैं इसी प्रकार पीछे बने ब्राह्मणभाग को भी वेद मानना चाहिये। सो यह इन का कहना ठीक नहीं—प्रथम इस प्रसंग में यह विचारना चाहिये कि आगे पीछे बनने से आप का अभिप्राय क्या है ?। क्या जिस काल में मन्त्रभाग बनाया गया उसी समय में सब मन्त्रों का निर्माण हो गया ?। यद्यपि काल अच्छेद्य विभु पदार्थ है तथापि क्रियाओं के सम्बन्ध से अवयवावयवि कल्पना की जाती है। और सूक्ष्म से सूक्ष्म काल का अवयव क्षण है उस में एक वर्ण का भी स्पष्ट उच्चारण होना कठिन है किन्तु एक क्षण में मन्त्रभाग सब कदापि नहीं बन सकता। ऐसा मानें तो एकवर्ण को छोड़ द्वितीयादि वर्णस्थ मन्त्रभाग को भी वेद न मानें। अब यहां प्रश्न यह है कि जैसे मन्त्रभाग में आगे पीछे मन्त्र बने हैं उसी प्रकार ब्राह्मणों का मन्त्र के साथ उत्तर२ काल का क्रम है वा किसी अन्य प्रकार से ?। इस में पहिला पक्ष तो इस कारण ठीक नहीं क्योंकि उन व्याख्येय व्याख्यानरूप मन्त्र ब्राह्मण भाग की क्रिया में विलक्षणता है। और व्याख्येय बनने के समय व्याख्यान का बनना असम्भव भी है। जैसे एक बार रसोई बनाने में कितना ही काल लगे वह सब एक ही काल समझा जाता है उस में पूर्वापर काल का विभाग अपेक्षित नहीं होता। इसी प्रकार यहां भी व्याख्येय मन्त्रभाग और व्याख्यान ब्राह्मणभाग का जितने२ काल में निर्माण-रचना की गई वही काल उस२ का है। अर्थात् एक क्रिया की समाप्ति पर्यन्त (चाहे जितने वर्ष क्यों न लग जावें) एक ही काल कहाता है किन्तु जैसे एक२ रोटी के बनाने का काम पृथक् २ नहीं माना जाता कि यह पहिले होने से प्रधान और यह अप्रधान है इसी प्रकार एक२ मन्त्र वा अक्षर का काल पृथक्२ विवक्षित नहीं इस से यह कहना ठीक नहीं कि मन्त्रभाग भी आगे पीछे बना। यह वार्त्ता तब तो कह सकते जो ऐसा कोई प्रमाण मिल जाता कि एक अध्याय का मन्त्र आज बना और बीच में बन्द होकर द्वितीयाध्याय दो वर्ष पश्चात् बना। क्रियासन्तान का बराबर चला जाना किसी प्रकार का विच्छेद न होना एक ही काल कहाता है। यह बात सब आचार्यों ने इसी प्रकार मानी है और हम सब को मानना भी चाहिये अन्यथा वर्त्तमानादि काल की व्यवस्था नहीं बनती। इस प्रकार मानने से मन्त्रभाग का एक भिन्न काल है और उस से बहुत पीछे ब्राह्मण

भाग के बनने का काल भिन्न है । तथा जैसे मन्त्र और व्याख्या में गौण मुख्य व्यवस्था होती है वैसे ही यहां मन्त्रभाग मूलवेद को मुख्य और व्याख्यानरूप ब्राह्मणभाग को गौण मानना चाहिये । यद्यपि आगे पीछे होना वेद होने में मुख्य कारण नहीं तथापि सब विद्याओं का मूल वेद होने से सब से पुरातन पहिले हुए मन्त्रभाग को ही मूल वेद मान सकते हैं । क्योंकि कार्यों से कारण के प्रथम होने का नियम है तो मंत्रभाग की वर्त्तमानता में ब्राह्मण भागों के बनने से ब्राह्मण को मूल मंत्रभाग वेद ही ठहर सकता है क्योंकि ब्राह्मण भाग का मंत्र भाग से पीछे होना आपने भी स्वीकार कर लिया है जिस पुस्तक के आश्रय से कोई पुस्तक बनता है वही उस का मूल कहाता है । और मंत्र भाग से पूर्व ब्राह्मणभाग का बनना सर्वथा असम्भव है । और हम आर्य लोग तो ब्राह्मणों के पीछे बनने मात्र से उन को वेद न मानते हों सो नहीं किन्तु इस विषय में (ब्राह्मणों के वेद न होने में) युक्ति सहित अनेक प्रमाण देंगे और दे चुके हैं सो पूर्व से आर्यसिद्धान्त में छपते रहे हैं ॥

और जो कहा है कि "अष्टाध्यायी के पदों का व्याख्यान महाभाष्य में जैसे देख पड़ता है वैसे अष्टाध्यायी में महाभाष्य के पदों का व्याख्यान न देख पड़ने से अष्टाध्यायी व्याकरणत्व को छोड़ दे ऐसी शंका बुद्धिमान् को नहीं होती" यह कहना वदतोव्याघात अर्थात् अपने कथन को आप ही काटने के समान है क्योंकि मन्त्रभाग को जैसे मूल वेद मानते हैं वैसे अष्टाध्यायी ही मूल व्याकरण है यह पहिले अंकों में भी लेख हो चुका है और महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने भी प्रमाण पूर्वक यही निश्चित सिद्धान्त किया है कि व्याकरण नाम अष्टाध्यायी रूप सूत्र का हो है । इस प्रसंग में महामोहविद्रावण कर्त्ता को ऐसा लिखना चाहिये था कि अष्टाध्यायी में महाभाष्य के पदों की व्याख्या न होने से महाभाष्य व्याकरण न रहेगा सो विपरीत लिखा है कि "अष्टाध्यायी व्याकरणत्व को छोड़ देवे, ऐसी शङ्का बुद्धिमान् को नहीं होती" अष्टाध्यायी को स्वतंत्र व्याकरणत्व है उस में ऐसी शङ्का कभी नहीं हो सकती, अष्टाध्यायी का मूल व्याकरण होना सब शिष्टों के सम्मत है उस में विशेष विचार को अवकाश नहीं है । इस प्रसंग में आप को भी व्याख्यान रूप ब्राह्मण को वेदत्व साध्य है । इसी साध्य के साथ व्याख्यानरूप महाभाष्य को व्याकरणत्व साध्य था क्योंकि दृष्टान्त साध्य धर्म से युक्त ही रहता है । आपने इस से विरुद्ध किया कि अष्टाध्यायी व्याकरणत्व को नहीं छोड़ेगी इस से जान पड़ता है कि भांग का गोला खा कर लिखा होगा और ब्राह्मणस्थ पदों की व्याख्या संहिता में नहीं दीख पड़ना जैसे संहिताओं

के वेद होने में कारण नहीं इसी प्रकार संहितास्थ पदों की व्याख्या ब्राह्मणों में दीख पड़ना भी ब्राह्मणों के अवेदत्व का कारण नहीं होता इत्यादि विचार को स्वीकार करें तो सायणाचार्य्यादिकृत वेद के भाष्यों को वेद क्यों नहीं मानते क्या उन में संहितास्थ पदों की व्याख्या नहीं है। यदि कहो कि सायणाचार्यादि कृत व्याख्यान भी वेद हों तो मनुस्मृत्यादि धर्म शास्त्र भी मूल वेद का आश्रय ले कर ही बने हैं उन को भी वेद मानो तो सभी वेद हो जायगा स्मृति किस को कहेंगे ? बड़ा अनिष्ट प्राप्त होगा। इस लिये व्याख्येय रूप मूल मंत्रभाग को ही वेद मानना चाहिये। यदि तुम लोग यह स्वीकार करते हो कि संहिताओं में ब्राह्मण के पदों का व्याख्यान नहीं है इस लिये संहिताओं को वेद न मानें तो आप लोगों का सब कथन व्यर्थ हुआ जाता है क्योंकि ब्राह्मणों को वेद ठह-राने के लिये प्रवृत्त हुए वहां संहिताओं का भी वेदत्व उड़ा दिया यदि कहो कि यह कथन प्रतिपक्षी के ऊपर है तो ठीक नहीं क्योंकि हम तो ब्राह्मणों वा अन्य किसी पुस्तक के आश्रय से ही संहिताओं को वेद नहीं मानते ऐसा हो तब कई नास्तिकादि के मतवाद के पुस्तक संहिताओं का वेद न होना भी सिद्ध करते हैं तो उन के अनुसार संहिताओं का वेद न होना भी स्वीकार करने पड़े किन्तु संहिताओं को स्वतः सिद्ध वेद मानते हैं। वेद का प्रामाण्य सर्वोपरि मान्य है वेद विरुद्ध स्मृत्यादि का मान्य न होना और स्मृत्यादि विरुद्ध श्रुति का मान्य होना इस में ऋषि परम्परा अवश्य माननी पड़ती है परन्तु वेद संज्ञा किस २ की है इस के लिये अनेक प्रमाणों की आवश्यकता नहीं किन्तु जिस पुस्तक के शीर्षक (हेडिंग) में वेद नाम लिखा जाता है प्रथम से पठन पाठन प्रणाली से जिस को वेद मानते आते हैं उसी की वेद संज्ञा प्रसिद्ध है। मनुस्मृति किस का नाम है इस में शंका क्यों नहीं होती तो यही कहना पड़ेगा कि जिस पुस्त-क में आदि अन्त मध्यादि अनेक स्थलों में नाम लिखा है वही मनुस्मृति है। जब कोई जिल्द दार पुस्तक सामान्य प्रकार से देखता है तब कहता है कि देखूं यह कौन पुस्तक है जब खोल कर आदि अन्त में कहीं उस का नाम देख लिया फिर सन्देह नहीं रहता कि यह कौन पुस्तक है इसी प्रकार यहां भी जिन पुस्तकों में ऋग्वेद इत्यादि शब्द लिखे हैं वे निस्सन्देह ऋग्वेदादि हैं। और ऋग्वेदादि के ब्राह्मण वा उपनिषदों में ऋग्वेदादि नाम नहीं लिखा किन्तु "ऐतरेय ब्राह्मणम्" इत्यादि शब्द लिखे हैं। ऋग्वेदीय ब्राह्मण अवश्य बोलेंगे इस से कोई हानि नहीं क्योंकि षष्ठी के अर्थ का सम्बन्ध दोनों प्रकार लग जाता है समुदाय का अवयव के साथ और अन्य का अन्य के साथ भी सम्बन्ध होता है। वेद का मन्त्र यहां सम्बन्ध वेद समु-

दाय का अवयवरूप मन्त्र के साथ है। और मन्त्र का व्याख्यान वा वेद का भाष्य यहां उपादानोपादेयभाव सम्बन्ध है। इस में ब्राह्मणों को वेद मानने वाले के पास क्या प्रमाण है कि अवयवावयवि सम्बन्ध ही माना जावे हमारे पास तो प्रमाण है कि ब्राह्मण व्याख्यानरूप है इस लिये वेद का अवयव नहीं सायणादि व्याख्यानवत्। अर्थात् वेद का व्याख्यान वेद नहीं क्योंकि जैसे स्वामी दयानन्दसरस्वती जी कृत वेद का व्याख्यान वेद नहीं इसी प्रकार व्याख्यान होने से ब्राह्मण वेद नहीं व्याख्यानों को वेद मानें तो जो २ वेद पर टीका किसी भाषा में करे सब को वेद मानें तो किन्हीं खास पुस्तकों का नाम वेद न रहेगा इसलिये संहितामात्र को ही मूल वेद मानने में कल्याण है।

कोई २ लोग कहते हैं कि जब तुम लोग ब्राह्मणभागों को वेद नहीं मानते तो संहिता भागों के वेद होने में तुम्हारे पास क्या प्रमाण है अर्थात् तुम लोग जिन प्रमाणों से संहिताओं का वेद होना सिद्ध करोगे उन्हीं से ब्राह्मणों का वेद होना भी सिद्ध हो जायगा मन्त्रभाग ही ईश्वरकृत है ऐसा प्रमाण देना चाहिये।

उ०-इस का उत्तर यह है कि हम लोग शास्त्रीय प्रमाणों को ठीक २ मानते हैं और उन शास्त्रीय प्रमाणों की पुष्टि भी अनुमानादि से अच्छे प्रकार करते हैं तुम लोग बुद्धिरूप घोड़ी पर सवार होकर नहीं चलने इस कारण थक जाते हो। शास्त्रीय प्रमाणों को विना विचारे मान लिया जावे ऐसी भी ऋषियों की आज्ञा नहीं। किन्तु इस से विपरीत तो है कि "यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः" इस लिये शास्त्रीय वचन का विचार बुद्धि पर बल देकर करना चाहिये। और प्रमाण शब्द का अर्थ केवल शास्त्र ही नहीं है हम ऊपर प्रत्यक्ष प्रमाण दे चुके हैं कि जिस पुस्तक में उस का नाम लिखा वह प्रत्यक्ष है कि यह ऋग्वेद है। प्रत्यक्ष में प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं होती। जब हम इस बात को सिद्ध करते वा कर सकते हैं कि ऋग् यजुः साम अथर्व संहिताभागों के नाम हैं तो शास्त्रीय प्रमाण जो २ ऋग्वेदादि को ईश्वरीय विद्या सिद्ध करने के लिये हैं वे सब हमारे पक्ष के पोषक हो जावेंगे। यद्यपि आर्ष ग्रन्थों में दोनों प्रकार के प्रमाण मिलते हैं किन्हीं से ब्राह्मणों का वेद वा श्रुति आदि नामों से ग्रहण वा उदाहरण दिये हैं और अनेक प्रमाण ऐसे हैं जिन से ब्राह्मणादि का वेद होना सिद्ध नहीं होता इस दशा में प्रत्यक्षादि प्रमाणों का बलाबल दोनों पक्ष से मिला के जो पक्ष अधिक पुष्ट हो वही मानना चाहिये। सो ब्राह्मणादि के वेद होने में प्रत्यक्षादि कुछ भी साक्षी न देकर उलटे बाधक होते हैं। पर उन के वेद न होने में पूरी पुष्टि देते हैं इसलिये इसी पक्ष को स्वीकार करना चाहिये इस पक्ष की प्रबलता में बहुत युक्तियां लिखी गई हैं उन को फिर लिखना पिसे को पीसना है।

अब यह शेष रहा कि जिन प्रमाणों से ब्राह्मणादि का वेद होना भासित होता है उन की सङ्गति कैसे लगेगी ? इस का उत्तर यही है कि वे आर्षवचन ब्राह्मणादि की प्रशंसार्थ हैं जैसे कि "इतिहासपुराणं पञ्चमो वेदानां वेदइति" इस वाक्य का भी यह अभिप्राय नहीं है कि इतिहास पुराण वास्तव में पांचवां वेद है किन्तु वेदसर्वोपरि प्रशंसा योग्य है सो इतिहास पुराण की विशेष प्रशंसा की विवक्षा में वेद कहा है वस्तुतः वेद चार ही हैं इतिहास पुराण वेद नहीं हैं जैसे कोई विशेष ऐश्वर्यवान् पुरुष को कई प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त देख कर कहे कि आप तो राजा हैं लौकिक ऐश्वर्यवानों में राज्यैश्वर्य सर्वोपरि है इसी प्रकार ब्राह्मणादि की विद्या विषय में जहां प्रशंसा का अवसर हुआ वहां वेद शब्द से प्रशंसा की है सो अनुचित नहीं क्योंकि जब इतिहासादि को वेद कहा तो ब्राह्मणों का तो वेद से बड़ा सम्बन्ध है उन को वेद कहना कुछ आश्चर्य नहीं। तथा जो २ कार्य व्याकरणादि के वेद में होने कहे हैं उन के अनेक उदाहरण ब्राह्मणग्रन्थों के दिये जाते हैं और कहीं श्रुति शब्द से व्यवहार होता है वहां भी ब्राह्मणस्थ वाक्यों के उदाहरण आया करते हैं सो यह भी प्रशंसार्थ है और द्वितीय यह भी है कि ब्राह्मणग्रन्थ यद्यपि वेद के व्याख्यान हैं तथापि सायणाचार्यादि कृत व्याख्यानों के तुल्य व्याख्यान नहीं किन्तु उन का मान्य बड़ा है और व्याख्येय के साथ बड़ा सम्बन्ध है जैसे "लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्" इस पक्ष में महाभाष्य आदिस्थ सूत्र के व्याख्यानों की भी गौण प्रकार से व्याकरण संज्ञा है वैसे वेद के मुख्य व्याख्यान होने से ब्राह्मणों की गौणिक वेदसंज्ञा हो सकती है इस अभिप्राय पर भी ब्राह्मणों के वेद होने के प्रमाण सङ्घटित हो जाते हैं इसलिये कोई दोष नहीं। और संहिताओं में ब्राह्मणस्थ पदों की व्याख्या न होने से संहिता भी वेद नहीं यह कथन ऐसा है जैसे कोई कहे कि पिता को विशेष दुःखों से बचाने वाला होने से आत्मज पुत्र कहाता है पिता की अपेक्षा उस पुत्र को पितृत्व नहीं किन्तु पिता की अपेक्षा पुत्रत्व सिद्ध हो सकता है इस पर कोई कहे कि पिता की अपेक्षा जैसे पुत्र को पितृत्व नहीं वैसे पिता में पुत्र का लक्षण न मिलने से पिता भी पिता नहीं रहा। अथवा जैसे पृथिवी में वायु अग्नि और जल के गुण और उस के विशेष गुणों के होने से पृथिवी को वायु आदि नहीं कहते इसी प्रकार वायु आदि में पृथिवी का विशेषगुण न होने से वायु आदि को भी वायु आदि नहीं कह सकते। इस प्रकार के कथन को कोई बुद्धिमान् ग्रहण नहीं कर सकता। कारण गुण का आगमन कार्य में दीख पड़ता है इस महर्षि सिद्धान्त को सब आर्य मानते हैं किन्तु कार्य के गुणों का आगमन कारण में कोई विद्वान् नहीं मानता। जैसे व्याख्यान में मूल धर्मों के होने से मूल से

विरुद्ध व्याख्यान वा मूल के धर्मानुकूल होने से व्याख्यान मूल के अनुकूल स-मझा जाता वैसे व्याख्यान के अनुकूल न होने से मूल का अप्रमाण नहीं होता। वैसे ही यहां भी व्याख्यानरूप ब्राह्मण भाग के वेद न होने में मूल का वेद होना कदापि खण्डित नहीं हो सकता ॥

और ब्राह्मणों के वेद होने की प्रतिज्ञा में अपौरुषेय हेतु दिया सो नहीं घट सकता क्योंकि यह हेतु साध्य है ब्राह्मण ग्रन्थों में पौरुषेय धर्म साध्य है। परीक्षित के पुत्र जनमेजय को शौनक ऋषि ने यज्ञ कराया इत्यादि ब्राह्मणस्थ वाक्यों से स्पष्ट निश्चय होता है कि ब्राह्मण अपौरुषेय नहीं हैं इस विषय का पहिले अङ्कों में बहुत लेख हो चुका है। इस प्रकार हेतु के साध्य होने से सा-ध्यसम हेत्वाभास निग्रहस्थान पराजयप्राप्ति आजाने से आप का पक्ष निर्बल हो गया इस से ब्राह्मणों का मूल वेद न होना सिद्ध ही है ॥

केदारनाथ वर्म्मा का प्रश्न–

प्र०–ईश्वर ने सब योनि किसी प्रयोजन से बनाई वा किसी २ को व्यर्थ भी बनाया है। यदि सब को प्रयोजन से बनाया तो मक्खी मच्छर डांश खटमल जुआं आदि क्यों बनाये इन से संसार का क्या उपकार है वा हानि है ?। और खटमल आदि के मारने में हिंसा अर्थात् हत्या करने का पाप लगता है वा नहीं इस का उत्तर दीजिये ॥ ह० केदारनाथ वर्मा–प्रयाग

उ०–ईश्वर ने सब जीवों को प्रयोजन से बनाया वा किसी २ को निष्प्रयो-जन भी बनाया है इस का विचार यह है कि बनाने का तात्पर्य यदि यह है कि जिस समय उन योनियों को बनाया उस से पहिले वे योनि कभी नहीं ब-नी थी तब तो ठीक नहीं क्योंकि जिन योनियों को ईश्वर ने बनाया उन को क्यों नीची दशा में डाल के दुःख दिया और किन्हीं को उत्तम योनि में बनाया तो उन को सुख क्यों दिया क्या ईश्वर भी किसी के साथ मित्रता वा शत्रुता रखता है ? हम लोग जब ईश्वर को न्यायकारी मानते हैं तब कदापि उस में पक्षपात नहीं मान सकते। कोई लोग इस का उत्तर यह देते हैं कि यद्यपि ईश्वर पक्ष-पाती नहीं किन्तु न्यायकारी ही है तथापि उस को संसार की व्यवस्था चलानी है इस लिये उस ने सब प्रकार के जीव बनाये। और हम यह भी नहीं कह सकते कि जिन जीवों को हम नीची दशा में समझते हैं वे वास्तव में नीची दशा में हैं क्योंकि जो जीव जिस योनि में उत्पन्न हो गया वह उसी में प्रसन्न दीख पड़ता है वह अपने को नीची दशा में नहीं समझता। सो यह उत्तर इस लिये ठीक नहीं कि हम अपने बीच में ऐसी भावना नहीं करते कि हम जिस दशा में उत्पन्न हुए हैं उस से उत्तम दशा के प्राणी को देख कर चित्त चाहता है कि हम भी ऐसी दशा में होते कि जिस से ऐसा सुख हम को भी प्राप्त होता।

यदि अपनी २ दशा में सभी प्रसन्न रहें तो कभी किसी की उन्नति अवनति न होनी चाहिये न कोई उत्तम कक्षा प्राप्ति का प्रयत्न कर सकता है । और संसार का काम चलाना ईश्वर का काम अवश्य है पर ऐसे भी जीव हैं जिन के न होने से संसार का काम ज्यों का त्यों चला जावे कुछ हानि न हो किन्तु ऐसे जीव बहुत हैं जिन के उत्पन्न होने से संसार के निर्वाह में बाधा पड़ती है इस लिये यह समाधान ठीक नहीं है । इस विषय में तर्क वितर्क अधिक बढ़ जाने से मुख्य अभिप्राय गुप्त हो जाता है इस लिये प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न का मुख्य उत्तर देकर तब तर्क वितर्क चलाने चाहिये ॥

ईश्वर ने सब जीवों को उन २ के कर्मानुसार वैसा २ सुख दुःख भोगने के लिये उन २ की योनि में शरीर दिया है किन्तु निष्प्रयोजन किसी को नहीं । परन्तु किसी योनि को नवीन नहीं बनाया किन्तु सब योनि प्रवाह से अनादि हैं खटमल आदि से संसार का कुछ उपकार भी हो परन्तु हानि अधिक है । और खटमल आदि के मारने में हत्या अर्थात् मारने वाले को यथायोग्य पाप लगता है यह तो सामान्य कर उत्तर है विशेष यह है कि ईश्वरने उन २ योनियों को नवीन नहीं बनाया किन्तु सब योनि अनादि हैं ईश्वर से योनियों की नवीन बनावट माने तो पहिले २ उस २ योनि में उन २ जीवों के जन्म निष्कारण मानने पड़ें निष्कारण कोई काम होता नहीं। प्रत्येक योनि में सुख दुःख का भोग देश, काल, वस्तु भेद से भिन्न २ दीख पड़ता है इस लिये उस सुख दुःख भोग का कारण भिन्न २ प्रकार के कर्म अवश्य मानने पड़ते हैं यदि नवीन बनावट मानें तो पहिले कभी जन्म के न होने से कर्म रूप कारण न होगा और कारण के विना सुख दुःख भोगों की विलक्षणता क्योंकर हो सकती है ? इस लिये सब योनि प्रवाह से अनादि हैं यही मानना ठीक है । अब यह विचार शेष रहा कि ईश्वर की सृष्टि में खटमल आदि जन्तुओं का प्रयोजन क्या है । इस का उत्तर देने से पहिले हम यह कहते हैं कि ईश्वर ने ऐसे जन्तु क्यों रचे यह दोष ईश्वर पर तो नही रहा क्योकि अनादि हैं किन्तु कल्प के आदि में ईश्वर पूर्व कल्प कृत कर्मानुसार उन २ योनियों में जन्म देता है । अब प्रयोजन यह है कि खटमल आदि योनिस्थ जन्तु अपने कर्मानुसार दुःख भोगें और दूसरों को दुःख देवें । क्या दुःख भोग के लिये उन योनियों में जन्म देना प्रयोजन नहीं समझा जायगा ? जब कोई प्रश्न करे कि कारागार (जाहिलखाना) किस लिये है तब यही उत्तर देना उचित है कि जो वैसे कर्म करें उन को कैद करने के लिये। कोई कहे कि वैसे काम करना रोक दिये जांय जिन से कैद करने पड़ती है तब यही उत्तर है कि यावत् शक्य रोकने पर भी जो न माने उस को वैसा दण्ड देना

चाहिये । इसी से दुःख विशेष भोगने के लिये खटमल आदि योनि हैं । कोई चाहे कि एक योनि में सब दुःखभोग हो जावे यह महा कठिन है क्योंकि जो दुःख मनुष्य में हो सकते हैं उन से बड़े २ विलक्षण दुःख अन्य योनियों में होते हैं उन का मनुष्य में हो सकना कठिन है । जैसे मरने और वार २ जन्म होने में सर्वोपरि दुःख होता है मनुष्य को उत्पत्ति और मरण एक वर्ष में एक वार वा दो वार से अधिक नहीं हो सकता पर खटमल आदि योनि के एकदिन में जन्म मरण दोनों हो सकते हैं । देश काल वस्तु भेद से एक २ योनि में भी सुख दुःख का न्यूनाधिक्य भेद होता है जैसे शीत देश में शीत से होने वाला सुख विशेष और उष्ण देश में गरमी का सुख वा दुःख विशेष मिल सकता है वा किसी देश में किन्हीं विशेष भोजनादि के वस्तुओं के होने से सुख और उन के अभाव से दुःख इसी प्रकार किसी समय में कोई जीव किसी योनि में उत्पन्न हो उस समय में जैसा राजा वा उस जाति के लोगों का प्रवाह और जिन २ वस्तुओं का आविर्भाव वा तिरोभाव जैसा २ होगा उसी के अनुसार सुख दुःख मिलेगा। यह समय के अनुसार और वस्तुभेद यह कहाता है कि एक ही योनि में प्रकृति भेद से किसी का क्रोधी स्वभाव है उसको क्रोध से दुःख होता इसी प्रकार वात पित्तादि प्रकृति भेद से वा खान पान के भेद से सुख दुःख का भेद एक योनि में भी रहता है । जब खटमल आदि योनि में उन २ जीवों का जन्म दुःख विशेष भोगने के लिये ईश्वर ने दिया है तो प्रयोजन तो सिद्ध हो गया । अब उन योनियों से मनुष्य को क्या उपकार है इस प्रकार का प्रश्न इस लिये नहीं बन सकता कि संसार में जितनी योनि हैं वे सब मनुष्य के उपकारार्थ हों यह नियम नहीं जिन से मनुष्य का उपकार है उन से अपकार भी हो जाता है। मनुष्य को खटमलादि से जो दुःख होते हैं वे भी ईश्वर की व्यवस्था में मनुष्यों के कर्म फल हैं अर्थात् खटमल आदि योनियों का एक प्रयोजन यह भी है कि वे मनुष्यों को सोते में काटें और उन से दुःख हो सोते में काटने से जो दुःख होता है वह भी एक विलक्षण प्रकार का दुःख है वैसा दुःख डांस मच्छर जुआं और खटमलों से ही हो सकता है जो प्रायः सोते में काटते हैं । उस में जुआं सोते जागते दोनों समय बराबर काटते हैं जो कोई मनुष्य न वाल रक्खे और न वस्त्र धारण करे तो उस को जुआं कभी नहीं काट सकते और मशहरी लगा लेने वाले को डांश मसे नहीं काट सकते तथा कई ओषधि खटिया में लगा देने से खटमल पैदा भी नहीं होते हैं इत्यादि अनेक उपाय बचने के हैं वस्त्र ओढ़ने में दंश मशक नहीं काट सकते इत्यादि दुःख भेद इन से मनुष्यों को भी हैं। इस लिये भी इन योनियों का होना है । अब इन खटमलादि को मारने पड़े

इस की अपेक्षा यह उत्तम है कि ऐसे यत्न रक्खे कि जिस से ये अपने निवास स्थान में उत्पन्न ही न हों और कुछ हों भी तो काटही न सकें और मारने की जरूरी पड़े तो जिस खटिया आदि में उन का निवास हो उन को छोड़ कर अन्यत्र सोवे तो वे स्वयं मर जाते हैं। कोई अवसर ऐसा भी हो सकता है कि उन को न मारें कार्यनिर्वाह नहीं हो सकता तो मारना ही पड़ता है। पर जहां तक मारने से बचा जावे वहां तक मारने की अपेक्षा नहीं मारना वा अपने आप कुछ दुःख भोग लेना और अन्य जीवों को दुःख न देना बहुत अच्छा है। परन्तु ऐसे समय में अवश्य मार डालना चाहिये जहां उन सर्प आदि के होने से अपना मृत्यु होना ही सम्भव हो। क्योंकि मनुष्य के शरीर से जो उपकार हो सकता है वह तिर्यग्योनि से कदापि सम्भव नहीं। राजा जो दुष्ट कर्मकारियों को प्राणान्त दण्ड देता है उस को भी मारने का पाप अवश्य लगता है क्योंकि जिस जीव को मारेंगे उस के प्राण वियोगानुकूल व्यापार हिंसा अवश्य होगी पर उस के बदले धर्म की रक्षा और संसार की मर्यादा बहुत सुधरती है इस लिये पाप की अपेक्षा पुण्य अधिक होता है। जिस के करने में पाप न्यून और सुधार अधिक हो वही काम शास्त्रानुकूल कर्त्तव्य कहाता है इसी प्रकार मनुष्य के विशेष उपयोगी कार्यों में जो २ हानि करने वाले जीव हैं उन की निवृत्ति यदि अन्य प्रकार से न हो तो मारना चाहिये उन के मारने से थोड़ा हिंसा दोष लगेगा वह उपकारी कामों के होने वाले फल से दब जायगा। परन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिये कि इन खटमल आदि जीवों की हिंसा का पाप ऐसा नहीं है जैसा मनुष्य के मारने वा पशु के मारने में होता है क्योंकि इन खटमल आदि में हड्डी नहीं हैं। जिन जीवों में हड्डी नहीं होती उन को मरते समय क्लेश हड्डी वालों की अपेक्षा बहुत कम होता है। क्योंकि जिन के शरीर में सात धातु पूरे हैं उन के शरीर से प्राणादि वायु सब धातुओं में व्याप्त रहता है उस का निकलना अति कठिनता से होता है और दंश मशक और मत्कुण—(खटमल) आदि जन्तुओं में प्रायः रस तथा रुधिर दोही धातु होते हैं। इसी कारण इन के शरीर से जीवात्मा बहुत शीघ्र निकल जाता है। एक बात यह भी न्याय सिद्ध है कि जिसके बनने में देर अधिक लगती उस के बिगड़ने में भी काल लगता है। खटमल आदि जन्तुओं की उत्पत्ति बहुत शीघ्र होती है इस लिये उन के मरने में भी समय अधिक नहीं लगता है। और यह तो प्रसिद्ध भी है कि जिस को मरते समय क्लेश कम होता है शीघ्र ही मर जाता है उस को अच्छा समझते हैं और अधिक दुर्दशा होकर मरे उस को बुरा समझते हैं इस का यह तात्पर्य नहीं कि खटमल आदि जन्तु धर्मात्मा हैं किन्तु यह अभिप्राय है कि जिस को

मारने से बहुत क्लेश पहुंचे उस के मारने में हिंसा रूप अधर्म अधिक होता और जिस को कम क्लेश हो उस के मारने में हिंसा न्यून होती है।

और इस में एक बड़ा कारण यह भी है कि जिन २ जन्तुओं से अन्य प्राणियों को सुख पहुंचता है उन को मार कर अनेकों के सुख में बाधा डालने से पाप अधिक है जैसे एक मनुष्य अपने स्त्री पुत्रादि अनेकों का पालन अपने उद्योग से करता है वा गौ आदि पशु अनेक मनुष्यों को दूध घी आदि से सुख पहुंचाते हैं उन को मारने से अनेकों को दुःख होगा इस लिये जैसे अधिक उपकारी वा धर्मात्मा को मारेगा उतनी हिंसा अधिक होगी वैसा ही पाप अधिक होगा। इसी कारण धर्मशास्त्रों में ब्रह्महत्या को सब हिंसाओं में बड़ा पाप माना है, परन्तु यह वार्ता खटमल आदि जन्तुओं में नहीं कि वे अपने बाल बच्चों, वा अन्य किसी का पालन पोषण करते हों जो उन के मर जाने में उन के सम्बन्धी आदि को दुःख पहुंचे किन्तु वे अपने पालक स्वार्थी जन्तु हैं। शास्त्र वाले उन को क्षुद्रजन्तु बोलते हैं। व्याकरण अष्टाध्यायी में एक सूत्र है उस पर महाभाष्यकार ने लिखा हैः—

क्षुद्रजन्तवः॥ अ० २। ४। ८॥ अत्र महाभाष्यम्। के क्षुद्रजन्तवः ?। क्षोत्तव्या जन्तवः क्षुद्रजन्तवः। यद्येवं यूकालिक्षम्। कीटपिपीलिकम्। दंशमशकमिति न सिध्यति। एवं तर्ह्यनस्थिकाः क्षुद्रजन्तवः। अथवा येषां स्वं शोणितं नास्ति ते क्षुद्रजन्तवः। अथवा येषामासहस्रादञ्जलिर्न पूर्यते ते क्षुद्रजन्तवः। अथवा येषां गोचर्ममात्रं राशिं हत्वा न पतति ते क्षुद्रजन्तवः। अथवा नकुलपर्यन्ताः क्षुद्रजन्तवः॥

यहां सूत्रकार पाणिनि का तो अभिप्राय इतना ही है कि क्षुद्रजन्तुओं के द्वन्द्व समास में एक वचन होता है। इस पर महाभाष्यकार कहते हैं कि क्षुद्रजन्तु कौन हैं?। यद्यपि व्याकरण का विषय धर्म की व्यवस्था करना नहीं तथापि वेद का अङ्ग होने से प्रसङ्ग वश धर्मशास्त्र की भी व्यवस्था कहीं २ आजाती है। क्षुद्र शब्द का व्युत्पत्ति पक्ष में यह अर्थ है कि जो पग आदि से दब कर पिचिले जावें वे क्षुद्रजन्तु कहाते हैं। इस पक्ष में यह दोष आया कि जुआं लीखें डांश मशे आदि पग आदि से कुचलने में न्यून आते हैं तो उन को क्षुद्रजन्तु न समझना चाहिये अथवा कुचल जाने से भी जो नहीं मरते ऐसा अर्थ करने से भी डांश मशे आदि क्षुद्रजन्तु नहीं होंगे। इस लिये व्युत्पत्तिपक्ष में यह अर्थ करें कि जिन में अस्थि-(हड्डी) न हों उन को क्षुद्रजन्तु कहते हैं क्योंकि विना हड्डी के शरीर वाले जीव प्रायः कुचल जाते हैं। अथवा जिन में अपना लोहू न हो किन्तु अन्य

प्राणियों का रुधिर पीकर जीवें वे क्षुद्रजन्तु कहाते हैं। अथवा जिन एक हज़ार से भी मनुष्य की अञ्जलि न भरे वे क्षुद्रजन्तु हैं। अथवा जिन को एक बैल का चाम भर मार डालने से भी पतित न हो वे क्षुद्रजन्तु हैं अथवा नकुल पर्य्यन्त क्षुद्रजन्तु कहाते हैं। विना हड्डी के जन्तुओं को क्षुद्रजन्तु मानें तो न्योला आदि कई जीवों का नाम क्षुद्रजन्तु नहीं होगा। जिन में अपना रुधिर न हो उन को क्षुद्रजन्तु मानें तो सर्पादि का नाम न पड़ेगा। जिन एक हजार से भी अञ्जलि न भरे उन को क्षुद्रजन्तु मानें तो गिरगट आदि को क्षुद्रजन्तु न कह सकें गे। जिन को एक बैल का चामभर मार डालने से पतित न हो इस पक्ष में भी दोष है क्योंकि पतित न होने पर भी पापभागी अवश्य होगा। वास्तव में यह वार्त्ता एक देशी है और उपकारी जन्तुओं के मारने से पतित भी अवश्य होगा। इस लिये यह पक्ष सर्वोपरि उत्तम है कि नकुल पर्यन्त क्षुद्रजन्तु कहाते हैं। क्षुद्रशब्द लोक में नीच क्रूर-(हठी) और छोटे का नाम है। इस प्रसङ्ग में छोटा और नीचप्रकृति दोनों अर्थ लेने हैं। खटमल डंश मशक आदि मुख्य कर क्षुद्र हैं। उन जीवों को मारने का विधान नहीं परन्तु यदि अन्य प्रकार से निवृत्ति होना सम्भव न हो और उपकार सम्बन्धी कामों में विशेष हानि करते हैं। तो अवश्य मारना चाहिये। इन जन्तुओं को जान कर कोई न मारे तो भी उस से कुछ न कुछ अवश्य ही मरते हैं इनका सर्वथा बचाव कोई लौकिक मनुष्य कर भी नहीं सकता। तथापि जहां तक बचाव हो सके वहां तक बचावना चाहिये कई बीछू आदि जन्तु ऐसे हैं कि जिन के घर आदि में रहने से बाल बच्चे आदि को बड़ा क्लेश पहुंच सकता है इसलिये ऐसे हिंसक विषधारी जन्तुओं को मार डालने से अनेक मनुष्यादि को होने वाले क्लेश से बचाने से हिंसा नहीं कहावेगी किन्तु उन को मार डालना ही अच्छा है। कोई कहे कि तो ऐसे जीव ईश्वर ने क्यों रचे इस का उत्तर यही है कि जिन को वे काटते हैं उन मनुष्यादि को क्लेश पहुंचे और वे जन्तु स्वयं मारे जावें और उनको मारने का वार वार दुःख भोगने पड़े। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं।

और जहां अपनी कुछ हानि न करें वहां तो कदापि न मारना चाहिये। क्योंकि निष्प्रयोजन किसी को मारना अच्छा नहीं है। इसी लिये धर्मशास्त्र में लिखा है कि " दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलंपिबेत् " आंखों से पृथिवी को देखता हुआ चले जिस से जीवों की हिंसा न हो वस्त्र से छान कर जल पीवे जिस से जीव न चले जांय इस का दूसरा प्रयोजन यह भी है कि जिस से गड्ढे आदि में न गिरे और जल के साथ कुछ अभक्ष्य न चला जावे। और भी—

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग २ | माघ संवत् १९४५ | अङ्क ९

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

पूर्व अङ्क ८ के पृष्ठ १३० से आगे शेष ॥

यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम् ।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥१॥ मनु० अ० ६

जिस पुरुष से किसी प्राणी को थोड़ा भी भय नहीं होता अर्थात् जिस का अहिंसक स्वभाव जान के कोई प्राणी यह भय नहीं करता कि मुझ को यह मार डालेगा उस को शरीर छूटने पश्चात् कहीं किसी से भय नहीं है । व्यासदेव ने योगभाष्य में अहिंसा का अर्थ भी यही किया है-तद्यथा-

अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनतिद्रोहः ।

अहिंसा उसी को कहते हैं कि सब प्रकार से सब काल में सब प्राणियों को मारने वा दुःख देने की चेष्टा वा इच्छा न करना । इसलिये खटमल आदि को भी मारने से बचाना बहुत उत्तम है । तथापि यदि उन जन्तुओं के मारने से उपकारी काम करके पुण्य अधिक कर सकता है और उन के बने रहने से धर्म का उतना उपयोग नही तो उस पुण्य से वह पाप दब जायगा । बहुतसे मनुष्य ऐसे भी होते हैं कि अपना कुछ प्रयोजन नहीं और न वे जन्तु उन को वा किसी की हानि करते हैं तो भी मार डालते हैं उन को अवश्य केवल पाप ही होता है । जो बिना प्रयोजन दूसरे की हानि करते हैं वे राक्षस से भी गये बीते हैं भर्तृहरि कवि ने कहा है किः-

एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये,
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये ।\

तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥१॥

स्वार्थ को छोड़ कर अर्थात् स्वार्थ की हानि करके भी जो परोपकारार्थ यत्न करते वे संसार में उत्तम कक्षा के सत्पुरुष, जो स्वार्थ को न बिगाड़ के अर्थात् स्वार्थ सिद्ध किये पश्चात् परोपकार में भी परिश्रम करते किन्तु जिस परोपकार से स्वार्थ बिगड़े उस को नहीं करते वे सामान्य और जो स्वार्थसिद्धि के लिये पराई हानि करते अर्थात् पराई हानि से अपना स्वार्थ साधते वे मनुष्यों में राक्षस हैं परन्तु जो निरर्थक पराई हानि करते हैं कि जिस हानि से उन का भी कुछ स्वार्थ नहीं वे राक्षसों से ऊपर किस पदवी को प्राप्त होने योग्य हैं यह हम नहीं जानते। इसी प्रकार की व्यवस्था यहां क्षुद्र जन्तुओं की जीवहिंसा में भी समझनी चाहिये। अब इस विषय पर अधिक नहीं लिखता किन्तु इस विषय के साथ कर्म व्यवस्था का अवश्य बड़ा सम्बन्ध है पर प्रश्नकर्त्ता का उस से कुछ तात्पर्य नहीं इस कारण नहीं लिखते। अब इस लेख का उपसंहार यह है कि खटमल आदि योनि अनादि हैं कर्मों के भेद से उन २ योनियों में उन २ प्रकारों के दुःख विशेष भोगने के अर्थ जीवों के जन्म होते हैं। और खटमलादि कोई जन्तु हो मारने में हिंसा का पाप यथायोग्य अवश्य होता है। जहां तक हो सके न मारना चाहिये। उपकारी काम में मारने विना हानि ही होती हो तो भी मारने का विधान नहीं किन्तु तात्पर्य यह है कि निःश्रेयस परमार्थ सम्बन्धी धर्म में छोटे २ पाप भी पाप माने जाते हैं और संसार में रह कर जिन लोगों ने बहुत बड़े २ पाप जमा कर लिये हैं उन के लिये यह क्षुद्रजन्तुओं का मारना बहुत छोटा पाप है। अर्थात् सभी दशा में पाप अवश्य है। अहिंसाधर्म में जो ठीक २ लब्धप्रतिष्ठ (पास) होगा। उस को खटमलादि क्षुद्रजन्तु भी कुछ कष्ट नहीं दे सकते। कोई पुरुष ऐसी शङ्का कर सकता है कि जब ईश्वर ने खटमलादि को पापफल भोगने के लिये बनाया है तो उन को मारने से दुःख होकर पाप फल शीघ्र २ भोगा जायगा जो पाप फल ईश्वर को उन से भुगाना है वही हम करते हैं फिर हम पापी क्यों होंगे?। तो उत्तर यह है कि जैसे ईश्वर ने उन को पापफल भोगार्थ योनि दी है वैसे उसी ने तुम को मनुष्य योनि में धर्म करने दया करने विचार पूर्वक कार्य करने और हिंसा से बचने के लिये बनाया है तुम भी ईश्वर के अभिप्रायानुकूल करो तुम को ईश्वर ने आज्ञा भी नहीं दी कि तुम इन को मार कर पाप भुगाओ। और यह भी नियम नहीं कि तुम्हारे मारने से ही पाप भोग

हो जायगा तुम्हारे बिना मारे भी पाप भोग हो सकता है जिन जन्तुओं को तुम नहीं मारते वा नहीं मार सकते वे भी अपने २ पाप फल भोगते ही हैं। ऐसे तो जो तुम से बलवान् होने से तुम को मारते हैं वे भी ईश्वर की आज्ञानुसार अपने को मान सकते हैं इस लिये सब जीवों पर दयादृष्टि रखना ही धर्म है ॥

भवन्मित्रो

भीमसेन शर्मा

मूर्तिपूजा के मूल अवतार का विचार ॥

मूर्त्तिपूजन के विषय में आर्यसिद्धान्त में पहिले कुछ लेख लिखा गया है। इस विषय में ईश्वर को निराकार मानते हैं तब तो उस की प्रतिकृति प्रतिबिम्ब (तस्वीर) बन ही नहीं सकती। परन्तु साकार ईश्वर की प्रतिमा बन सकती है इस विषय में अनेक लोग ऐसा प्रश्न करते हैं कि—

प्र०—ब्रह्म का अवतार अवश्य मानना चाहिये क्योंकि इस को सभी लोग मानते और वेदादि शास्त्रों में भी अवतार माने गये हैं जैसे ॥

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पांसुरे ॥१॥

इत्यादि। इस मन्त्र से वामनावतार सिद्ध होता है। और अवतार लिये विना ईश्वर सब काम भी नहीं कर सकता क्योंकि निराकार ब्रह्म में किसी प्रकार की क्रिया का आरोपण नहीं हो सकता। इस लिये अवतार मानना चाहिये।

उ०—यह नियम कदापि नहीं हो सकता कि किसी विषय को सभी लोग मान लेवें क्योंकि बुद्धि की विलक्षणता प्रायः मनुष्यों में रहती है परन्तु सर्वतन्त्र सिद्धान्त की बातों को प्रायः सभी मानते हैं जैसे आंख से देखना कान से सुनना पर अवतार को सब नहीं मानते जैसे आर्यसामाजिक लोग भी नहीं मानते यदि कहो कि आर्यसामाजिक लोगों को छोड़ कर सब मानते हैं यह अभिप्राय प्रश्न का था तो सो भी ठीक नहीं क्योंकि नास्तिक लोग अनादि सिद्ध किसी ईश्वर को ही नहीं मानते तो अवतार उन के मत में कहां से आवे गा। हां वे लोग किसी प्रकार मनुष्यों का सिद्ध हो जाना मानते हैं उन्हीं को ईश्वरस्थानी समझते हैं। और मुसलमान लोग भी ईश्वर का अवतार नहीं मानते। वे लोग महुम्मद साहब को खुदा का मन्त्री (दीवान) का स्थानी मानते हैं। अर्थात् राजा की जो कुछ आज्ञा होती वह मन्त्री द्वारा होती है इसी प्रकार खुदा का जो हुक्म होता था वह महुम्मद साहब के द्वारा आयत रूप से उतरता था। इस में उन लोगों का यही दोष है कि वे महुम्मद साहब का खुदा के कार्य में दखल रखते

हैं परन्तु यह भी कहते हैं कि उस के काम में किसी का दखल नहीं है । इन से भिन्न अन्य भी कई समुदाय ऐसे होंगे जिन के मत में ईश्वर का अवतार नहीं माना जाता तो यह कहना ठीक नहीं कि अवतार को सभी लोग मानते हैं । यदि यह अभिप्राय हो कि निराकार ईश्वर से भिन्न सभी लोग किसी साकार पुरुष को मानते हैं । वे उस को ईश्वर भले ही न कहें पर उन का और अवतार मानने वालों का अभिप्राय एक ही है । तो सो भी ठीक नहीं क्योंकि किसी पुरुष विशेष को जो मानते हैं उन सब का अभिप्राय यह नहीं है कि ईश्वर के स्थान में उन की उपासना करें किन्तु वे विद्या बुद्धि तप, धर्मानुष्ठान आदि के प्रभाव बढ़ने से अधिक तेजस्वी हुए उन का इतिहास पढ़ने से वा समय २ स्मरण करने से यही प्रयोजन है कि हम भी वैसे गुणवान् होने का उद्योग करें । यदि कोई२ अविद्याधीन हो कर यह भी मानता हो कि वही पुरुष ईश्वर था तो क्या इतने से ईश्वर का अवतार सिद्ध हो सकता है ? ॥

यदि सब कहने से अधिक लोग मानते हैं यह अभिप्राय प्रश्न का हो तो संसार में यह भी नियम नहीं है कि अधिक लोग जिस को मानें वही धर्म वा सब को मानना चाहिये । कदाचित् किसी समय जगत् में चोरों की संख्या अधिक बढ़ जावे और वे सब यही सिद्ध करें कि चोरी अच्छा काम है तो क्या सज्जनों को मानना चाहिये वा अच्छे पुरुषों को भी चोरी करना चाहिये ? । अर्थात् कभी नहीं । यदि कोई कहे कि जिस को तुम चोरी कहते हो वास्तव में वह चोरी है वा नहीं यह भी साध्य है अर्थात् अवतार मानने में कुछ हानि वा बुराई नहीं तो हम प्रत्यक्ष में हानि दिखाते हैं कि ईश्वर का अवतार मानने में बड़ी हानि है प्रथम तो जब ईश्वर को सर्वव्यापक अनन्त मान चुके तो किस प्रकार वह एक छोटे से शरीर में आसकता है ? कदाचित् अंशांशि सम्बन्ध से अंशरूप का अवतार मानो तो अनन्त विभु एकरस पदार्थ में अंशांशि सम्बन्ध कभी कोई सिद्ध कर नहीं सकता अर्थात् आकाश का टुकड़ा होना जैसे असम्भव है वैसे ही ईश्वर का अंश और अंशावतार दोनों असम्भव हैं यदि घटाकाश मठाकाश के समान कल्पना मानो तो यह कल्पना सत्य है वा मिथ्या ? । यदि सत्य कहो तो आकाश का खण्ड घट मठ के नष्ट हो जाने पर दिखाना चाहिये सो दिखा सकना असम्भव है यदि मिथ्या है तो ईश्वर का अंशावतार मानना भी मिथ्या हो गया । जब अंशावतार वास्तव में नहीं बनता और अनन्त विभु पदार्थ का एक छोटे से शरीर में आना असम्भव है तो ब्रह्म का अवतार मानना एक प्रकार

का मिथ्या ज्ञान हुआ । और मिथ्या ज्ञान से कभी किसी का संसार वा परमार्थ नहीं सुधर सकता किन्तु अनिष्ट की सामग्री होती है क्या यह कम हानि है ? ॥

एक सर्वशक्तिमान् परमात्मा को वेदादि शास्त्रों में नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव माना है उस को अनेक प्रकार के गर्भवास जन्ममरण में मानना क्या अच्छा काम है?। मनुष्यों में अनेक मत हो कर परस्पर विरोध से महादुःखसागर में गिरने का भी अवतार ही कारण है। यदि अवतार न माने जाते तो एक ईश्वर के मानने वालों में मत भेद कभी नहीं हो सकता। इत्यादि अनेक हानि हैं जब इस के मानने में हानि हैं तो अच्छा काम क्यों कर माना जा सकता है। फिर अधिक लोग इस को मानते हैं इस कारण अच्छा है यह नहीं बन सकता। इस समय भी विद्वान् संस्कृतज्ञ पण्डित थोड़े और साधारण लौकिक लोग अधिक हैं तो भी धर्मसम्बन्धी कल्याण का मार्ग पण्डितों के विचारानुसार माना जाता है यदि अधिक लोगों की सम्मति प्रबल मानी जावे तो मूर्ख लोगों की सम्मत्यनुसार कल्याण मार्ग खोजने से इस जनश्रुति—(कहावत) को अवकाश मिलेगा कि "स्वयमसिद्धः कथं परान् साधयति" यदि मूर्ख लोग कल्याण का मार्ग दूसरों को दिखा सकते तो आप ही क्यों दुर्दशा में पड़े रहते "अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः" अन्धा अन्धे को पकड़ के चले तो दोनों का गढ़े में गिरना सम्भव है। इसी लिये धर्मशास्त्र में लिखा है कि—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ मनुः

एक भी वेदवेत्ता पुरुष जिस धर्म का निश्चय करे उसी को परमोत्तम धर्म मानना चाहिये पर अज्ञानी लोग हजारों भी मिल कर जिस को धर्म कहें वह धर्म नहीं। इस लिये अवतार को अधिक लोग मानते हैं इस कारण प्रामाणिक नहीं हो सकता। यदि कहो कि अवतार मानने वालों में क्या विद्वान् नहीं हैं क्या सब मूर्ख हैं ? तो हम भी यह नहीं कहते कि अवतार मानने वालों में विद्वान् नहीं किन्तु अनेक विद्वान् हैं। पर सृष्टि का नियम यह है कि जो विषय अच्छा वा बुरा किसी प्रकार बीच में से प्रचरित हो जाता है तब उस समय के पुस्तकों में भी उस की लिखा पढ़ी हो जाती है आगे२ जो मनुष्य उत्पन्न होते हैं उन को जन्म से वैसा ही ज्ञान सुनते पढ़ते हो जाता है उस का अभ्यास अच्छे प्रकार हो जाने से विद्या पढ़ने पर भी वही ठीक जान पड़ता है और किसी को कुछ शंका भी होती तो पुस्तकादि द्वारा तात्कालिक लोग उस की पुष्टि भी करते र-

हुते हैं कदाचित् कभी किसी को पूरी शंका भी हुई कि यह विषय तो बीच से कल्पित वेदविरुद्ध ज्ञात होता है तो वह उस प्रवाह से निकल कर अपने स्थित होने का भी अवकाश न देखकर फिर चुप हो बैठता है । किन्तु कभी कोई मनुष्य ऐसा भी उत्पन्न हो जाता है कि जो अपने चित्त में निश्चय कर लेता है कि मेरा शरीर भी भले ही चला जावे पर जो सत्य समझ लिया उस को तो वैसा ही उपदेश करूंगा वा कहूंगा । वह पुरुष ऐसा दृढ़ होता है कि लोक में निन्दा स्तुति सुख दुःख हानि लाभ मानापमान आदि द्वन्द्वों के तरङ्गों से चलायमान नहीं होता । ऐसे पुरुष संसार में अधिक वा सदा नहीं होते किन्तु अनेक जन्मों के शुद्ध संस्कार संचित होते २ कभी कोई उत्पन्न हो जाता है उस का प्रताप थोड़े ही समय में सूर्य के समान जगत् में छा जाता है । वह पुरुष अन्तःकरण के शुद्ध होने से पूर्वजन्म के कर्मानुष्ठान से निर्मल बुद्धि होता है और प्रत्येक समय बुद्धिरूप महल पर चढ़ा सब को नीची दशा में देखता है । योगभाष्य में व्यास देव ने लिखा है-

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान् ॥
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥ १ ॥

बुद्धि की प्रसन्नतारूप महल पर चढ़ के शोक मोहादि युक्त जनों को शोक करने योग्य न हुआ पूर्ण विद्वान् नीची दशा (शोकमोहादि) में पड़े हुए मनुष्यों को ऐसा देखता है जैसे कोई पर्वत की चोटी पर चढ़ा हुआ नीचे रहने वाले चलते फिरते मनुष्यों को छोटे २ देखे ऐसे ही विद्वान् मनुष्य बुद्धिरूपी पर्वत पर चढ़ कर मनुष्यों को छोटे २ तुच्छता युक्त देखता है अर्थात् आगे पीछे भूत भविष्यत् के कार्यों की समालोचना अच्छे प्रकार कर सकता और कर लेता है । जो कुछ वेदादि विरुद्ध वा धर्मविरुद्ध उपदेश भेड़ियाधसान से बीच में से चल जाते हैं उन की छानबीन अच्छे प्रकार कर डालता है उस को अपने साहस धैर्य ब्रह्मचर्य्य गाम्भीर्य शौर्य आदि गुणों के बल वा प्रताप से पृथ्वी भर के मनुष्यों से भी कुछ भय नहीं होता । ऐसे पुरुष प्रायः ब्राह्मण वा कभी २ क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होते हैं पहिले से ऐसे बहुत पुरुष हुए हैं। परशुराम आदि अनेक ब्रह्मर्षि वा राजर्षि हुए। स्वामी शङ्कराचार्य्य जी और इस समय में स्वामी दयानन्दसरस्वती जी महाराज हुए येही लोग मुख्य विद्वान् हैं यद्यपि ऐसे पुरुषों के सामने अन्य विद्वान् कुछ भी नहीं तथापि सर्वसाधारण मनुष्यों की अपेक्षा विद्वान् ही माने जाते वा मानने चाहिये ये अन्य विद्वान् उन महात्माओं

के समानपूर्वापर बातों की जड़ नहीं खोज सकते इस में उन का विशेष दोष नहीं किन्तु बहुत से विद्वान् ऐसे भी होते हैं जो किसी प्रकार निश्चय कर लेते हैं कि यह २ वार्त्ता इस २ प्रकार वेदशास्त्र विरुद्ध है और समयानुसार एकान्त में प्रकट भी कर देते हैं कि यह विषय ऐसा है पर अपनी निन्दा धनहानि वा लौकिक कार्य्यों में बाधा होने के भय से सत्य व्यवहार नहीं करते किन्तु सर्वसाधारण के अनुकूल कहते और वर्त्तते हैं ऐसे लोग अवश्य धार्मिक विद्वान् पदवी के योग्य नहीं और उन का कर्त्तव्य सर्वथा धर्मानुकूल नहीं हो सकता धर्मशास्त्र में लिखा है कि—

न लोकवृत्तं वर्त्तेत वृत्तिहेतोः कथं चन ।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद्ब्राह्मणजीविकाम् ॥ मनु० अ० ४

गृहस्थ विद्वान् पुरुष को योग्य है कि जीविका के कारण शास्त्र विरुद्ध लोक के वर्त्ताव से न वर्त्ते किन्तु जिस में संसार का उपकार हो ऐसे कामों का आचरण करे। और कुटिलता मूर्खता रहित अपने वर्ण की शुद्ध निर्दोष जीविका करे और ऐसे लोग भी पण्डित और विद्वान् लोक में कहाते हैं जो श्रीमानों को प्रसन्न रखने और अपना स्वार्थ साधने के लिये अच्छे २ राजा रईसों से अधर्म कराते हैं। यदि श्रीमान् की रुचि वेश्यागमन में देखी तो उन को वैसा ही उपदेश कहीं किसी शास्त्राभास से निकाल दिया। जिस को जैसा देखा उस को वैसा ही उपदेश देकर अपना मतलब सिद्ध किया। यहां तक कि चोर को चोरी का मुहूर्त भी बता कर टका ले लेना उत्तम समझ लिया। ऐसे लोग कदापि विद्वान् कहाने योग्य नहीं किन्तु इन को साक्षात् अधर्म की मूर्त्ति समझना चाहिये क्या ऐसे लोगों को विद्वान् मान कर उन के कहे अनुसार ईश्वर का अवतार मान लिया जाय ? कि वेदानुकूल है। मैंने इस प्रसंग में विद्वानों की कई कक्षा दिखाई हैं इन में जो वास्तव में ठीक २ महर्षि विद्वान् होवें उन के कथन का तो सर्वथा प्रमाण करना ही चाहिये। अन्यों का यथासम्भव धर्मानुकूल विश्वास हो सकता है। पर अवतार को अधिक लोग मानते हैं इस कारण माननीय नहीं हो सकता।

अब रहा यह कि वेदादि शास्त्रों में ईश्वर के अवतार का होना लिखा है इस कारण मानना चाहिये सो इस पर विचार यह है कि जब वेद में ईश्वर के अवतार का निषेध भी लिखा है कि वह जन्म मरण शरीरधारणादि से सर्वथा सर्वदा रहित है तो क्या एक ही वेद में दोनों बातें हो सकती हैं ?। जब किसी विद्वान् मनुष्य के बनाये ग्रन्थ में ऐसा साक्षात् विरोध नहीं होता तो क्या वेद

जैसे प्रतिष्ठित ईश्वरीय वाक्य में परस्पर विरुद्ध वचन हो सकता है ? कदापि नहीं । और जो लोग यह कहते हैं कि वेद में संसार दशा में अवतारादि सब हैं और परमार्थ दशा में अवतारादि सब कार्यों का निषेध है । सो यह भी ठीक नहीं क्योंकि संसार को मिथ्या करना सिद्ध नहीं हो सकता । संसार परमार्थ दोनों ऐसे मिले हैं कि एक के अभाव में दूसरे का भी अभाव है जब संसार बन्ध है तभी परमार्थ मुक्ति बन सकती है यह बन्ध कोई पदार्थ न हो तो मुक्त किस से हों मुक्त कोई न हो तो बद्ध किस को कहें । इस लिये संसार को मिथ्या कहना जब नहीं बनता तो संसार को मिथ्या मान कर बद्धदशा में अवतार कैसे मान सकते हो । कदाचित् संसार को मिथ्या ही कहो तो संसारान्तर्गत अवतार भी तुम्हारे कथनानुसार ही मिथ्या हो गये । और कदाचित् अवतार वादियों का सब कथन अङ्गीकार कर भी लिया जावे तो एक पदार्थ में परस्पर विरुद्ध दो धर्म कदापि सिद्ध नहीं हो सकते जब वह पदार्थ विभु है तो परिच्छिन्न नहीं यदि परिच्छिन्न है तो विभु नहीं । जहां प्रकाश है वहां अन्धकार नहीं और जहां अन्धकार है तो प्रकाश नहीं । जब ईश्वर अनन्त निराकार है तो सान्त और साकार नहीं हो सकता फिर वेद में दोनों प्रकार के ईश्वर का मानना कदापि ठीक नहीं है । अवतारवादी लोग भी ईश्वर का साकार होना अविद्या में मानते हैं वास्तव में नहीं । जब ऐसा है तो वेद में भी अविद्या का वर्णन हुआ जिस में अविद्या का वर्णन है उसको कोई बुद्धिमान् वेद नहीं मान सकता और अविद्या में साकार माना तो अविद्या और मिथ्याज्ञान एक ही बात है अवतार मानना भी मिथ्याज्ञान सिद्ध हो गया हम लोग भी यही मानते हैं कि ईश्वर को साकार वा शरीरधारी मानना मिथ्याज्ञान है तो फिर भेद क्या रहा एक ही सिद्धान्त हो गया । अब केवल भेद यह रहा कि अवतार वादी कहते हैं कि भले ही अविद्या हो पर अविद्या में ही सही अवतार होता तो है । और हम लोग कहते हैं कि जो ज्ञान वा मानना अविद्या है तो अवतार का होना कैसा ? मिथ्या ज्ञान वा अविद्या उसी का नाम है जो वैसा न हो उस को वैसा मान लिया जावे भ्रान्ति से अन्य को अन्य समझना अविद्या कहाती है सो जब अविद्या में अवतार है वास्तव में नहीं तो ईश्वर का अवतार मिथ्या हुआ यदि होता है तो अविद्या नहीं और अविद्या है तो अवतार का होना नहीं बनता एक ही बन सकता है । इस से यह आया कि अवतार को मानने वालों के मत से भी वस्तुतः ईश्वर का अवतार नहीं होता अवतार का मानना मिथ्या ज्ञान है ॥

यदि कहो कि अन्य ग्रन्थ और युक्तियों के आधीन वेद नहीं हो सकता तो यह मानने योग्य है कि अन्य ग्रन्थ वेद के आधीन हैं और युक्तियां भी वेदानुकूल माननी चाहिये किन्तु युक्ति से वेद को सिद्ध नहीं कर सकते। इसी लिये हम पूर्व लिख चुके हैं कि वेद में परस्पर विरुद्ध दो बातें नहीं हो सकतीं कि ईश्वर अनन्त विभु माना जावे और फिर साकार भी मानें। जैसे वेद में ईश्वर के शरीरधारी होने का निषेध (मनाई) अनेक स्थलों में अनेक मन्त्रों से किया है वैसे उस के निराकार वा अनन्त वा अवतार न होने का निषेध किसी स्थल में नहीं किया इस से भी ज्ञात होता है कि वास्तव में अवतार का निषेध है और वेदानुकूल ईश्वर निराकार विभु है। तो अवतार प्रतिपादन में किसी मन्त्र का प्रमाण नहीं है अर्थात् अवतारवादियों ने जिन मन्त्रों को ईश्वरावतार प्रतिपादक समझा है उन का अभिप्राय वह नहीं है अब (इदं विष्णु०) इस मन्त्र का अर्थ सुनिये—

विष्णुः सर्वव्यापकः परमात्मा इदं सकलं जगत् विचक्रमे विक्रान्तवान् सृष्टिमुत्पाद्य स्वसामर्थ्येन सर्वं वशीकृतवान् पदं जगतः प्राप्तिं त्रेधा त्रिप्रकारतया निदधे स्थापितवान्। अर्थात् उत्तममध्यमनिकृष्टभेदेन त्रिविधं जगत् व्यवस्थाप्य व्याप्तवान्। अस्य विष्णोः पांसुरे प्रलयावस्थायां परमाणुभूते कारणे सृष्ट्यवसरे समूढं समूहीभूतं समष्टिरूपं कार्यं जगज्जातमिति भावः॥

सर्वव्यापक परमेश्वर ने सृष्टि को उत्पन्न कर इस सब जगत् को वश में किया जगत् की प्राप्ति को तीन प्रकार से स्थापित किया अर्थात् उत्तम मध्यम निकृष्ट तीन प्रकार से जगत् की व्यवस्था कर व्याप्त हो रहा है प्रलयावस्था में इस परमेश्वर के परमाणुरूप कारण में स्थूलरूप कार्य जगत् इकट्ठा हुआ यह इस मन्त्र का अभिप्रायार्थ है। अब जो लोग इस मन्त्र से वामनावतार का अर्थ निकालते हैं उन से प्रश्न है कि वामनावतार के इस में कौन से पद हैं जिन से वह अर्थ निकले। और यह भी विचारणीय है कि वामनावतार होने से पहिले वेद था वा नहीं यदि नहीं कहो तो सृष्टि के आरम्भ में चतुर्वेदवक्ता ब्रह्मा जी कैसे माने गये। यदि पहिले से ही वेद हैं तो पीछे हुए वामनावतार की कथा वेद में कहां से आई ?। क्या आगे होने वाले पदार्थों का वर्णन पहिले बने पुस्तक

में हो सकता है ? यदि ईश्वर को भविष्यत् वक्ता मानो तो हो सकता है पर आगे होने वाले किसी निज पदार्थ का वर्णन वेद में मानें तो अन्य अवतारों के मन्त्र भी वेद में होने चाहिये फिर कहिये कच्छप, मच्छ, शूकरादि अवतारों के मन्त्र कौन हैं ? यदि ऐसा है तो बुद्ध की कथा भी वेद में होवे क्योंकि बुद्ध भी अवतारों में परिगणित है । और इस कल्प भर में आगे होने वाले हजारों अवतारों के नाम पते और कर्त्तव्य के मन्त्र भी निकालने चाहिये ? सृष्टि के आरम्भ से अब तक २४ ही अवतार हुए यह कैसे बन सकता है जब प्रत्येक युग में एक २ अवतार होना मानते हो तो १२४८ अवतारों के नाम पते और कर्त्तव्यों का वर्णन होना चाहिये क्योंकि इस कल्प में अब तक १२४८ युग बीत चुके हैं यह कभी सम्भव है ? कि इतने अवतारों का नाम पता और कर्त्तव्य प्रत्येक युग में वेद से कोई निकाल देवे । परन्तु यह भी व्यवस्था नहीं कि एक २ युग में एक ही एक अवतार माना जावे । इस कलियुग में श्रीकृष्ण बुद्ध और कल्कि तीन तो प्रसिद्ध हैं आगे अभी इसी युग में बहुत समय पड़ा है तो जानें कितने अवतार होने चाहिये । इस हिसाब से अबतक हज़ारों अवतार होने चाहिये । उन सब का पता वेद से लगाना असम्भव है । इस लिये वामनावतार का वर्णन वेद में है यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि वामनावतार का वर्णन वेद में दिखाने से यही प्रयोजन सिद्ध हो सकता है कि उस अवतार का प्रमाण सब कोई माने सो उस के प्रमाण सिद्ध हो जाने पर भी जिन २ का प्रमाण वेद से न मिलेगा वे सब अप्रामाणिक होंगे । और जब किसी निज अवतार का वर्णन वेद में इस लिये हुआ कि वह प्रामाणिक माना जावे तो जिस का वर्णन नहीं है वह कदापि नहीं माना जायगा । और वामनावतार में ऐसी प्रधानता भी नहीं कि जो मुख्य का ग्रहण उपलक्षणार्थ मान लेवें । इत्यादि अनेक हेतुओं से यह सिद्ध हो सक्ता है कि वेद में ईश्वर के अवतार की कथा नहीं है ॥

अब यह विचार शेष रहा कि (प्र०) अवतार लिये विना ईश्वर सब काम नहीं कर सक्ता क्योंकि निराकार ब्रह्म में किसी प्रकार की क्रिया का आरोपण नहीं हो सकता । इत्यादि (उ०)–अवतार लिये विना तो ईश्वर सब काम कर सकता है पर अवतार लेने से सब काम जो उस के करने के हैं नहीं कर सकता । जैसे एक मनुष्य कई स्थान में रहने से जो काम कर सकता है सो एक स्थान में रहने से नहीं कर सकता । विभु द्रव्य क्रियावान् नहीं हो सकता यह सर्वसम्मत है

और ईश्वर का विभु होना अनेक युक्ति प्रमाणों से सिद्ध हो चुका कि ईश्वर निराकार विभु है फिर क्रिया का आरोपण क्यों किया जाता है क्रियावान् पदार्थ क्रिया से विकारी होता है अर्थात् स्वरूप में अवस्थित नहीं रहता इसी प्रकार यदि ईश्वर में क्रिया का आरोपण करें तो वह भी विकारी मानाजावे । द्रव्य के क्रियावत् होने में उस का विकारी होना ही गमक है अर्थात् जब वह पदार्थ किसी प्रकार हिलता डुलता वा एक अवकाश से दूसरे अवकाश में चला जाता है तब जानते हैं कि इस में क्रिया है यदि ज्यों का त्यों एक जगह पड़ा रहे तो उस को क्रिया युक्त न कोई कहे न माने इस लिये इस प्रकार की क्रिया यदि ईश्वर में मानें तो वह निराकार और विभु नहीं ठहरे गा यह कोई नहीं कह सकता कि आकाश हिल गया । इस में विचार यह है कि क्रिया ईश्वर में मानने की क्या २ आवश्यकता है और कैसी क्रिया मान सकते हैं ।

क्या जैसे कुम्हार घट को बनाता और घट बनाने में जैसा २ परिश्रम कुलाल को करने पड़ता है वैसे परमेश्वर को संसार की रचना में हाथ आदि अवयव होने और चलाने की आवश्यकता पड़ सकती है ? ऐसा मानें तो अवश्य निराकार ईश्वर सृष्टि नहीं बना सकता परन्तु कुलाल की उपमा दें तो सृष्टि बनाने के लिये ईश्वर को कितने ही वर्ष लग सकते हैं और साकार पुरुष निरन्तर कोई काम भी नहीं कर सकता किन्तु उस को अवकाश लेने की बहुत आवश्यकता पड़े गी । इसी लिये ईसाई लोग छः दिन में सृष्टि बना कर सातवें दिन उस ने आराम किया ऐसा मानते और कहते हैं पर आर्यों के किसी शास्त्र से सिद्ध नहीं हो सकता कि ईश्वर को सृष्टि बनाने में कुछ परिश्रम होता और वह थक कर आराम लेता है । किन्तु आर्य लोग तो यही मानते हैं कि उस को सृष्टि करने में किंचिन्मात्र भी परिश्रम नहीं पड़ता । क्या जो हमारे तुल्य काम करते २ थक कर आराम करे वह सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहा जा सकता है ? कदापि नहीं । जो साकार वस्तु है वह अनन्तशक्ति वा सर्वशक्तिमान् कदापि नहीं हो सकता। इस लिये इस प्रकार कुलाल की उपमा ईश्वर को नहीं दे सकते केवल उपादान और निमित्तकारण की भिन्नता मात्र दिखाने के अर्थ उपमा दे सकते हैं । ईश्वर में क्रिया मानने की केवल इतनी ही आवश्यकता है कि जगत् की उत्पत्ति विना क्रिया के नहीं हो सकती और क्रिया करने में कर्त्ता विकारी होता है । इस पर ध्यान दे कर विचारें तो निश्चय हो सकता है कि प्रत्येक क्रिया के करने

में कर्त्ता विकारी ही हो यह नियम नहीं और कर्त्ता वा निमित्तकारण सब एक से हों यह भी नियम नहीं। कर्त्ता और निमित्तकारण ये प्रायः चेतन में होते हैं पर कहीं २ जड़ पदार्थ भी कर्त्ता वा निमित्त कहे जाते हैं। जैसे अग्नि पदार्थों को जलाता है यहां अग्नि पदार्थों के जलाने में कर्त्ता वा निमित्त है। यदि किसी मनुष्य के कहीं जा कर बैठ जाने से कई काम हों और वह परिश्रम कुछ न करे किन्तु चुप चाप बैठा रहे तो उस का विकारी होना नहीं कहा जायगा। और उस के वहां होने विना वह काम नहीं हो सकता इस लिये वह कर्त्ता वा निमित्त माना जायगा। अर्थात् कोई २ कर्त्ता वा निमित्त ऐसे भी माने जाते हैं। जो वहां निकट रहें तो वह काम हो जाता है॥ न्यायशास्त्र के अनुसार आत्मा अर्थात् चेतन में क्रिया रहती भी नहीं कि जिस से चेतन विकारी हो जावे क्रिया सदा जड़ में ही रहती है। इस लिये वैशेषिक कारों ने आत्मा को निष्क्रिय द्रव्य कहा वा माना है सो सर्व विद्वानों का सम्मत है। सृष्टि की उत्पत्ति चेतन के सम्बन्ध से होती है अब यहां इस का विचार अवश्य करना चाहिये कि जड़ चेतन का सम्बन्ध वा संयोग किस प्रकार का मानना चाहिये वा मान सकते हैं! क्रमशः

ब्राह्मसमाज

आर्यसिद्धान्त भाग १ अंक ७ के १०७ पृष्ठ में ब्राह्मसमाजियों के विषय में कुछ लेख किया गया था। वहां महाराजा वेंकट गिरि के प्रश्नों में से पांचवें प्रश्न का उत्तर छपा है वह प्रश्न वेद के ईश्वरीय वाक्य होने के विषय में था और प्रश्नकर्त्ता का अभिप्राय उस प्रश्न से यह प्रतीत होता है कि वे ब्राह्मसमाजियों के तुल्य वेद को मानना उत्तम समझते और आर्य लोग जिस प्रकार वेद मानते हैं वैसा उत्तम नहीं समझते। वहां आर्य लोगों के वेद मानने विषय में जो २ तर्क थे उन सब का उत्तर यथावत् लिखने पश्चात् यह सिद्ध किया था कि ब्राह्म लोग जिस प्रकार वेद मानते हैं वह सर्वथा ठीक नहीं किसी प्रमाण से वा किसी युक्ति से इन का वेद मानना ठीक नहीं है। यह प्रथम भाग का ७ अंक किन्हीं आर्य महाशय ने पूना के ब्राह्मपत्रिका सम्पादक को दिखाया तो ब्राह्मसमाज पर जो तर्क ठीक २ किये गये थे उन का उत्तर देने में अपना बल न समझ कर अन्य ही कुछ लिख मारा। यदि ऐसे अवसर पर कुछ न लिखते तब तो सर्वथा असामर्थ्य प्रतीत हो जाता। उन्हों ने विचारा कि कागज कलम दवात अपने पास है लिखते समय कोई रोक टोक है नहीं तो जो आगे आया सो लिख दिया।

हमारे पास पूना बुधवार पेंठ से निकलने वाली ता० १ मई ८९ की ब्राह्म पत्रिका की एक कापी एक आर्य पुरुष ने भेजी है उस में निम्नलिखित लेख है:-

आर्य का वोही तान ब्राह्मजनों पर ॥

कलजुगी आर्यधर्म दयानंदकृत इन के शिष्यमंडलो से एक मासिकपत्र आर्य-सिद्धांत नामक निकलता है व हामारे येक ब्राह्मबंधूने वेदईश्वरकृत है या नहीं इस सिद्धांत के कारण थोडा विचार करते हैं.

सदर पुस्तक के बनाने वाले ने पृष्ट १०७ में लिखा की, हम लोग अनेक कारणों से सिद्ध कर सकतें हैं वेद ईश्वरकृत फेर उस पर संदेह करना योग्य नहीं. और उदाहरण राणीसाहेब चक्रवर्तनी का दिया है. वाहा जी वाहा हमारे महराणी साहेब मनुष्य है. इस कारण उन का उदाहरण सत्यस्वरूप पवित्र परमेश्वर से मिल नहीं सक्ता. दुसरा कारण तुम्हारे कहने पर वही गरदन हिलावे जो सत्य मार्ग विरहीत आचरण करते हैं. थोडासा मुझे संदेह है, उस कारण कलजुगी आर्यभाई को विनंती करता हूं.

(ईश्वर सर्वसाक्षी) (सर्व जानने वाला) ये अगर आर्यभाई कबूल करते हैं, तो वेद में अग्निपूजा, इन्द्रपूजा इत्यादि विधान न होता केवल ईश्वर स्तुती का विधान उस में होता. तो ईश्वर प्रेरणीत कहेना योग्य था.

वेद चार है ये येक का बनाया हुवा नहीं. अनेक नवे और जुने ब्राह्मणों के बनाये हुवे है. देखो ईश्वर के बनाये हुये शास्त्र का मनुष्यें नाश कर सक्ता. कारण कीं, ईश्वर की आज्ञा खंडन होने का दोष आता है. देखो यजुर्वेद के दो हिस्से हुये एक (शुक्लयजु) (दुसरा कृष्णयजु दोनों एक दुसरे को किलक विरुद्ध है. देखो) जो सर्वज्ञ परमेश्वर उनके मेम अल्पज्ञ मनुष्यानें फेरफार करना यैसे पुस्तकोंको आर्योंने ईश्वरकृत मान्ना ये आश्चर्य का स्वरूप है. (अग्नी) (इन्द्र ये नाम ईश्वर के है यैसे कलयुगी अर्थ कहेतें है उत्तम है. मैं उनसे पुछताहूं आप आर्य भायो ब्रह्म निराकार हि फेर वेदों में उत्तम शराब जीस को सोम कहते थें वह शराब और हावन के कारण जो मांस सिद्ध किया जाता था वह कोनसा इन्द्र और कोनसा अग्नि भक्षण करता था ये नहीं समजता. अगर जीसको तुम (अग्नी) इन्द्र समजते हो व अगर भक्षन करता होगा तो धन्य तुम्हारे ईश्वर की उस को भी शराब सोमनामक, और मांसभक्षन के कारण आया. यैसे तुम्हारे (वेदके) (ईश्वरको) (कलजुगी आर्य) धर्म को नमस्कार पूर्ण ब्रह्म आपने कृपा से ब्राह्मगनोंकों अपरा विद्या से दूर रखिये विनंती करके लेख समाप्त करतां हुं. अपराविद्या कोनसी ये निचे के बचन से स्पष्ट समजने में आयगा.

बचन

अपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो अथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतीषमिति

उत्तर—यह इबारत हम ने ज्यों की त्यों छपा दी है इन की इबारत से सम्पादक की योग्यता और विद्या तो पाठकों को ज्ञात ही हो जायगी। इस में भाषा के ठीक न होने के सिवाय बुद्धिमानों के देखने योग्य कोई युक्ति वा प्रमाण भी प्रबल नहीं है जिस के उत्तर देने का विशेष विचार किया जाय वास्तव में ऐसे निर्मूल लेख का कुछ भी उत्तर नहीं देना चाहिये था तथापि बाबू नवीनचन्द राय जी की आज्ञा का उत्तर भी यहीं होजाय इस लिये लिखता हूं बा० नवीचन्द राय जी का लेख भी इसी अभिप्राय का है पर बुद्धिमत्ता से लिखा है।

"कलियुगी आर्यधर्मदयानन्दकृत" इस लेख पर ध्यान देने से कई प्रकार के सन्देह उत्पन्न होते हैं आर्यधर्म और कलियुगी से क्या सम्बन्ध है अर्थात् ये दोनों पद परस्परविरुद्ध हैं जो आर्यधर्म है वह कलियुगी नहीं और जो कलियुगी है उस को आर्यधर्म नहीं कह सकते क्योंकि कलियुगी शब्द का अभिप्राय अधर्म वा विरुद्ध धर्म है और आर्य नाम उत्तम पुरुषों का जो धर्म वा वैदिकधर्म परायण ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों का जो धर्म वह आर्यधर्म है अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जिन कर्त्तव्यों का धारण करते हैं वे आर्यधर्म हैं तो श्रेष्ठ पुरुषों के जो कर्त्तव्य हैं वे अधर्म वा कलियुगी नहीं जिन के आचरण अधर्म के हों तो वे आर्य नहीं जो आर्यों का धर्म है वह कलियुगी नहीं किन्तु सद्युगी है यदि आर्य शब्द के अर्थ नीच समझते हैं। तो कलियुगी विशेषण लगाना व्यर्थ हुआ आर्य नाम नीचों का धर्म स्वयमेव कलियुगी होगा और आर्यधर्म के साथ कलियुगी विशेषण लगाने का तात्पर्य तो यही हो सकता है कि आर्यधर्म सद्युगी भी होता है उस की निवृत्ति के लिये कलियुगी पद लगाया जावे तो जहां सद्युगी विशेषण होगा वहां अवश्य आर्य शब्द का उत्तमार्थ मानना पड़ैगा फिर यह भी नही कह सकेंगे कि आर्य शब्द का नीच ही अर्थ है इसलिये आर्यधर्म कलियुगी नही हो सकता और दयानन्दकृत द्वितीय विशेषण है यह भी ठीक नहीं जो दयानन्द का किया धर्म होगा उस को दयानन्द धर्म कहेंगे। जिस काम वा वस्तु को करे कोई अन्य और अन्य का धर्म कहलावे यह नही हो सकता कुम्हार के किये काम को कोरी का धर्म कहैं यह कभी नहीं हो सकता इसी प्रकार दयानन्दकृत कर्म वा पदार्थ आर्यधर्म नहीं हो सकता। यदि यह अभिप्राय हो कि आर्य दयानन्द का किया धर्म है तो आर्य दयानन्दकृत धर्म ऐसा लिखना था। सो यह वाक्य किसी प्रकार ठीक नहीं इस वाक्य में अन्य भी सन्देह हो सकते हैं।

परन्तु अब शब्द रचना पर वा किसी महात्मा को बुरा कहने पर कुछ विशेष न लिख कर मुख्य विषय का विचार करना चाहिये ।

हम लोग (आर्य) अनेक प्रमाणों से सिद्ध कर सकते हैं कि वेद ईश्वर की अनादि विद्या है। इस लेख का अभिप्राय यह था कि प्राचीन काल से ऋषि मुनि महात्मा आर्यलोग अनेक प्रमाणों से सिद्ध करते आये हैं कि वेद ईश्वर की अनादि विद्या है उसी के आश्रय से हम भी ऐसा ही सिद्ध कर सकते हैं इस विषय में कई बार प्रसंगानुसार मैंने भी सिद्ध किया है। महाराणी विक्टोरिया का दृष्टान्त केवल इतने ही अंश में दिया था कि किसी देशान्तरस्थ मनुष्य का कोई पदार्थ अन्यत्र मिले और यह सब प्रकार सिद्ध हो जावे कि यह पदार्थ अमुक पुरुष का ही है तो मानना पड़ेगा कि यह वस्तु किसी प्रकार यहां अवश्य आया इसी प्रकार वेद ईश्वर की अनादि विद्या सिद्ध हो जाने पर मनुष्यों में भी उस का आना सिद्ध ही है यद्यपि ईश्वर हम से दूर कहीं देशान्तर में नहीं तथापि इन्द्रियगोचर न होने से इतना परोक्ष है कि देशान्तर के पदार्थ को उस से शीघ्र प्राप्त हो सकते हैं । मैं बुद्धिमान् वा विद्वान् विचारशील सज्जनों से विनय पूर्वक निवेदन करता हूं कि मेरे दृष्टान्त पर ध्यान देवें । दृष्टान्त का सर्वांश दार्ष्टान्त में नहीं घटता न कोई ऐसा दृष्टान्त दिया जाता न कोई दे सकता है । जिन पदार्थों का सर्वांश मिल जायगा उन में उपमान उपमेय भाव कदापि नहीं घटेगा और वे दो पदार्थ भी नहीं माने जावेंगे। क्या मेरे दृष्टान्त में शुद्धि अशुद्धि का दोष आ सक्ता है ? कि "मनुष्य अपवित्र है इस कारण उस का उदाहरण सत्यस्वरूप पवित्र परमेश्वर से मिल नहीं सकता" हम लोग भी परमेश्वर को सत्यस्वरूप और पवित्र ही मानते हैं इस से हमारे दृष्टान्त में कोई दोष नहीं आता दृष्टान्त का अभिप्राय इस से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध कल्पना करना छलवाद कहाता है। जब संसार में ऐसा कोई दृष्टान्त (मिशाल) नहीं जो सर्वांश दार्ष्टान्त में घटे तो क्या दृष्टान्त न देना चाहिये ? । और इस दृष्टान्त दार्ष्टान्त का प्रयोजन ब्राह्मसमाज से कुछ सम्बन्ध भी नहीं रखता । सम्पादक जी ने समझा हम भी खण्डन कर सकते हैं यह इस लेख से ज्ञात हो जाय । यदि शक्ति है तो आर्यसिद्धान्त भाग १ अंक ७ सात में ब्राह्मसमाज के नाम से जो लेख छपा है उस का उत्तर देवें और जो अब लिखा जावे उस का भी उत्तर दें जिस में कुछ बुद्धि को परिश्रम करना पड़े ।

सत्य मार्ग से आप गर्दन हिलाना नहीं चाहते यह विद्वानों का मुख्य कर्त्तव्य है । पर सत्यमार्ग वही है जो आप मानते हैं इस पर भी तो विचार क-

रते पड़ता है। मेरे अनुमान से अभी तक ब्राह्मसमाजी लोग अन्य मतों की अपेक्षा बहुत कम होंगे। यदि यह सत्यमार्ग होता तो इस में प्रायः मनुष्य झुकजाते और ब्राह्मसमाज में नवीन लोग सामिल भी कम होते हैं आज कल सत्य का खोज करने वाले मनुष्य बहुत हैं यदि ब्राह्मों का मत सत्य होता तो सभी सत्य के खोजी अब तक उस को ग्रहण कर लेते। और यह भी ठीक नहीं कि ब्राह्म सब विद्वान् हैं अन्यमतों में सब अज्ञानी हैं जब वे अपने को सत्य मत कहते हैं तो उस सत्यमत को ग्रहण करने वाले अन्य मतावलम्बी सब अज्ञानी सिद्ध हो गये। हम लोग तो सत्य मिथ्या सभी मतों में समझते हैं। और यह भी मानते हैं कि शुद्धान्तःकरण पुरुष होना किसी खास मत का काम नहीं है क्योंकि अन्तःकरण की शुद्धि होना सभी लोग अच्छी मानते हैं और उस का वर्णन भी करते हैं बीच की बनावटी बातों से मत भेद हो जाता है। वेही बीच की बातें सब मतों में असत्य हैं। पर आर्यसमाज पर यह बीच की बनावटी बातों का दोष इसलिये नहीं आसकता कि वह उन्हीं बनावटी परस्पर विरुद्ध मन्तव्यों को छुड़ा कर वेदादिसत्यशास्त्रोक्त सनातन मन्तव्यों का प्रचार कर एक मत करना चाहता है यही आर्यसमाज का मत वा मन्तव्य परम सिद्धान्त है। इस लिये सत्यमत का निश्चय सभी चाहते हैं और कोई ब्राह्म सिद्ध कर दे कि हमारा ही मन्तव्य सत्य है तो बहुत पुरुष उस का ग्रहण शीघ्र ही कर लेवें। वैसे तो अपने २ बेरों को सभी कूंजरी मीठे कहा करती हैं पर ग्राहक कई प्रकार से मीठे खट्टे की परीक्षा कर लेता है।

अब कहते हैं कि "ईश्वर सर्वसाक्षी सब जानने वाला है ऐसा आर्य लोग मानते हैं तो वेद में अग्नि आदि की पूजा न होती केवल ईश्वर की स्तुति प्रार्थना होती" इस का उत्तर यह है कि आर्य लोग सनातन से ईश्वर को सर्वसाक्षी सर्वज्ञ मानते आये और मानते हैं और यह भी मानते हैं कि वेद में अग्नि आदि जड़ वस्तुओं की पूजा वा उपासना नहीं है सो केवल मानते ही नहीं किन्तु निश्चय कर चुके और करा सकते हैं। ब्राह्मपत्रिका सम्पादक आर्यों के मन्तव्य से ठीक २ अभिज्ञ नहीं ज्ञात होते यदि आर्यों का सिद्धान्त ठीक २ सुना वा जाना होता तो ऐसी शंका उन को न होती। यदि स्वामी जी महाराज श्रीमद्दयानन्दसरस्वती जी के निर्मित पुस्तक भी एक बार अच्छे प्रकार पढ़ लेते तो वेद में अग्नि आदि की पूजा का ओरा मालूम हो जाता और ऐसी शंका न रहती अब मैं भी यही कहता हूं कि वेद में अग्नि आदि की पूजा का विधान नहीं है किन्तु पूजा उपासना प्रकरण में अग्नि आदि सब नाम ईश्वर के हैं असंख्य गुण कर्म स्वभाव

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग २ | फाल्गुण संवत् १९४५ | अङ्क १०

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।

ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

गत अङ्क ९ के ४६ पृष्ठ से आगे ब्राह्मसमाज का उत्तर

होने से ईश्वर के अनन्त नाम हैं उन सब से ईश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना होती है अनेक स्थलों में अग्नि आदि नाम भौतिक पदार्थों के भी लिये जाते हैं वहां स्तुति प्रार्थना का अर्थ नहीं होता । यह बात कुछ नवीन कल्पित नहीं कि अग्नि आदि नाम ईश्वर के स्वामी जी ने ही मान लिये हों वा हमी लोग मानते हों किन्तु प्राचीन काल से ऋषि मुनि लोग ऐसा ही मानते आये हैं । देखो व्यासदेवकृत वेदान्त ब्रह्मसूत्र—

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥

प्राणस्तथानुगमात् ॥

इत्यादि सूत्रों में वैश्वानर आकाश और प्राण आदि ब्रह्म के नाम सिद्ध किये हैं । और मनुस्मृति के अध्याय १२ में ॥

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।

इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम् ॥

इस सर्वान्तर्यामी परमात्मा को कोई अग्नि कोई मनु कोई प्रजापति कोई इन्द्र कोई प्राण और कोई सनातन ब्रह्म कहते हैं अर्थात् ये अग्नि आदि सभी नाम परमेश्वर के हैं। और यह असम्भव वा अनुचित भी नहीं कि अग्नि आदि नाम ईश्वर के माने जावें । क्योंकि वेद में अग्नि आदि शब्द सब यौगिक माने

जाते हैं इस में मीमासादि सब शास्त्रकारों का यही सिद्धान्त है। एक शब्द के अनेक अर्थ भी इसी लिये होते हैं कि प्रकरण के अनुसार उस शब्द के अर्थ भिन्न २ हो सकें। एक शब्द का अनेक अर्थ होना सब भाषाओं में होता है। वेद में अग्नि आदि की पूजा का भ्रम तब तक नहीं जाय गा जब तक कोई वेदादि शास्त्रों के ठीक २ पढ़ने जानने में परिश्रम न करे जिस किसी विषय में सन्देह होता है उस के नहीं जानने से ही होता है यदि ठीक २ जानने पर भी सन्देह की निवृत्ति न हो तो जानो उस ने वह विषय तत्त्व से जाना नहीं वा जान लिया तो वास्तव में वह विषय ठीक नहीं, तो भी सन्देह रहना नहीं कहा जाय गा किन्तु उस का बुरा होना निश्चित जानो। सन्देह निवृत्ति का एक उपाय यह भी है कि उस विषय को निष्पक्ष हो कर देखे, देखते समय अपने मत का आग्रह चित्त से छोड़ देवे। और उस विषय के ज्ञाता विद्वानों का सत्संग किया करे तो कुछ काल में सन्देह की निवृत्ति हो जाना सम्भव है। वेद में अग्नि आदि नामों से ईश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना प्रायः आती है लोक में अग्नि आदि शब्दों से भौतिक अर्थ समझने की परिपाटी पड़ी है इस कारण नवीन समझ कर संदेह हो जाता है यदि लोक के समान वेद के भी ठीक २ अर्थ जानने और उस के अभ्यास करने की परिपाटी पड़ी होती तो ऐसा भ्रम कदापि न होता इसी कारण जिन लोगो ने वेद के अर्थ जानने का ठीक २ अभ्यास किया उन को ऐसा भ्रम नहीं होता। अब यदि ब्राह्म लोग इस का निश्चय करना चाहें तो ये भी ऐसा करें और उदाहरण मात्र दो एक मन्त्र ऐसे मुझ को लिख भेजें कि इन २ मन्त्रों के इस २ युक्ति प्रमाण सिद्ध इस प्रकार के अर्थ से अग्नि आदि भूतों की ही पूजा उपासना हो सकती है तो हम उस का भी यथोचित उत्तर देंगे। हम को बड़ा आश्चर्य इस बात का है कि ब्राह्म लोग जड़ पदार्थों की उपासना का दोष वेद में देते हैं सो किसी सिद्धान्त से सम्बन्ध रखता है अर्थात् वेद में जड़ पदार्थों की पूजा कौन मानता है ? आर्यों का सिद्धान्त तो सनातन यही है कि एक चेतन सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही वेदादि शास्त्रों में उपास्य वा पूज्य माना है। और पौराणिक सिद्धान्त भी यह नहीं है कि जड़ की उपासना वेद में है। पौराणिक भी अनेक रूपों में एक चेतन ईश्वर की उपासना मानते हैं। आर्य लोग अनेक नामों से नामार्थानुसार गुण वाले ईश्वर की उपासना मानते हैं। यद्यपि अनेक रूप धारण करने रूप पौराणिक सिद्धान्त को हम लोग यथार्थ नहीं मानते तो भी जब पौराणिक लोगों के विचारानुसार भी वेदादि में जड़ की उपासना नहीं तो ब्राह्म लोगों को ऐसा भ्रम किस कारण हुआ तो यही निश्चय होता है कि सिद्धान्तपक्ष को यथावत् न समझ पाना रूप अविद्या ही इस

अज्ञान का कारण है कि वेद में अग्नि आदि जड़ की पूजा है। इसलिये ब्राह्म लोगों को अत्यन्त उचित है कि इस का आन्दोलन अवश्य करें कि वेद में अग्नि आदि जड़ की उपासना वास्तव में है वा नहीं पर बुद्धि का आग्रह छोड़ दें निष्पक्ष होकर विचार करें कि यह क्या बात है ?। और हमारे इन प्रश्नों का ठीक २ उत्तर देवें।

१-वेद में केवल अग्नि आदि जड़ भूतों की ही उपासना है वा किसी अन्य चेतन देवता ईश्वर की भी ? अथवा जड़ चेतन दोनों की पूजा उपासना है।

२-यदि केवल जड़ अग्नि आदि की उपासना है तो जिन मन्त्र वा प्रकरणों में अग्नि आदि के उत्पादक की स्तुति प्रार्थना है उस का अभिप्राय क्या है ?।

३-यदि जड़ चेतन दोनों की पूजा उपासना है तो इस दो प्रकार के परस्पर भेद का क्या कारण है ? अर्थात् ऐसा विरोध क्योंकर हुआ ?। वास्तव में क्या सिद्धान्त है ?। हम प्रतिज्ञा पूर्वक अपने सत्य अनुभव से निश्चय करते हैं कि वेद का सिद्धान्त बहुत गम्भीर है जिस का सारांश समझ लेना लड़कों का खेल नहीं है। पूर्वकाल में महर्षि लोग इसी वेद को यथावत् जानने पढ़ने के लिये ४८ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम धारण करते थे उस का अभिप्राय अब ब्राह्म लोगों ने बिना ही पढ़े जान लिया ?। यह क्या थोड़ी प्रशंसा है। वेद के सिद्धान्त से वेद में ही जब ठीक २ कार्यकारणरूप जड़ जगत् की उपासना का निषेध कर दिया है तो ब्राह्म लोगों के ऐसे कथन पर कौन विश्वास कर सकता है।

अब आगे लिखते हैं कि वेद चार हैं ये एक किसी के बनाये नहीं नये पुराणों ब्राह्मणों ने बनाये हैं देखो ईश्वर के बनाये शास्त्र का मनुष्य नाश कर सकता है। इत्यादि

इस का उत्तर यह है कि वेद किसी एक के बनाये नहीं तो कितने पुरुषों के और किस २ ने बनाये हैं ?। और यह आप को किस प्रमाण से निश्चय हुआ ? यदि कोई पुष्ट प्रमाण मिला हो तो ऐसे अवसर पर यहां क्यों नहीं उपस्थित किया वह प्रमाण किस दिन के लिये रख छोड़ा है ?। क्या आप वा अन्य कोई सिद्ध कर सकता है कि वेद चार हैं सो एक के बनाये नहीं क्या चार पुस्तकों को कोई एक बना ही नहीं सकता ? हम बहुत उदाहरण दे सकते हैं कि एक मनुष्य अनेक पुस्तक बना सकता है यदि कहो कि वेद चार हैं इस लिये एक के बनाये नहीं यह हमारा अभिप्राय नहीं किन्तु उन की बनावट नवीन है इस से वा उन में ऐसे वाक्य आते हैं कि "अग्निः पूर्वेभिर् ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत"

इस से नये पुराने ब्राह्मणों के बनाये प्रतीत होते हैं उत्तर यह है कि जो कोई थोड़ा भी संस्कृत पढ़ा हो उस से इस वाक्य का अक्षरार्थमात्र पूछा जाय तो स्पष्ट यही कहेगा कि " अग्नि नये पुराने ऋषियों से स्तुति करने योग्य है " यद्यपि तात्पर्य निकालने में विशेष विचार की आवश्यकता है। तथापि इस अक्षरार्थ से यह अभिप्राय कौन बुद्धिमान् निकाल सकता है कि वेद नये पुराणे ब्राह्मणों के बनाये हैं। और न कोई ऐसा अर्थ इस वाक्य से निकाल सकता है यदि कोई अन्य वाक्य वेद में वा किसी आर्ष ग्रन्थ में ऐसे हों कि जिन से स्पष्ट अक्षरार्थ हो कि नये पुराने ब्राह्मणों ने वेद बनाये हैं तो वह लिखना चाहिये या यदि ऐसा कोई प्रमाण अब मिले तो अवश्य लिखें। और उन की बनावट नवीन है तो ईश्वरीय वाक्य की बनावट का उदाहरण देना चाहिये था कि ईश्वरीय-वचन यह है और वह इस २ प्रमाण वा कारण से ठीक बनता है तथा इस २ कारण अन्य नहीं बनता। यदि कहो कि ईश्वरीय वाक्य कोई नहीं तो ब्राह्म लोगों के शुद्धान्तःकरण में जो विषय भासित होता है उस को भी ईश्वरीय न मानो। ईश्वरीय ज्ञान भी जब वाक्याकार होगा तब वाक्य कहावेगा (हम लोग भी वेद को ईश्वर का ज्ञान ही मानते हैं किन्तु ईश्वर ने मुख से उच्चारण किया हो ऐसा नहीं मानते) और वेद नये पुराने ब्राह्मणों के बनाये हैं तो उन का नाम वेदों के साथ परम्परा से प्रसिद्ध क्यों नहीं हुआ कि अमुक २ ब्राह्मण ने वेद बनाये थे यदि कहो कि उन लोगों ने जाल फैलाने (वेद को अनादि मान के) के लिये अपने नाम छिपाये प्रसिद्ध नहीं किये तो ठीक नहीं जो कोई नाम छिपाता है वा अच्छा बुरा काम करके नाम प्रकट नहीं करना चाहता तो और भी शीघ्र नाम प्रसिद्ध हो जाता है। अष्टाध्यायी निरुक्त आदि अनेक ग्रन्थ कर्त्ता ऋषियों ने अपना २ नाम प्रकट नहीं किया न उन २ पुस्तकों में लिखा तो भी उन की कीर्त्ति उन २ पुस्तकों के साथ प्रसिद्ध है। इसी प्रकार बुराई का नाम भी नहीं छिप सकता फिर यदि वेद किन्हीं निज लोगों के बनाये हैं तो उन के साथ उन २ का नाम क्यों नहीं ?।

ईश्वर के बनाये शास्त्र का मनुष्य नाश कर सकता है यह तो बहुत मोटी बात्ती है। विचार का स्थल है कि नाश किस का होता है ?। क्या शब्दार्थ सम्बन्ध रूप वेद का नाश कोई मनुष्य कर सकता है ? वह शब्दार्थसम्बन्धरूप वेद पुस्तकें जो कागज स्याहीरूप हैं उन के नष्ट होने से नष्ट हो जावे ऐसा कोई नहीं मान सकता। ईश्वर के बनाये शास्त्र का मनुष्य नाश कर सकता है यह कहना तब तो बन जाता जो आर्य लोग पुस्तकमात्र को ही वेद मानते। क्या ब्राह्म लोगों को इतना विचार नहीं कि शास्त्र किस वस्तु का नाम है ?। और कोई पुस्तक का नाश भी करे तो पुस्तक ईश्वरकृत कोई मानता नहीं किन्तु जो वाक्यावली उसमें

लिखी है वह वेद है। एक दो दश वीश पचाश पुस्तकों के नष्ट कर देने पर भी फिर कोई पुस्तक ही न रहे यह कहना नहीं बनता कदाचित् कोई पुस्तकों को ऐसा ही नष्ट कर दे कि जगत् में कोई वेद का पुस्तक न रहे तो भी वेद का नाश नहीं हो सकता वेद के ज्ञाता ब्राह्मण लोग ऐसे बहुत हैं जो पहिले से ही वेदों को आद्योपान्त कण्ठस्थ रखते हैं अब ऐसे लोग हैं जो वेद को कण्ठस्थ किये हैं एक २ मात्रा की विचल नहीं पड़ने देते फिर इस दशा में कोई सर्वथा भी पुस्तक नष्ट कर दे तो वेद नष्ट नहीं हो सकते। और पुस्तक सभी किसी मनुष्य के लिखे वा छापे होंगे उन को नष्ट कर देने से मनुष्य की क्रिया का नाश होगा ईश्वर ने पुस्तक नहीं बनाये। ईश्वर ने शब्दार्थ सम्बन्धरूप वाक्यावली का उपदेश मनुष्यों को किया है वह वाक्यावली किसी के जलाने डुबाने काटने आदि से कभी नष्ट होई नहीं सकती तो "ईश्वर के बनाये शास्त्र का मनुष्य नाश कर सकता है" यह कहना बुद्धिमानों में उपहास कराना है। ऐसी शंका विचारशीलों को नहीं होती। यदि ईश्वर के बनाये शास्त्र से ईश्वर की आज्ञा समझो तो ईश्वर की आज्ञा का खण्डन मनुष्य नहीं कर सकता उस के नियम ऐसे हैं जिन में हेर फेर करने का सामर्थ्य किसी का नहीं कोई दिन को रात नहीं कर सकता न रात को दिन बना सकता है। ईश्वर ने वेद द्वारा आज्ञा दी कि ऐसा करना चाहिये उस का यह फल है इस से विरुद्ध करने से उलटा दुःखरूप फल मिलेगा उस में से उलटा वा सीधा जैसा जो करता है वैसा फल होगा तो ईश्वर की आज्ञा के अनुकूल हुआ। खण्डन तब होता जो उलटा कर्म करने पर भी उस के नियम को तोड़ के अच्छा सीधा फल मिल जाता सो ऐसा कभी होना सम्भव नहीं कि जो कानून से विरुद्ध चले और कानून में नियत दण्ड का भागी नहीं हो। कदाचित् कहीं किसी को ऐसा ही निश्चित हो कि कानून से विरुद्ध करने पर भी किसी को अच्छा फल हो जावे तो वह समझ ने वाले का ही दोष होगा उस ने विरुद्ध नहीं किया होगा क्योंकि विष के भक्षण से अमृत का फल होना न्याय सिद्ध नहीं यदि किसी अवसर पर विष ही अमृत और अमृत विष हो जावे जैसे इष्ट भी अनिष्ट और अनिष्ट इष्ट हो जाता है तो उस अवसर में जब कि विष अमृत हो जायगा तब उस को विष नहीं कह सकते किन्तु विष और अमृत का यही लक्षण है कि जिस का दुःख फल हो वह विष और जिस का सुख फल है वह अमृत है। तो उलटा कुछ नहीं होता सब संसार ईश्वरीय नियमानुसार ही कर्म करता और फल भोगता है ईश्वर की आज्ञा का खण्डन कोई नहीं कर सकता। यजुर्वेद के दो हिस्से हुए एक कृष्ण और दूसरा शुक्ल इस का उत्तर यह है कि हिस्से वा भाग होने मात्र से तो कोई दोष नहीं आसकता ,क्योंकि वेदशब्द का वाच्यार्थ

एक ही है उस के प्रयोजन भेद से चार भेद कर लिये ऋग् यजुः साम अथर्व फिर एक २ में अवान्तर भेद अष्टक अध्याय वर्ग मन्त्र पाद वाक्य पद अक्षर मात्रा आदि अनेक हैं इस भेद से कोई दोष नहीं पर जिस को शुक्ल यजुर्वेद बोलते हैं वही वास्तव में मूल यजुर्वेद है वही ईश्वरीय है यह आर्यसिद्धान्त के प्रथम भाग के तृतीयाङ्क में अच्छे प्रकार सिद्ध कर दिया है। अब रहा कृष्ण यजुर्वेद सो तैत्तिरीय शाखा का नाम है नाम रखने वाले को अधिकार है अपने वस्तु का नाम जो चाहे रख ले अपने पुत्र का नाम कोई लाट रक्खे तो कौन रोकता है पर वास्तव में तैत्तिरीयशाखा यजुर्वेद का भाग नहीं है हां ब्राह्मणादि के समान यजुर्वेद का आर्ष व्याख्यान है शाखाशब्द के कहने से ही वह मूल नहीं यह सिद्ध होगया ॥

पौराणिक लोग कृष्ण शुक्ल यजु के विषय में ऐसी आख्यायिका कहते हैं कि व्यास जी के शिष्य जो वैशम्पायन ऋषि थे वे अपने शिष्यो से किसी कारण क्रुद्ध हो गये और याज्ञवल्क्यादि अपने शिष्यों से कहा कि तुम को हम ने जो वेद पढ़ाया है सो लौटा दो तब याज्ञवल्क्यादि जो वैशम्पायन के शिष्य थे उन्होंने वेदों के मन्त्र उगल दिये अर्थात् जैसे कोई खाये हुये भोजन का वमन कर देता है वैसे वमन कर दिया तब जो अन्य शिष्य आज्ञाकारी थे उन को वैशम्पायन ने आज्ञा दी कि तुम इस वमन किये वेद को उठा कर खा जाओ उन शिष्यों ने तीतर पक्षि का रूप धारण कर उस वान्त वेद को चरलिया फिर पुस्तकादि द्वारा प्रकट किये। वमन हो जाने से उन में दोष लग गया इस से उन का कृष्णयजु नाम पड़ा अर्थात् मलीन यजुर्वेद यह तात्पर्य कहते हैं। और याज्ञवल्क्यने फिर कुछ काल तक सूर्य की उपासना की तब उन को सूर्य के वरदान से जो वेद प्राप्त हुआ उस की शुक्लयजुः संज्ञा पड़ी। सो यह आख्यायिका शुक्ल यजुर्वेद के महीधर कृतभाष्य की भूमिका में भी लिखी है। परन्तु इस आख्यायिका को हम लोग ऊट पटांग समझते हैं क्योकि जब गुरु वैशम्पायन अपने शिष्यों पर अप्रसन्न हो गये तब शिष्यों ने सेवा शुश्रूषा प्रार्थनादि से अपना अपराध क्षमा क्यों न कराया? ऐसा करते तो धर्मानुकूल होता अर्थात् ऐसा न करना अधर्म है कदाचित् किसी प्रकार गुरु अपराध क्षमा न करे तो पढ़ाई हुई विद्या कभी नहीं लौटा सकता विद्या कोई अन्न जल नहीं था जिस का वमन हो सकता और दूसरे शिष्य तीतर बन के चर लेते यह एक असम्भव और हंसी की वार्त्ता है। और यह भी धर्मशास्त्र से विरुद्ध है कि गुरु का अपमान और शिष्य की प्रतिष्ठा हो गुरुजी का पढ़ाया वेद वान्त रूप होने से मलीन कृष्ण हो गया और शिष्य ने पुनः प्राप्त किया वेद उत्तम प्रशंसा योग्य रहा इस से गुरु का अपमान और शिष्य का महत्त्व भी झलकता है। हम

लोग इस कहानी को सर्वथा कल्पित समझते हैं अनुमान होता है कि किसी वेद के विरोधीने कल्पना की है। सब आर्षग्रन्थों का एकमत है कि वेद सृष्टि के आरम्भ से ज्यों के त्यों चले आते हैं और विद्या वह वस्तु है जो कभी दूषित नहीं हो सकती। यद्यपि हम लोग इस आख्यायिका को ठीक नहीं मानते परन्तु इस अंश में पौराणिकों का यहां भी यही आशय है कि वाजसनेयी संहिता शुक्ल यजुर्वेद मूल और मुख्य यजुर्वेद है यह सब मानते हैं सो हमारे अनुकूल है और हम कृष्ण शुक्ल भेद पर विशेष विचार इस लिये नहीं बढ़ाते कि मुख्य विषय में जो विचार करना है उस में हानि होती है।

अब आगे लिखते हैं कि जब इन्द्र अग्नि आदि नामों से निराकार ईश्वर की पूजा आर्य लोग वेद में मानते हैं तो जिस के लिये उत्तम शराब (सोम) और मांस सिद्ध किया जाता था वह कौनसा अग्नि और कौनसा इन्द्र था।

इस का उत्तर यह है कि मांस और मद्य यज्ञ में चढ़ता ही नहीं यह केवल भ्रम है मांस यज्ञ में चढ़ाने का विधान ही नहीं इस के विषय में आर्यसिद्धान्त में पहिले अङ्कों में बहुत लेख लिखा गया है उस का अभिप्राय केवल यही है कि वेद और धर्मशास्त्रों में अहिंसा को परमधर्म माना है। और यज्ञ में पशु मार कर होम करना चाहिये ऐसा किसी महर्षि ने नहीं लिखा किन्तु यज्ञ में भी हिंसा का निषेध ही किया है। सो महाभारत के शान्तिपर्व अ० २७२ में लिखा है–

तस्य तेनानुभावेन मृगहिंसात्मनस्तदा।
तपोमहत्समुच्छिन्नं तस्माद्धिंसा न यज्ञिया॥
अहिंसा सकलो धर्मो हिंसाऽधर्मस्तथाविधः।
सत्यन्तेऽहं प्रवक्ष्यामि यो धर्मः सत्यवादिनाम्॥

यहां पूर्व से प्रसंग यह है कि राजा युधिष्ठिर जी ने भीष्मपितामह जी से प्रश्न किया है कि धर्मार्थ और सुखार्थ यज्ञ कौन और कैसा होता है इस के उत्तर में एक तपस्वी ब्राह्मण और ब्राह्मणी का इतिहास लिखा है कि वे तप करते २ यज्ञ करने को उद्यत हुए उन्हों ने अपने सुने जाने के अनुसार विचार किया कि–होमार्थ–यज्ञ में चढ़ाने के विचार से उस तपस्वी ब्राह्मण ने बन के मृग को मारना चाहा इस कारण उस का बड़ा तप खण्डित हो गया इस कारण हिंसा यज्ञिया अर्थात् यज्ञ कर्म के योग्य नहीं यज्ञ में हिंसा नहीं करनी चाहिये॥ क्योंकि सम्पूर्ण धर्म अहिंसा और हिंसा करना जानो सब अधर्मों का आचरण करना है।

यह मैं तुम से सत्य कहता हूं कि सत्यवादियों का परम धर्म अहिंसा ही है। इसी प्रकार "सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत्" धर्मात्मा मनु महाराज ने सब कर्मों अर्थात् कर्त्तव्य यज्ञादि कर्मों में भी अहिंसा को ही परम धर्म माना है। इस प्रकार के अनेक वचन महाभारतादि ग्रन्थों में मिलते हैं कोई शंका करे कि महाभारत के लेख से भी प्रतीत होता है कि पहिले भी लोग हिंसा करते थे तो हम इस बात का नियम नहीं कर सकते कि पहिले कोई मनुष्य अधर्मी नहीं होता था और ऐसा होना किसी काल में सम्भव भी नहीं कि जब कोई अधर्मी रहे ही नहीं। जब धर्मात्माओं का बल बढ़ जाता है तब धर्म की प्रवृत्ति समझी जाती है पहिले भी जो कोई जितना अधर्म करता था उस का यथोचित फल उस को अवश्य मिलता था। इस लिये हमारा कथन यही है कि यज्ञ में भी हिंसा करने को अधर्म माना है इसी लिये तपस्वी ब्राह्मण के तप में विघ्न हो गया। इस लिये हिंसा अर्थात् यज्ञादि किसी अच्छे कर्म में किसी पशु पक्षी आदि जीव को कदापि न मारना चाहिये। एकस्थल में महाभारत में यह भी लिखा है कि यज्ञादि वैदिक कर्मों में जो हिंसा करते हैं यह राक्षसी कर्म दुष्ट लोगों ने वेद के नाम से प्रवृत्त किया है इस दुष्ट कर्म को जो करेगा वह पापी अवश्य होगा। यह कर्म वेदोक्त कदापि नहीं हो सकता।

कोई कहे कि यज्ञ में पशु आदि जीवों की हिंसा क्योंकर प्रवृत्त हुई क्यों उस का निषेध करने पड़ा। इस का उत्तर यही है कि जैसे अन्य अधर्म सम्बन्धी कर्मों की प्रवृत्ति लोभ मोह द्वेष के वश हो कर मनुष्यों ने की वैसे इस को भी कर दिया। इस में एक कारण अज्ञान का यह भी प्रतीत होता है कि यज्ञ के साथ वेदादि शास्त्रों में पशुओं का नाम सब जगह आता है इस का प्रयोजन यह है कि पशुओं के बिना यज्ञ हो ही नहीं सकता यज्ञ का बड़ा भारी साधन घृत है सो गौ आदि पशुओं के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता और जैसे उत्तम घृतादि पदार्थ होंगे वैसा ही उत्तम यज्ञ हो सकेगा। तथा गोबर से लीपना आदि अनेक प्रयोजनों से यज्ञशाला में गौ आदि पशुओं को रखने उन की यथोचित पदार्थों से रक्षा कर घृतादि हों उन का यज्ञ हो इस से यज्ञ के साथ पशुओं का वर्णन है इस को मांस भक्षण लोभियों ने अज्ञान और लालच से यही समझ लिया हो कि यज्ञ के साथ पशुओं का वर्णन यज्ञ में चढ़ाने के लिये ही होगा इस के अनुसार बहुतों ने किया भी होगा वैसा फल भोगेंगे। क्योंकि

"यादृशी भावना यस्य बुद्धिर्भवति तादृशी"

जैसी जिन की भावना होती है उन को सर्वत्र वही दीख पड़ता है चोर सब को अपना साही देखता है। अथवा किसी ने समझ भी लिया कि यज्ञ के साथ पशुओं के वर्णन का यही प्रयोजन है कि उत्तम घृतादि सम्पन्न कर होम करें तो लोभवश होकर वैसा करना प्रारम्भ किया। अन्य भी कारण हो सकते हैं पर आगे अन्य विचार करना है।

अब रहा सोम नामक मद्य का विचार सो यदि ब्राह्म लोग विचार करते वा किसी पण्डित से पूछ लेते कि संस्कृत के कोष और व्याकरण के अनुसार सोम शब्द कहीं मद्य का नाम है वा नहीं तो इतना भ्रम नहीं होता जब नहीं है तो अविद्यारूप घोड़ी पर सवार हो जहां चाहे फिरो। अविद्या बड़ी प्रबल है जो सब को भ्रमजाल में डाल के नाच नचा रही है यदि होता तो कहीं दिखाते कि अमुक कोष वा व्याकरण से सोम शब्द मद्य का वाचक है। सोम शब्द किसी प्रमाण से मद्य का वाचक नहीं होता। व्याकरणानुसार सोम शब्द के दो अर्थ होते हैं—

"सुवति प्रेरयति प्रसादयति मनइति सोमश्चन्द्रमाः,
यद्वा सूयतेऽभिषूयते पानाद्यर्थं यज्ञार्थं वेति सोमलतौषधिः"

जो मन को प्रेरणा दे अर्थात् प्रसन्न करे वह सोम चन्द्रमा और जिस का रस पीने आदि वा यज्ञ में चढ़ाने को यन्त्रद्वारा खींचा जाय वह सोमलता ओषधि कहाती है। द्वितीय अर्थ यह भी करते हैं कि—

"उमा ब्रह्मविद्याइति तैत्तिरीयोपनिषदि प्र० १० खं० ४८"
"तयोमया ब्रह्मविद्यया सह वर्त्तते स सोमो मुमुक्षुर्ज्ञानी"

तैत्तिरीय उपनिषद् में उमा नाम ब्रह्मविद्या का है उस के साथ जो वर्त्तमान हो वह सोम मुमुक्षु वा ज्ञानी पुरुष कहाता है और मेदिनीकोष में—

सोमस्तु हिमदीधितौ
वानरे च कुबेरे च पितृदेवे समीरणे।
वसुप्रभेदे कर्पूरे नीरे सोमलतौषधौ॥

चन्द्रमा, बन्दर, धनाध्यक्ष, पितृ, वायु, आठ वसुओं में एक भेद, कपूर, जल, और सोमलता का नाम सोम है। इन में मद्य का कहीं नाम निशान तक नहीं अमरकोष में भी इस से अधिक कुछ नहीं फिर किस प्रमाण से सोम नामक मदिरा ब्राह्म भाई ने समझ लिया क्या भेड़ चाल पर चलके ही शास्त्रीय गम्भीर

विषयों का खण्डन कोई कर सकता है? क्या वेद का विचार वा सिद्धान्त विना पढ़े लिखे खण्डन कर देना लड़कों का खेल समझ लिया है? । हम लोग इस बात को अवश्य मानते हैं कि संसार में जितनी ओषधियां उत्तम २ हैं उन सब से उत्तम सोमौषधि है इस कारण उस का रस निकाल कर किसी २ यज्ञ में विधान अवश्य है उस यज्ञ को सोमयाग बोलते हैं उस में सोमौषधि का रस (सार) यन्त्रद्वारा निकाल कर घृतादि के साथ मिला कर प्रधान होम उसी का होता है उस की विधि विशेष श्रौत सूत्रों में मिल सकती है और यज्ञ का शेष उच्छिष्ट खाने पीने को भी कहा ही है । इसलिये सोमयज्ञ में सोम का विधान है यन्त्रद्वारा खींचने से किसी ने अज्ञान से मद्य मान लिया हो सो उस की अविद्या है । सुश्रुत में सोमौषधि की बड़ी प्रशंसा है । तद्यथा—

अंशुमान् मुञ्जवांश्चैव चन्द्रमा रजतप्रभः ।
दूर्वासोमः कनीयांश्च श्वेताक्षः कनकप्रभः ॥१॥
प्रतानवांस्तालवृन्तः करवीरोंऽशवानपि ।
स्वयंप्रभो महासोमो यश्चापि गरुडाहृतः ॥२॥
गायत्रस्त्रैष्टुभः पाङ्क्तो जागतः शाक्वरस्तथा ।
अग्निष्टोमो रैवतश्च यथोक्त इति सञ्ज्ञितः ॥३॥
गायत्र्या त्रिपदा युक्तो यश्चोडुपतिरुच्यते ।
एते सोमाः समाख्याता वेदोक्तैर्नामभिः शुभैः ॥४॥

अंशुमान्, मुञ्जवान्, चन्द्रमाः, रजतप्रभः, दूर्वासोमः, कनीयान्, श्वेताक्ष; कनकप्रभः, प्रतानवान्, तालवृन्तः, करवीरः, अंशवान्, स्वयंप्रभः, महासोमः, गरुडाहृतः, गायत्रः, त्रैष्टुभः, पाङ्क्तः, जागतः, शाक्वरः, अग्निष्टोमः, रैवतः, यथोक्तः, उडुपतिः, ये चौवीश नाम वाली चौवीश प्रकार की सोम नामक महौषधि कहाती हैं। इन अंशुमान् आदि नामों से जो २ अर्थ निकलता है उस से इन के स्वरूप का बोध हो सकता है जैसे अंशु—किरणों के समान चिलकता हो वह अंशुमान् । चांदी के तुल्य रङ्ग वाला रजतप्रभ दूब के तुल्य आकृति वाला दूर्वासोम इत्यादि और कई क विशेष लक्षण आगे लिखे भी हैं। पहाड़ों में चिलकने वाली ओषधियां प्रायः रात्रि में अपनी शोभासहित दीखती हैं दिन में उन का तेज सूर्य के तेज से तिरोभूत हो (दब) जाता है ॥

सर्वेषामेव चैतेषामेको विधिरुपासने ।
सर्वे तुल्यगुणाश्चैव विधानं तेषु वक्ष्यते ॥ ५ ॥

इन सब सोमों के सेवन में एक ही विधि है अर्थात् एक के सेवन का जो विधि लिखें उसी प्रकार सब का सेवन हो सकता है इस के आगे सोम सेवन की विधि और उस का फल बहुत विस्तार पूर्वक लिखा है उस को यहां प्रसङ्ग न होने और व्याख्यान के अत्यन्त बढ़ जाने के भय से नहीं लिखते ॥ तथा

सर्वेषामेव सोमानां पत्राणि दश पञ्च च ।
तानि शुक्ले च कृष्णे च जायन्ते निपतन्ति च ॥६॥
एकैकं जायते पत्रं सोमस्याहरहस्तदा ।
शुक्लस्य पौर्णमास्यां तु भवेत्पञ्चदशच्छदः ॥७॥
शीर्यते पत्रमेकैकं दिवसे दिवसे पुनः ॥
कृष्णपक्षक्षये चापि लता भवति केवला ॥८॥

सब प्रकार की सोमलताओं में पन्द्रह पत्ते होते हैं वे शुक्ल पक्ष में क्रम २ से उत्पन्न होते और कृष्णपक्ष में एक २ करके क्रम २ से गिर जाते हैं अर्थात् ॥६॥ शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को एक द्वितीया को दो प्रतिदिन एक २ बढ़ के पौर्णमासी को १५ पन्द्रह पत्ते हो जाते हैं ॥ ७ ॥ और कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से एक २ पत्ता गिरने लगता है अमावास्या को केवल लता रह जाती है इस की विशेष पहचान के लक्षण लिखते हैं–

अंशुमानाज्यगन्धस्तु कन्दवान् रजतप्रभः ।
कदल्याकारकन्दस्तु भुञ्जवाँल्लशुनच्छदः ॥९॥
चन्द्रमाः कनकाभासो जले चरति सर्वदा ।
गरुडाहृतनामा च श्वेताक्षश्चापि पाण्डुरौ ॥१०॥
सर्पनिर्मोकसदृशौ तौ वृक्षाग्रावलम्बिनौ ।
तथाऽन्यैर्मण्डलैश्चित्रैश्चित्रिता इव भान्ति ते ॥११ ॥
सर्व एव तु विज्ञेयाः सोमाः पंचदशच्छदाः ।
क्षीरकन्दलतावन्तः पत्रैर्नानाविधैः स्मृताः ॥१२॥

अंशुमान् नामक सोम घृत के समान गन्ध वाला होता रजतप्रभ सोम कन्द वाला उस की जड़ में कन्द होता, भुञ्जवान् सोम का कदली (केला) के समान

कन्द और लशुन (लहसन) के जैसे पत्ते होते हैं ॥९॥ चन्द्रमा नामक सोम की सुवर्ण के तुल्य कान्ति (वर्ण) होता और सदा जल में रहता है। गरुडाहृत और श्वेताक्ष नामक सोम श्वेतता और पीलाई लिये होता है अर्थात् ये दोनों सर्प की कैंचुली के समान वर्ण और वृक्ष की जड़ों में उत्पन्न होते हैं। तथा अन्य प्रकार की आकृति बनावटों से चित्र विचित्र किये जैसे शोभित होते हैं। पन्द्रह पत्ते वाले सब सोम क्षीर (दूध) कन्द और लता वाले नाना प्रकार के पत्तों से युक्त होते हैं। अर्थात् कोई कन्द कोई दूध वा कोई लता वाले हैं ॥ १२ ॥ अब उन के देश लिखते हैं कि किस २ स्थल में कौन २ होता है—

हिमवत्यर्बुदे सह्ये महेन्द्रमलये तथा ।
श्रीपर्वते देवगिरौ गिरौ देवसहे तथा ॥१३॥
पारिपात्रे च विन्ध्ये च देवसुन्दे ह्रदे तथा ।
उत्तरेण वितस्तायाः प्रवृद्धा ये महीधराः ॥१४॥
पंच तेषामधो मध्ये सिन्धुनामा महानदः ।
हठवत् प्लवते तत्र चन्द्रमाः सोमसत्तमः ॥१५॥
तस्योद्देशेषु वाप्यस्ति भुञ्जवानंशुमानपि ।
काश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम् ॥१६॥
गायत्रस्त्रैष्टुभः पाङ्क्तो जागतः शाक्वरस्तथा ।
अत्र सन्त्यपरेचापि सोमाः सोमसमप्रभाः ॥१७॥
न तान् पश्यन्त्यधर्मिष्ठाः कृतघ्नाश्चापि मानवाः ।
भेषजद्वेषिणश्चापि ब्राह्मणद्वेषिणस्तथा ॥ १८ ॥

हिमालय, मलयागिरि, श्रीपर्वत, देवगिरि, देवसह, पारिपात्रक, विन्ध्याचल, देवसुन्दर तथा बड़े २ पर्वतों में जो तालाब हैं इन में प्रायः सोम होते हैं। वितस्ता नामक नदी से उत्तर को जो बड़े २ पांच पहाड़ हैं उन के नीचे और बीच में सिन्धु नामी जो बड़ा नद है वहां सर्वोत्तम चन्द्रमा नामक सोम हठ कर के जैसे कोई हो वैसे जल पर तरता है। उसी सिन्धु नदी के इधर उधर भुञ्जवान् और अंशुमान् सोम भी होते हैं।

कश्मीर प्रान्त में जो क्षुद्रकमानसनामक तालाब है उस में गायत्र त्रैष्टुभ पाङ्क्त, जागत, शाक्वर होते हैं तथा उस स्थल में अन्य सोम भी होते हैं। तथा

उस २ प्रान्त में सोम के तुल्य गुण वाली अन्य ओषधियां भी होती हैं । और इन सोम ओषधियों को अधर्मी लोग नहीं देखते और कृतघ्न, ओषधियों के द्वेषी तथा ब्राह्मणों के द्वेषी जनों को भी नहीं दीखतीं । कारण यह कि अधर्मी लोगों को सुख का मार्ग दीख पड़े और उस के अनुसार वर्त्ताव करें तो अधर्मी क्यों कहावें जैसे अन्यधर्म सम्बन्धी सुख के मार्ग में उन की बुद्धि नहीं चलती वैसे इस सुख के मार्ग को भी नहीं जान पाते उन को ईश्वर की व्यवस्था से अधर्म का फल दुःख मिलना नियत है । कृतघ्न आदि अधर्मी के भेद हैं । ये सब श्लोक सुश्रुत के चिकित्सा स्थान के रसायन प्रकरण में हैं । इस रसायन प्रकरण में अमृत नामक उत्तमोत्तम ओषधियों का नियमपूर्वक अनुष्ठान सेवनविधि (कल्प) जप तप धर्मानुष्ठान और योगाभ्यास लिखा है कि जिस से बल बुद्धि पराक्रम शरीर की अद्भुत आकृति बढ़ सकती है और आयु बहुत कुछ बढ़ जाती है क्योंकि सोम सेवन की विधि यथावत् करने से शरीर का पुराणा भाग सब क्षीण हो कर नवीन दांत नख त्वचा केश आदि वा सब साररूप अवयव दृढ़ और कान्तियुक्त दिव्य उत्पन्न हो जाते हैं जिस से सब इन्द्रिय और शरीर दृढ़ दिव्य हो जाता है इस से अवस्था बहुत बढ़ सकती है । इस प्रकरण में सुश्रुतकार ने सोम के सेवन की विधि बहुत अच्छे प्रकार लिखी है परन्तु कठिनता अधिक है सो उचित भी है क्योंकि बड़े २ कार्यों को सिद्ध करने के लिये वैसा ही परिश्रम और क्लेश उठाना पड़ता है पर फल भी बहुत अधिक लिखा है जिस में कुछ अत्युक्ति आज कल के विचारानुसार जान सकते हैं सोम सेवन की विधि वन में एक त्रिवृत् स्थान बना कर उस में लिखी है वहां आचरण भोजन सेवन सोने जागने के अनेक नियम हैं । इस विधि को सब कोई नहीं कर सकता उन लोगों के लक्षण लिखे हैं कि ऐसे २ जिन के चित्त आकृतिअवस्था गुण कर्मस्वभाव हों वे मनुष्य उस के अधिकारी हैं । वेद में मनुष्य की अवस्था "जीवेम शरदः शतम्" इत्यादि मन्त्रों में सामान्य कर सौ वर्ष की रक्खी है पर "भूयश्च शरदः शतात्" से विशेष दशाओं में सौ से ऊपर भी होने वा हो सकने है उस की अवधि नहीं की कि सौ वर्ष से ऊपर कहां तक अवस्था बढ़ सकती है इतिहासादि ग्रन्थों में ऋषियों की अवस्था अत्यन्त बढ़ा कर लिखी है कहीं कुछ कहीं कुछ अनेक भेद हैं पर सुश्रुतकार ने इस रसायन प्रकरण में दश हजार वर्ष तक की आयु होना लिखा है यह कहां तक सत्य है कितनी इस में अत्युक्ति है इस की विवेचना विशेष आन्दोलन की अपेक्षा इस लिये रखती है कि वैसा कोई अधिकारी पुरुष हो उस को खोजने आदि परिश्रम से सोम मिले और वह यथावत् अनुष्ठान करे उस पर ज्ञात हो सकता है कि कहां तक सत्य निकले क्योंकि एक कार्य के अनुष्ठान

पर उस का फल निर्भर है इस कारण इस अंश पर विशेष सम्मति देना उचित नहीं समझ पड़ता तथापि इतनी सम्मति अवश्य दे सकते हैं कि उस में अत्युक्ति भले ही हो पर यथावत् अनुष्ठान कर लेने और सब साधन ठीक २ मिल जाने से तीनसौ चारसौ वर्ष तक की आयु तो अवश्य ही हो सकती है। इस प्रसंग में व्याख्यान दूसरी ओर को चल गया आज कल लोक में जिस को रसायन समझते हैं वैसी रसायन यह नहीं है अर्थात् यह अधिकांश में सम्भव है वह आधुनिक रसायन प्रायः बनावटी असम्भव होती है। अब प्रसंग में यह है कि ब्राह्म भाई ने सोमनामक मद्य का सेवन वा इन्द्र और अग्नि के नाम से यज्ञ में देना लिखा था सो दिखा दिया गया कि सोम शब्द मद्य का वाचक किसी व्याकरण वा कोष के अनुसार नहीं सोम का वर्णन वा प्रशंसा वेद में अधिक आती है यज्ञ में उस का बड़ा उपयोग माना है इस का कारण यही है कि सोम एक अमृत ओषधि है इस का नाम ओषधिराज भी इसी लिये है कि इस से बढ़ के संसार में अन्य ओषधि नहीं है। और सब वेदादि शास्त्रकारों का सिद्धान्त है कि सर्वोत्तम पुष्टि आदि गुणयुक्त पदार्थ यज्ञ में चढ़ाने चाहिये इस कारण सोम का यज्ञ में उपयोग लिखा है। इस को बताने के अर्थ हम ने यहां का व्याख्यान लिखा ॥

अब परा अपरा विद्या के विषय में लिखने से पूर्व आर्य भाईयों को यह और प्रकट कर दूं कि ब्राह्म शब्द का क्या अर्थ है ये लोग अपने को ब्रह्म का उपासक कहते हैं जिस ब्रह्म शब्द से ब्राह्मण शब्द बनता उसी से ब्राह्म बनता है ॥ ब्राह्मोऽजातौ ॥ अ० ६। ४। १७१। इस सूत्र से अजाति में ब्राह्म शब्द निपातन किया है "ब्रह्मणोऽपत्यं जातिश्चेद् ब्राह्मणः। जाति बाह्यः कश्चेद् ब्राह्मः" पाणिनि ऋषि व्याकरण कर्त्ता ने जाति में ब्राह्मण और जाति से पृथक् ब्राह्म होता ऐसा माना है सो यह इन का अन्वर्थ नाम है अर्थात् ये लोग भी ऐसा ही मानते हैं भोजनादि का देशीय व्यवहार तोड़ना यज्ञोपवीत को तोड़ तुड़वा डालना जाति पांति के विचार को उठा देना होटलों तक में खाना इन को प्रसन्न है अपने पुरुषा जिन के ये सन्तान हैं उन की निन्दा करना इत्यादि काम इन को प्रसन्न हैं अर्थात् जाति पांति के व्यवहारों को तोड़ने में इन को अभीष्ट सिद्धि है इस लिये ये स्वयं जाति व्यवहार से पृथक् होते तथा अन्य लोग भी इन को पृथक् समझते हैं इस लिये इन का ब्राह्म नाम सार्थक है ॥

इस प्रसंग में हमारा आशय यह नहीं है कि उन को चिढ़ाने के अर्थ ऐसा लिखा हो किन्तु ब्राह्म शब्द संस्कृत वाणी का है उस का अर्थ दिखाया है। इस का भीतरी आशय यही मालूम होता है कि ब्राह्मण शब्द से कई कारण घृणा

कर यह नाम रक्खा हो पर दोष इस में भी आया। यदि कहैं कि "ब्रह्म इमे उपासका ब्राह्माः" । तो यही अर्थ ब्राह्मण का भी है। यदि कहैं कि आज कल अनेक मूर्ख अधर्मी जन भी ब्राह्मण कहाते हैं तो ब्राह्म लोगों में क्या जितने शामिल हुए सब उपासक हैं ? जैसे शिव आदि एक २ ईश्वर के नाम से शैवादि मत चले वैसे ही एक ब्राह्म भी हैं पर इन की अपेक्षा शैवादि में आस्तिकपन अधिक है ये लोग वेद को नहीं मानते इत्यादि अनेक भेद है ॥

प्रेरितम्

प्रश्नमालिका का उत्तर ॥

"ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां प्रश्नमालिका पण्डित शिवचन्द (जैनी मालूम होते हैं) इन्द्रप्रस्थनिवासीकृत आर्य्यसमाजस्य महाशयानां प्रति" यह एक पुस्तक है इस का उत्तर—

यद्यपि प्रश्नकर्त्ता महाशय का विशेष बल संस्कृत के पाण्डित्य पर नहीं प्रतीत होता तथापि वेदविषयक गूढ़ अभिप्राय को यथार्थता से जानने पर ही उस में किसी प्रकार की तर्कना करनी सम्भव है हां हम (आर्य लोग) बल के साथ यह भी नहीं कह सक्ते कि जो संस्कृत न जाने वह धर्मविषयक किसी अभिप्राय को समझ ही नहीं सक्ता—किन्तु "आर्य्यसमाजस्य महाशयानां प्रति" इस वाक्य के स्थान में यदि "आर्यसमाजस्य महाशयों के प्रति" ऐसी भाषा लिखी होती तो इस विषय में कुछ लिखने की आवश्यकता न होती परन्तु उक्त संस्कृत लेख देखने से प्रश्नकर्त्ता महाशय का कुछ व्याकरण में पादारोपण करने का भी साहस प्रतीत होता है इस कारण मैं केवल एतावन्मात्र ही निवेदन करता हूं कि यद्यपि यह वाक्य पूर्णतया संस्कृतवाक्य कहने योग्य नहीं तथापि यथाकथञ्चित् इस टूटे फूटे पदविन्यास में इतना तो अवश्य ही कर्त्तव्य था कि "आर्य्यसमाजस्य (वा सामाजिक) महाशयान् प्रति" क्योंकि प्रति के योग में कदापि षष्ठी का प्रयोग नहीं होता परन्तु हां मैं भूल गया था पं० शिवचन्द्र जी ने भाषाभास्कर में "का—के—की षष्ठी" ऐसा पढ़ा होगा उस ही के अनुसार संस्कृत बनाने में "शब्दरूपावल्यादि" के आश्रय से—के—का अनुवाद—नाम्—यह षष्ठी विभक्ति लिखी है अस्तु अब मैं प्रकरण का अनुसरण करता हूं यों तो पाण्डित्यता चातुर्य्यता आदि बहुत पद चिन्त्य हैं—

१ प्रश्न—वेद का कर्त्ता कौन है यदि ईश्वर है तो देखिये पृष्ठ ४ के मन्त्र में कि वो दूसरा ईश्वर कौन है जिस को वेदकर्त्ता नमस्कार कर प्रार्थना करता है या वो अपने ताईं आप ही नमस्कार करता है— .

उत्तर–पृष्ठ ४ में जो लिखा है कि उस पूर्वोक्त विशेषण विशिष्ट परमात्मा को नमस्कार है इस से पं० जी ने यह समझा कि वेद का कर्त्ता यदि ईश्वर होता तो उस में सम्पूर्ण क्रिया पद उत्तम पुरुष के होते और अस्मच्छब्द वाच्य परमात्मा ही होता–यह नियम नहीं है कि जो जिस पुस्तक का प्रकाश करने वाला है उस की पुस्तक में सब क्रिया पद तत्परक ही हों किन्तु विषय भेद से अभिप्राय भेद हुआ करता है–जहां २ वेदों में स्तुति प्रार्थना उपासना विषय हैं वहां २ स्तुति प्रा० उपा० का कर्त्ता जीव है किन्तु वह वाक्य योजना करके परमात्मा जीवों को स्तु० प्रार्थ० उपा० की शिक्षा करता है कि हे मनुष्यो ! तुम इस प्रकार स्तुति आदि किया करो–कल्पना करो कि जिन प्रश्नों को लक्ष्य में रख के मैं उत्तर देने को प्रवृत्त हुआ हूं क्या प्रश्नवाचक वाक्यस्थ समस्त क्रिया पदों का कर्त्ता भी मैं ही समझा जा सक्ता हूं कदापि नहीं किन्तु जिन २ वाक्यों का (प्रश्न सम्बन्धी) लेख मैं करता हूं उन का लेख केवल इस अभिप्राय से है कि इस २ प्रकार के प्रश्नों का इस २ प्रकार से उत्तर है–इस के उदाहरण प्रश्नोत्तरी की रीति पर बनी हुई पुस्तकें तो सामयिक भी बहुत हैं जिन के अभिप्राय पर ध्यान देने से यह शंका कदापि नहीं हो सकती–

२ प्रश्न–ईश्वर और ब्रह्मा में कुछ अन्तर है या नामान्तर है ।

उत्तर–ईश्वर और ब्रह्मा में स्तुति आदि के प्रकरण में तो नामान्तरमात्र है परन्तु अन्य प्रकरण (यज्ञादि) में चतुर्वेदवेत्ता यज्ञद्रष्टादि विद्वान् का वाचक भी ब्रह्मा शब्द आता है तथा इतिहासादि प्रकरण में यथासम्भव सृष्टि के आरम्भ समय में उत्पन्न हुये चतुर्वेदपारंगत ब्रह्मा नामक ऋषि का वाचक भी आता है–रही यह बात कि हम किस प्रकार जानें कि यहां ब्रह्मा शब्द का वाच्य क्या है अर्थात् इस प्रकरण में अमुकार्थ वाचक ब्रह्मा शब्द है ? इस का समाधान यह है कि वाक्यार्थ बोध में योग्यता, आकाङ्क्षा, आसत्ति और तात्पर्य्य ये चार कारण हैं इन को विचारना चाहिये कि किस प्रकरण में किस अर्थ के साथ किस शब्द की योग्यता है–यथा "सैन्धवमानय" सैन्धव लाओ, इस वाक्य में स्वामी अपने भृत्य को यदि भोजन समय में आज्ञा दे तो भृत्य को चाहिये कि लवण ला कर देवे और यदि गमन समय में स्वामी आज्ञा दे तो उचित है कि अश्व को लावे–अब हम को प्रत्येक समय में प्रकरण पर ध्यान देना अत्यावश्यक है अतएव हम प्रकरणानुसार शब्दार्थबोध के कारण जान सकते हैं कि अमुक प्रकरण में अमुकार्थ वाचक अमुक शब्द है इत्यादि– क्रमशः–

निवेदयिता

तुलसीराम स्वामी

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग २	चैत्र संवत् १९४६	अङ्क ११

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

सनातनधर्मसिद्धान्त

इस नाम का एक पुस्तक हमारे पास श्री पण्डित केशवराम विष्णुलाल जी पण्ड्या उपमन्त्री सीतापुर द्वारा आया है। यह पुस्तक पण्डित रघुनन्दन भट्टाचार्य का बनाया है हमारा विचार है कि इस पर हम कुछ समालोचना लिखें। सो उन महाशय और पाठकों के देखने के लिये लिखता हूं। सब महाशयों को विदित हो कि धर्म के दो भेद हैं एक सनातन धर्म और दूसरा आपद्धर्म। सनातन धर्म वह कहाता है जो वेदोक्त है जिससे सब का कल्याण होता है वह धर्म सब काल में एक रस रहता और कोई समय ऐसा नहीं होता कि उसके करने से मनुष्य का कल्याण न हो सदैव सुखदायी सनातन धर्म कहाता है। जैसे सत्य बोलना, सब पर दया रखना, चोरी का सर्वथा त्याग करना। शुद्धि पवित्रता सदा रखना और इन्द्रियों को वश में रखना इत्यादि सनातनधर्म कहता है जो कल्प कल्पान्तर में भी कभी लौट पौट नहीं होता। और जब सनातन धर्म का अनुष्ठान मनुष्य सर्वथा ठीक २ नहीं कर सकता वा सनातन धर्म में कोई बड़ी भारी बाधा पड़ जाती है तब जिस रीति से निर्वाह करना चाहिये उसकी प्रक्रिया धर्मशास्त्रकारों ने बहुत लिखी है उस को आपत्धर्म कहते हैं पर आपत् काल का धर्म सनातनधर्म का बाधक नहीं है। अब सनातन धर्म का सिद्धान्त दिखाना तो बहुत उत्तम है पर (सनातनधर्म) सिद्धान्त नाम रख के मनमानी बोच की चली हुई बातें लिख डालना क्या शोभा देता है? अर्थात् इस पुस्तक के निर्माता

ने पहिले से ही राम की स्तुति की है हम पूछते हैं कि जब तक रामचन्द्र जी नहीं जन्मे थे तब तक रघुदिलीपादि राजों महाराजों ने भी अवश्य किसी की उपासना की होगी । जब रामचन्द्र जी आदि की उत्पत्ति से पहिले उन २ नामों से उपासना कहीं नहीं थी तो सनातन किस प्रकार हुई यदि कहें कि रामचन्द्र जी साक्षात् ईश्वर का नाम है तो अवतार का आग्रह छोड़ो और वेदादि किसी प्रतिष्ठित शास्त्र का प्रमाण भी देना चाहिये कि जिस से राम नाम परमेश्वर का आता हो । और यदि अवतार को ही ईश्वर मानते हो तो जैसे तुम अवतार मानते हो वैसे यीशु को भी ईशाई लोग मानते हैं वह अवतार क्यों नहीं ?। और कहीं किन्हीं सत्शास्त्रों में वा वेद में जो ईश्वर के नाम हैं उन में रामनाम आता भी नहीं । हम लोगों का इस प्रसंग में यह आशय नहीं कि श्रीमान् दशरथात्मज राजा रामचन्द्र जी पर किसी प्रकार का कटाक्ष करें किन्तु उन जैसे भद्रपुरुष वे ही थे हम को ऐसे पुरुषों के गुणकर्म स्वभावों का सदा चिन्तन कर अपने गुणकर्म सुधारने चाहिये ।

हमारा केवल कथन यही है कि ईश्वर के स्थान में किसी भिन्न पुरुष की उपासना सनातन धर्म कदापि नहीं कहा जा सकता और पाषाण की निर्मित मूर्त्तियों की पूजा भी सनातन धर्म कभी नहीं हो सकती । इस विषय में पुस्तक निर्माता पण्डित महाशय को अत्यन्त उचित था कि जब पुस्तक का नाम "सनातनधर्म सिद्धान्त" रखना शोचा था उसी समय विचारते कि सनातन धर्म क्या है उस का लक्षण वेद वा धर्मशास्त्रों में से प्रथम लिखते और उसी के आश्रय से आधुनिक धर्म ठहरता उस का खण्डन करते तो अवश्य "सनातन धर्म सिद्धान्त" नाम सार्थक होता सो अब नाम रखना तो अनेक प्रमाणों से अशुद्ध है । और जिस अवतार वा मूर्त्ति-(पाषाणादि) पूजा का इस पण्डित महाशय ने इस पुस्तक में प्रतिपादन किया है वह तो कदापि सनातन धर्म नहीं हो सकता और न किसी आर्ष ग्रन्थ में ऐसा कोई प्रमाण ही मिल सकता है कि यह मूर्त्तिपूजादि मत भेद-सनातन धर्म है किन्तु सनातन धर्म के विषय में मनुस्मृति आदि में ऐसे प्रमाण तो अनेक मिल सकते हैं कि-

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥१॥ मनु० अ० ४।

सत्य बोले प्रिय बोले परन्तु जो प्रिय न हो ऐसा सत्य न बोले और मिथ्या प्रिय वचन भी न बोले अर्थात् जिस में सत्यता और प्रीति दोनों गुण हों ऐसा वाक्य बोले वा दोनों गुण न मिलें तो वहां मौन रहे अपनी विशेष सम्मति कुछ न देवे क्योंकि

दोनों धर्म के सनातन स्वरूप हैं परन्तु इन दोनों में सत्य बड़ा भाई है अर्थात् मौन रह जाने की अपेक्षा सत्य बोल देना उत्तम है इसी लिये मनु जी ने अन्यत्र लिखा है कि "मौनात्सत्यं विशिष्यते" मौन रहने से सत्य बोलना उत्तम है इस लिये सत्य बोलना करना और मानना ही मुख्य और सनातन धर्म है इस की सब शास्त्रों में सर्वोपरि प्रशंसा है। सत्य का यथावत् अनुष्ठान करता २ मनुष्य सत्य स्वरूप परमात्मा का अत्यन्त प्रिय हो जाता है पर यह बहुत कठिन और सब धर्म के लक्षणों का समूह है इस एक के ठीक होने से मनुष्य पूर्ण धर्मात्मा हो सकता है । पर यह विचार जो है कि जहां सत्य अप्रिय और प्रिय असत्य हों वहां मौन से सत्य विशेष है इस विषय में अनेक लोगों का विचार भिन्न २ है अर्थात् कहीं २ ऐसा भी हो सकता है कि जहां मौन रह जाना उत्तम है क्योंकि जैसे कोई बधिक (हिंसक) मनुष्य किसी गौ को जंगल में मारता है वह भागती फिरती है और वह किसी दयाशील सत्यवादी धर्मात्मा से आकर पूंछे जिस ने गौ को किसी ओर जाते देखा भी हो उस समय यदि धर्मात्मा जन सत्य और प्रिय दोनों बोले अर्थात् जिधर गौ चली गई हो उधर को बता दे (यह सत्य और बधिक को प्रिय भी है) तो गोहत्या होती है । इस लिये मौन रहना उत्तम है यदि कहे कि मैं नहीं जानता तो भी मिथ्या हुआ क्योंकि वास्तव में जानता है । यदि मौन रहने पर, वा जानता हूं नहीं बताऊंगा ऐसा कहने पर बधिक उसी को मार डालने की चेष्टा करे तो क्या कर्त्तव्य है क्योंकि सत्य और प्रिय भी नहीं बोल सकते वा मौन रहने पर भी निर्वाह नहीं और न अप्रिय सत्य बोलने से कार्य चलता है तो क्या करना चाहिये ? । ऐसे अवसर पर अनेक लोगों का विचार है कि जिधर को गौ न गयी हो उधर बतला दे जिस से गौ और अपना दोनों का प्राण बचे यदि कहो कि यह मिथ्या हुआ सो नहीं क्योंकि सत्य का लक्षण यह है कि "सत्यं हि तद्भूतहितं यदेव" सत्य वही है जिस का परिणाम फल प्राणी का हित हो । यहां प्रसंग में भी उलटा बता देने मे दो प्राणी के प्राण बचते हैं यह बड़ा हित है इस लिये सत्य है । पर अन्य लोगों का विचार इस विषय में यह है कि उलटा बता देने पर भी किसी प्रकार उस को गौ मिल गयी वा उस गौ की प्राणहिंसा प्रारब्ध कर्मानुसार उसी बधिक के हाथ से भवितव्य है तो गौ बच ही नहीं सकती पर वह दया कर के मिथ्या दोष का भागी हो गया । और अपने बचाव के लिये मिथ्या बोलना भी उचित नहीं यदि सम्भव हो तब तो अपना और उस गौ का दोनों का प्राण बचावे और उस हिंसक को किसी बुद्धिमानी वा बल से मार डाले । यदि यह सम्भव न हो तो भी अपना

प्राण बचाने के लिये मिथ्या न बोले क्योंकि उस बधिक से बच जाने पर भी यदि अपना मृत्यु आ चुका है तो उसी दिन अन्य प्रकार से मृत्यु होगा ही फिर मिथ्यारूप पाप क्यों लादना यह विचार प्रारब्ध वाद के अनुसार है।

पुरुषार्थ वाद के अनुसार विचार यह है कि यदि मृत्यु होने का कोई समय नियत नहीं तो सत्य का प्रताप अवश्य बचावेगा। अनेक उदाहरण ऐसे मिल सकते हैं कि जिन पुरुषों ने सत्यस्वरूप धर्म को नित्य और शरीर को अनित्य मान कर प्राण रक्षा के लोभ से मिथ्या वचन नहीं बोला उन के प्राणों की रक्षा उसी सत्यस्वरूप धर्म ने की है अर्थात् कालरूप मृत्यु के मुख में पहुंच गये वहां भी सत्य ने रक्षा की है अनेक पुरुष ऐसे बच गये जिन के प्राण जाने में किसी को लेशमात्र संदेह नहीं रहा तो भी सत्यस्वरूप सर्वव्यापक परमात्मा ने उन की रक्षा अवश्य की है। कदाचित् सत्य के ऊपर कोई यथार्थ दृढ़ और विश्वासी हो और उस का मृत्यु सत्य न छोड़ने के कारण किसी समय हो ही जावे तो उन की संसार में अजर अमर कीर्त्ति हो जाती है इस लिये यह पक्ष बहुत प्रबल है कि प्राण रक्षा के लोभ से भी सत्य को न छोड़े। और जो अनेक लोगों का सिद्धान्त यह है कि जिस से प्राणियों का हित हो वह सत्य है सो लक्षण ठीक नहीं क्योंकि प्राणियों का हिताहित उन २ के कर्मानुसार हुआ करता है स्वयं किसी का अहित न करना चाहिये और धर्म की रक्षा पूर्वक यथा शक्ति प्राणियों की रक्षा करना ही मुख्य धर्म है किन्तु जैसा अपने आत्मा में हो वही वाणी से बोले यही सत्य का मुख्य लक्षण है इस पर मनु०—

यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥१॥

जिस कहते हुए पुरुष का विद्वान् जीवात्मा बोलते समय कुछ भी लज्जित शङ्कित नहीं होता उस से अधिक कल्याण के मार्ग पर कोई नहीं यह विद्वानों का सिद्धान्त है। जो अन्तःकरण में जैसा जानता है उस से भिन्न बना कर किसी प्रयोजन के लिये बोले गा तो जीवात्मा को अवश्य लज्जा शंका होगी और जो अन्तःकरण में जैसा ज्ञान है वैसा ही बोल देगा तो अवश्य किंचिन्मात्र भी लज्जा शङ्का नहीं हो सकती। इस प्रकरण में व्याख्यान सत्य की प्रशंसा पर चला गया तात्पर्य यह है कि सत्य ही मुख्य धर्म का लक्षण है और यही सनातन धर्म है क्योंकि सत्य और सनातन शब्द का अभिप्राय भी एक ही है सत्य धर्म और सनातन धर्म दोनों पद एकार्थ हैं और मूर्त्तिपूजनादि मतमतान्तर सम्बन्धी विषय सनातन धर्म

नहीं । इस लिये सनातनधर्मसिद्धान्त उसी पुस्तक का नाम रखना चाहिये जिस में पूर्वोक्त प्रकार के सनातन धर्म का व्याख्यान हो । इस से विरुद्ध होना विद्वानों के कर्त्तव्य से बाहर है ॥

इस के आगे टाटिल में लिखा है कि "सत्यार्थप्रकाश को खण्डन" इस का सम्बन्ध सनातनधर्मसिद्धान्त के साथ है वह सनातनधर्मसिद्धान्त कैसा है कि जिस में सत्यार्थप्रकाश का खण्डन किया गया है । यहां विचार का स्थल है कि यह कैसा सम्बन्ध लगता है ? क्या जिस में सत्यार्थप्रकाश का खण्डन हो वही सनातनधर्मसिद्धान्त है यदि कहें कि हमारा यह तात्पर्य्य है कि सनातनधर्मसिद्धान्त अन्य भी हो सकते हैं पर इस में सत्यार्थप्रकाश का खण्डन है । तो यह भी विचारना चाहिये कि जिस में सत्यार्थ के प्रकाश का खण्डन हो वह सनातनधर्म कैसे हो सकता है ? हां मिथ्यार्थ खण्डन अवश्य सनातनधर्मसिद्धान्त हो सकता है । यदि कहो कि हमने जैसा नाम देखा वैसा लिख दिया अभिप्राय यही है कि मिथ्यार्थप्रकाश का खण्डन करें । क्योंकि वह मिथ्यार्थप्रकाश ही है जिस को आर्य लोग सत्यार्थप्रकाश कहते हैं तो भी ठीक नहीं क्योंकि उस में मिथ्यार्थ का ही वर्णन है सत्यार्थ कुछ नहीं यह कोई सिद्ध नहीं कर सकता ऐसा कोई गया बीता नास्तिकादि का भी पुस्तक नहीं जिस में सत्यार्थ कुछ न हो तो आस्तिक निर्मित ऐसा पुस्तक क्यों कर हो सकता है । तब ऐसा लिख सकते थे कि सत्यार्थप्रकाश नामक पुस्तक में अमुक २ विषय ठीक नहीं उस का खण्डन करते हैं । इस पुस्तक के आरम्भ में टाटिल पेज की यह दशा है कि "प्रथमग्रासे मक्षिकापातः" के तुल्य हो गया तो भी आगे देखना चाहिये क्या लिखते हैं ॥

पण्डित रघुनन्दन भट्टाचार्य्य नाम तो बहुत बड़ा है पर नामानुसार पाण्डित्य कुछ नहीं दीख पड़ता सो मेरे कहने मात्र से नहीं किन्तु पाठक लोग ध्यान दें कि इन बृहत् नामी का लेख कैसा है । ग्रन्थ के आरम्भ में एक मंगलाचरण में भाषा छन्द सवैया लिखा है । जब ये संस्कृतज्ञ पण्डित हैं तो अच्छे २ श्लोक बना कर क्यों न लिखें इस से संस्कृतज्ञ होने में संदेह होता है । इस भाषा छन्द में पहिला पद (हेति) पड़ा है इस का अर्थ स्वयमेव पण्डित जी लिखते हैं कि "हेति यानें प्रीति करि" विचार कर देखा जाय कि इस हेति शब्द का क्या अर्थ है । और यह शब्द कहां का है हमारी समझ में हेति शब्द संस्कृत भाषा का है अंग्रेजी उर्दू वा फारसी का यह नहीं हो सकता क्योंकि पण्डित जी महाराज का ऐसा अभिप्राय नहीं है कि वे अन्य भाषा का शब्द लिखें कदाचित् प्रचरित देवनागरी भाषा का हो सो भी ठीक नहीं क्योंकि देवनागरी भाषा संस्कृत का ही

प्रायः अपभ्रंश है। (हेतु) शब्द जो संस्कृत है उस का अपभ्रंश प्रायः हेतु बोला जाता है और संस्कृत में जो हित शब्द है उस का प्रचार ज्यों का त्यों हित बोला जाता किन्तु हित के स्थान में हेति का प्रयोग कोई नहीं करता तो हेति शब्द संस्कृत ही है। जब संस्कृत है तो अर्थ पर ध्यान देना चाहिये। वैदिक कोश निघण्टु में हेति वज्र का नाम है और अमरकोष में—

रवेरर्चिश्च शस्त्रं च वह्निज्वाला च हेतयः ॥

सूर्य की दीप्ति, शस्त्र—हथियार—और अग्नि की ज्वाला इन तीनों का नाम हेति है। मेदनीकोष में भी यही है इसी प्रकार व्याकरण से भी प्रीति अर्थ में हेति शब्द किसी प्रकार नहीं बन सकता। और किसी प्रकार की क्लिष्ट कल्पना से बन भी जावे तो भी शब्द से अर्थज्ञान कोषाद्यनुसार ही होगा व्याकरण से केवल शब्द सिद्धिमात्र होगी अब हेति शब्द का अर्थ जो भट्टाचार्य ने किया वह सर्वथा प्रामादिक और अशुद्ध है यह सब पाठकों को ध्यान देने से स्पष्ट जान पड़ेगा जिन को इतना भी शब्दार्थ बोध नहीं वे सत्यार्थप्रकाश का खण्डन और सनातनधर्म का प्रतिपादन करने को प्रवृत्त हुए "डूबो वंश कबीर को उपजे वंश कमाल" इसी लिये धर्मशास्त्रों में लिखा है कि अशास्त्रज्ञ जन की धर्मविषय में सम्मति नहीं लेनी चाहिये। ऐसे ही लोगों ने धर्म की दुर्दशा की है। जिस को स्वयं शास्त्र का सिद्धान्त ज्ञान नहीं वह निरक्षर भट्टाचार्य के तुल्य भेड़ चाल के अनुसार भले ही कुछ लिख मारो अस्तु। आगे

यह बात वेदार्थसार अंस अभिप्राय है कि राम विष्णु कृष्णादि अवतारोपासना के अर्थ प्राण प्रतिष्ठा करि प्रतिमादि पूजे वैसे अन्ध हो है विना देवापूजोपासना कीन्है ॥

इस में जो अंस शब्द लिखा है इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पं० रघुनन्दन जी व्याकरण कुछ भी नहीं जानते व्याकरण निर्माण का मुख्य फल यही है कि प्रकृति प्रत्यय द्वारा शब्दों का साधुत्व दिखाना ॥

सकृत् शकृदिति माभूत्। पलाशः पलाष इति माभूत्।

सकृत् के स्थान में शकृत् और शकृत् के स्थान में सकृत् का प्रयोग वा व्यवहार न हो। सकृत् नाम एक बार और शकृत् नाम विष्ठा का है यदि सकृत्—एकवार बोलने के स्थान में शकृत् बोले वा लिखेगा तो विष्ठा समझी जायगी इस लिये व्याकरण बनाया गया कि शब्दों को ठीक २ समझ लेवें। इसी प्रकार अंश नाम भाग का और अंस नाम कन्धे का है यदि अंश के स्थान में अंस लिखा गया तो

वेदार्थसार का कच्चा समझा जायगा सो यह ऊटपटाङ्ग है। जिन को व्याकरण का पूरा बोध नहीं होता उन से ऐसी अशुद्धि बहुत होती हैं। और जिन को पूरा बोध होता है वे न ऐसी अशुद्धि लिखें न बोलें और न खाली घड़े के समान उछलें कि हम ऐसे पण्डित हैं किन्तु जो शास्त्रज्ञ पूरे नहीं वे खाली घट के समान उछलते हैं। और पूर्वोक्त वाक्यावली लिखने से यह भी प्रतीत होता है कि इन को भाषा लिखने का भी ज्ञान नहीं। कहते हैं कि "राम विष्णु कृष्णादि अवतारोपासना के अर्थ प्राणप्रतिष्ठा करि प्रतिमा पूजे" इस को सनातनधर्म मानते हैं। इस कथन को तब तो कोई मान लेता जो इस के साथ किसी प्रतिष्ठित धर्मशास्त्र का प्रमाण देते कि जिस से यह सनातनधर्म मान लिया जाता वैसे कितना ही कपोलकल्पित मात्र लिखा करो कुछ फल नहीं, हां यह फल तो हो सकता है कि पुस्तक निर्माता पण्डितों में दिल्ली के पांचवें सवार के समान आप की भी गणना हो जावे कि इन्हों ने भी खण्डन किया यह माननीय है वा नहीं यह अंश भिन्न है। राम, विष्णु, कृष्ण इन में से राम और कृष्ण विष्णु के अवतार पौराणिक सिद्धान्तानुसार माने जाते हैं विष्णु कोई अवतार नहीं है रामादि विष्णु के अवतार हैं इसी लिये विष्णु शब्द राम कृष्ण बुद्ध आदि के साथ आता है। इन की इबारत से विष्णु भी अवतार प्रतीत होता है सो यह पुराणों से भी विरुद्ध है अर्थात् जिस विषय का मण्डन करने को चले उसी को नहीं जानते तो मण्डन क्या करेंगे। अवतारोपासना के अर्थ प्राणप्रतिष्ठा कर प्रतिमा पूजे। इस पर बड़ा आश्चर्य्य होता है कि प्राणप्रतिष्ठा किस की करें किस के प्राणों को किस में स्थित करें? क्या प्राण कहीं उड़ते फिरते हैं जहां से पकड़ के किसी में स्थित कर लें जिस किसी जीवात्मा के प्राण होंगे उस के साथ होंगे किसी के प्राण आत्मा से अलग हो नहीं सकते जब मुक्तिदशा में अलग होते हैं तब अपने कारण वायु में लीन हो जाते हैं और जब तक लिङ्ग शरीर के साथ रहते हैं तब तक उसी लिङ्ग शरीर के साथ किसी शरीर में जन्म धारण करके प्राण चल सकता है आत्मा के साथ केवल प्राण की शक्तिमात्र रह सकती है उस को प्रथम तो पकड़ना ही कठिन है। यदि कहो कि अंगरेजों के तुल्य यन्त्रद्वारा वायु को पकड़ के मूर्त्ति में प्रवेश कर देते हैं सो भी नहीं बन सकता क्योंकि सर्वसाधारण वायु का नाम प्राण हो ही नहीं सकता। ऐसा हो तो वायुप्रतिष्ठा कहो प्राणप्रतिष्ठा नहीं कह सकते। और जब पत्थर आदि में वायु के प्रवेश होने को सन्धि नहीं तो किस प्रकार प्रवेश कर दे सकते हो। जिस प्रकार का सूक्ष्म वायु पत्थर आदि

में प्रविष्ट हो सकता है वैसा तो प्रथम से ही प्रविष्ट है उस का प्रवेश करना व्यर्थ है यदि ऊपर२ वायु को स्थिर करो तो वहां तो वैसा ही चलायमान रहता है जब वेग अधिक बढ़ जाता है तो बड़े२ पत्थरों को भी फेंक देता है। और मुख्य तो यह है कि वेदादि किसी सत्यशास्त्र में नहीं लिखा कि अमुक २ मन्त्र से पत्थर आदि की प्रतिमा में प्राण आ सकते हैं। यदि यह वैदिक कर्म होता तो अवश्य सूत्रकार जिन्हों ने विवाहादि कर्मों के सूत्र बनाये हैं कि इस२ मन्त्र से अमुक २ कार्य करना चाहिये वैसे यह भी लिखते कि इस २ मन्त्र से मूर्त्ति को स्नानादि कराने वा प्राणप्रतिष्ठा करनी चाहिये। इस प्रकार न लिखने से यह कर्म वेदबाह्य है ॥ क्रमशः

गत अङ्क से आगे ब्राह्मसमाज का उत्तर ॥

सद्धर्मी लोग वेदों को कैसे मानते हैं ?

इस प्रश्न के उत्तर देने के पहिले यह कहना आवश्यक है कि वेद क्या वस्तु हैं। वेद के अर्थ कोष में विद्या के हैं। वेद और विद्या एकही अर्थ के दो शब्द हैं और एक ही धातु से निकलते हैं। जैसे कि श्रुतियों में लिखा है।

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवाऽपरा च ॥

(मुण्डकोपनिषद् १ । ४)

अर्थ। दो विद्या जानने के योग्य हैं जिन्हें ब्रह्म के जानने वाले परा और अपरा कहते हैं ॥

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। तथा। १। ५।

अर्थ। इन में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, अपरा विद्या हैं, और परा विद्या वह है जिस से अविनाशी परमात्मा पहचाना जाता है ॥

शब्द “अपरा” के अर्थ हैं उरली, अर्थात् इसी जगत् की, और “परा” के अर्थ परली अर्थात् परलोक की या सच्ची। ऋग्वेद आदि पुराने समय की जगत् विषयक विद्या थी। परा विद्या या सच्चा वेद इन पुस्तकों में भी कहीं २ है; किन्तु इन में बहुत नहीं है। (यह सब लेख ब्राह्मों का अनुवाद है)

उत्तर—अब वेद क्या वस्तु है इस पर विचार किया जाता है। ब्राह्म लोग कहते हैं कि परा अपरा दो प्रकार की विद्या है इस में अपरा तो ऋग्वेदादि सब शास्त्र और परा वह है जिस से ईश्वर जाना जाता है सो हम लोग अपरा लौकिक विद्या को नहीं मानते किन्तु परा मुख्य है। विद्या और वेद इन शब्दों का एक ही अर्थ है इस लिये परा विद्या मुख्य वेद है उस को हम लोग मानते हैं। इत्यादि विचार "सद्धर्मी लोग वेदों को कैसा मानते हैं" इस नाम के एक छोटे से पुस्तक में है जो लाहौर से छपा है इस में यद्यपि किसी का नाम नहीं है। तो भी सुनने आदि से निश्चय हुआ कि बाबू नवीनचन्द्र राय जी लाहौर ने बनाया है इस पुस्तक में जैसा लेख है वह ज्योंका त्यों रख कर क्रम २ से उत्तर देना प्रारम्भ करता हूं। इस में पहिला विचार तो यह है कि वेद और विद्या शब्दों का अर्थ क्या है? इस का निश्चय करना चाहिये इस के लिये व्याकरण और कोष की आवश्यकता पड़ती है। संज्ञायां समज० ३। ३। ९९ सूत्र से संज्ञा विषयक कर्त्तभिन्न कारकों और भाव में विद्याशब्द की सिद्धि मानी है परन्तु संज्ञा यौगिक शब्द है। इस में जैसा प्रकरण हो वैसा ही अर्थ विद्या शब्दका हो सकता है हां वेदादि ग्रन्थों का विशेषणभूत विद्या शब्द आता है वहां किसी अर्थ से हटाने और किसी विशेष अर्थ में वेद शब्दार्थ की सहायता के लिये आता है सर्वत्र संस्कृत वा अन्य भाषाओं में यही नियम है "अर्थान्तराद्व्यावर्त्तकं विशेषणं संकेतितार्थप्रवृत्त्यर्थं च" यही अभिप्राय यहां भी समझना चाहिये यदि ब्राह्मसमाजियों के कथनानुसार वेद और विद्या दोनों शब्दों का एकार्थ होता तो एक साथ दोनों शब्द किसी वाक्य में नहीं आते। "उक्तार्थानामप्रयोगः" इस महाभाष्य के प्रमाणानुसार कि जिस अर्थ के जताने के लिये एक शब्द का प्रयोग हो गया अर्थात् एक शब्द से वह अर्थ जता दिया जाय तो वहां उसी अर्थ के वाचक द्वितीय शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती। जैसे पृथिवी और भूमि दोनों एक वस्तु के नाम हैं जो अर्थ पृथिवी शब्द से जाना जाता उसी का बोध भूमि बोलने से भी होता है फिर इन दोनों का उच्चारण एक वाक्य में करना व्यर्थ ही है इसी प्रकार वेद और विद्या दोनों शब्द एकार्थ नहीं हैं और यह भी महामिथ्या है कि वेद शब्द का अर्थ कोष में विद्या का है किसी संस्कृत के कोश में वेद और विद्या एकार्थ शब्द नहीं लिखे हैं। अमरकोष में—

श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायस्त्रयी धर्मस्तु तद्विधिः ॥

और मेदिनी में—

वेदः श्रुतौ च वृते च।

लिखा है इसी प्रकार अन्य कोषों में भी समझना चाहिये । बड़े आश्चर्य का विचार है कि संस्कृत विद्या का मर्म तो जानते नहीं और उस में पग अड़ा कर अपना कल्पित मत संस्कृत विद्या के प्रमाणों से सिद्ध करना चाहते हैं सो अभी तो यह नहीं चल सकता जब तक संस्कृत के ज्ञाता आर्यावर्त में वर्त्तमान हैं । अब इतने अर्थ से यह तो पाठकों को विदित हो जायगा कि वेद और विद्या शब्द एकार्थ नहीं हैं और कोष में भी एकार्थ नही लिखे । वेद शब्द की सिद्धि पाणिनीय व्याकरणानुसार यह है कि–हलश्च ॥ अ० ३ । ३ । १२१ ॥

इस से करणाधिकरण कारकों में विद् धातु से घञ् प्रत्यय हुआ है। व्याकरण में विद् धातु चार हैं । विद् ज्ञाने । विद् सत्तायाम् । विद् विचारणे। विद्लृ लाभे। वेद शब्द इन चारों धातुओं से बना है और इस का निर्वचन यह है कि–

"विदन्ति जानन्ति सर्वा विद्या धर्मक्रिया वा यैर्येषु वा ते वेदाः । विद्यन्ते कर्तव्याऽकर्तव्योपदेशा यत्र स वेदः । विन्दते विचारयन्ति सत्याऽसत्ये ब्रह्म वा येन स वेदः । विन्दन्ति लभन्ते सुखमानन्दं येन यस्मिन् वा स वेदः शब्दार्थसम्बन्धसम्बन्धी मन्त्रात्मकवाक्यावल्यन्वितः ॥

सब विद्या वा धर्म कर्मों को जिन से वा जिन में जानें, कर्त्तव्य और त्याज्य कर्मों के उपदेश जिन में विद्यमान हों, सत्याऽसत्य वा ब्रह्म का जिस से विचार करें और सुख वा आनन्द को जिन में वा जिन से प्राप्त हों वे शब्दार्थ सम्बन्धों से युक्त मंत्रस्वरूप वाक्यावली सहित पुस्तकाकार वेद कहाते हैं परन्तु विद्या शब्द केवल (विद् ज्ञाने) धातु से बनता है क्योंकि उस में ज्ञानार्थ प्रधान है । और वेद शब्द का प्रयोग अन्य शब्दों के साथ भी मिला हुआ आता है वहां भी विद्या के अर्थ में नहीं घट सकता जैसे । आयुर्वेद । धनुर्वेद । अर्थवेद । गान्धर्ववेद । आयुर्वेदका अर्थ सुश्रुतकार ने स्वयं किया है कि "आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेन वाऽऽयुर्विन्दतीति स आयुर्वेदश्चिकित्साशास्त्रम् । " इसी प्रकार–

"धनुरिति शस्त्रोपलक्षणं–धनूंषि शस्त्रास्त्राणि ज्ञायन्ते यत्र स धनुर्वेदः । गान्धर्वो गानविद्या कुशलो विद्यते भवति यस्मिन् ज्ञाते स गान्धर्ववेदः । अर्थमैश्वर्यं विन्दति येन यस्मिन् ज्ञाते वा स अर्थवेदः

जिस के जानने में आयु विद्यमान रहे वा जिस से आयु–उमर की वृद्धि को प्राप्त हों वह आयुर्वेद । शस्त्रअस्त्र विद्या जिस में जानी जाय वह धनुर्वेद । जिस के जानने में गान्धर्व अर्थात् गानविद्या में कुशल हों वह गान्धर्ववेद और

जिस के जानने में अर्थ नाम ऐश्वर्य को प्राप्त हों वह अर्थवेद कहाता है । इस सब लेख से निश्चय हो सकता है कि वेद और विद्या शब्दों का अर्थ भिन्न२ है यद्यपि किसी प्रकार इन दोनों की एक धातु (विद, ज्ञाने) से सिद्धि होती है तो भी लौकिक वा शास्त्रीय नियम यह नहीं है कि जो २ शब्द एक धातु से बने उन२का एक ही अर्थ हो किन्तु यह प्रसिद्ध है कि जिस कारक भाव काल और लिङ्ग में जिस शब्द की सिद्धि होती है उसी के अनुसार उस का अर्थ होता है जैसे। अध्याय, अध्यापक, अध्येता, अध्ययन, अध्यापिका। आदि शब्द एक धातु से बने हैं केवल प्रत्यय का भेद है पर कोई अध्याय शब्द के अर्थ में अध्येता को नहीं मान सकता ऐसा ही कोई संस्कृतविद्या का शत्रु चाहे जैसा अर्थ कर ले । जिन लोगों को ठीक२ शब्द का ज्ञान नहीं वे अर्थ करने में अनर्गल (बे लगाम) होते हैं जिन को उस विद्या में बोध होता है वे विचार पूर्वक लिखते वा बोलते हैं । यदि वेद और विद्या शब्दों का एक अर्थ होता तो जैसे विद्या शब्द का जिन२ पदों के साथ लगाने से जो २ अर्थ होता है वही अर्थ उन शब्दों के साथ वेद शब्द के लगाने से भी प्रतीत होना चाहिये जैसे न्यायविद्या, वेदविद्या, वेदान्तविद्या, ब्रह्मविद्या, पदार्थविद्या, गानविद्या, अङ्कविद्या, अध्यात्मविद्या, उपाङ्गविद्या, वैद्यकविद्या, शस्त्रविद्या, अस्त्रविद्या, शिल्पविद्या, भूगोलविद्या, खगोलविद्या, नक्षत्रविद्या, इत्यादि में यदि वेद और विद्या दोनों शब्द एकार्थ हों तो जिन२ न्यायादि पदों के साथ विद्या शब्द के लगने से जो२ अर्थ समझा जाता है वही अर्थ न्यायादि के साथ वेद शब्द के लगने से होना चाहिये । क्या न्यायविद्या, न्यायवेद इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है ऐसा कोई विद्वान् वा बुद्धिमान् कह सकता है ? और न्यायवेद ऐसा शब्द बोलना वा लिखना भी बेहूदापन प्रतीत होता है । यदि वेद और विद्या दो शब्द एक साथ कहीं भी एकार्थ हों तो "वेदविद्या" यह शब्द ही नहीं बोल सकते क्योंकि एकार्थ दो शब्द न लिखे न बोले जाते हैं और किसी प्रकार बोले जावें तो जो अर्थ "वेदविद्या" शब्द से समझा जाता है वही "वेदवेद" शब्द के लिखने बोलने से भी प्रतीत होना चाहिये सो ऐसा नहीं होता । मैं एक छोटीसी बात पर जो इतना अधिक लिखता जाता हूं उस का यही प्रयोजन है कि जो पाठकजन संस्कृत नहीं जानते वे भी अच्छे प्रकार सब अभिप्राय समझ जावें । यह लेख "वेद और विद्या एक ही अर्थ के दो शब्द हैं" बाबू नवीनचन्द्र राय लाहोरनिवासी का है जो ब्राह्म लोगों में बड़े विद्वान् समझे जाते हैं जब ऐसे विद्वानों का लेख इतना पोच है तो ब्राह्मपत्रिका सम्पादक किन में हैं ? जिन को भाषा भी लिखनी नहीं आती ।

अब आगे मुण्डकोपनिषद् का प्रमाण जो परा अपरा विद्या के विषय में से है उसे सुनिये (द्वे विद्ये वेदितव्ये०) इत्यादि इस का अर्थ ब्राह्म महाशय यह समझे होंगे कि इस मुण्डकोपनिषद् के प्रमाण में शब्द और विद्या शब्द एकार्थ हैं इसी लिये पहिले दोनों को एकार्थ ठहराया। यदि इस प्रमाण में वेद और विद्या शब्द एकार्थ हों तो शिक्षादि शब्द और विद्या शब्द भी एकार्थ हो सकते हैं सो यह सम्भव नहीं इसलिये इस प्रमाण का वैसा अभिप्राय समझना उचित नहीं है। किन्तु इस का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मवेत्ता महात्मा जन विद्वान् दो प्रकार की विद्या कहते हैं एक परा और दूसरी अपरा ये दोनों कल्याण चाहने वाले मनुष्यों को जानने योग्य हैं इन दोनों के जाने विना किसी की परमगति नहीं हो सकती इस में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द, और ज्योतिष् ये सब अपरा विद्या अर्थात् इधर का ज्ञान संसार में जानने योग्य हैं इन सब का पठनपाठन विचार निश्चय करना वादविवादादि द्वारा यह सब संसार में कर्त्तव्य है क्योंकि पठनपाठन में गुरुशिष्य का व्यवहार अन्य अग्निहोत्रादि श्रौतस्मार्त्त कर्म सब संसार में ही रह कर किये जावेंगे इस लिये यह सब अपरा विद्या अर्थात् संसार में ज्ञान के प्रकार हैं कि संसार में पहिले ऋग्वेदादि चारों वेद और वेद के छः अंग अवश्य जानने चाहिये। और परा विद्या वह है जिस से अविनाशी परमेश्वर को प्राप्त होते हैं अर्थात् पहिले ऋग्वेदादि को पढ़ने से जिस कर्त्तव्य का ज्ञान होगा उस ज्ञान के ऋग्वेदादि प्रकार हैं वे ही ऋग्वेदादि सम्बन्धी अपरा विद्या हैं उन ज्ञानों से कर्त्तव्य शेष रह जाता है जिस के किये विना परमात्मा को कोई नहीं प्राप्त हो सकता वह पराविद्या है जैसे वैराग्य संसारी सुख भोगों की तृष्णा का त्याग, ध्यान, समाधि, एकान्त वास, तप, इन्द्रियों को वश में करना, इत्यादि आचरण किये विना कोई भी परमेश्वर को नहीं पा सकता इसलिये इन दोनों प्रकार की विद्या को जानना चाहिये। विद्या शब्द यहां एक २ प्रकार के ज्ञान का नाम है। व्याकरण में जिस प्रकार का ज्ञान होगा उस को व्याकरण विद्या कहेंगे। जैसे यहां व्याकरण और विद्या शब्द का एकार्थ नहीं हो जाता वैसे ही वेद और विद्या का भी एकार्थ नहीं है। "अविनाशी परमात्मा पहचाना जाता है" यह अर्थ ठीक नहीं क्योंकि अधि पूर्वक गम धातु का अर्थ प्राप्ति है इसलिये यह भी भूल है। और परा के ऊपर लिखते हैं कि "परानाम सच्ची" इस कथन से अपरा विद्या झूठी अर्थापत्ति से हो सकती है। यह बड़ा अज्ञान है पराविद्या का यह अर्थ किसी व्याकरण वा कोष के अनुसार नहीं हो सकता। परा अपरा का सीधा विचार मैं पाठकों को समझाता हूं थोड़ा ध्यान देकर देखिये—

जो वस्तु कारणरूप पहिले उपयोग में आवै वह अपरा अर्थात् पहिली और जो पीछे फल रूप हो वह परा पिछली अन्त्य की विद्या है पर पहिली के विना पिछली नहीं हो सकती। जैसे हमारा एक मुख्य काम किसी महाराजा से मिल कर ही सकता है उस राजा से मिलने की अपेक्षा उस से पहिले अन्य जिन२ पुरुषों से मिलना चाहिये और मिलने के लिये जो २ उपाय मिलने से पहिले करने चाहियें वे सब अपराविद्या के तुल्य अर्थात् इधर के उपाय हैं और पहिले उपायों की अपेक्षा राजा को मिलना पराविद्या के तुल्य है और मिल कर जो कार्यसिद्धि होना है उस की अपेक्षा मिलना भी अपरा के तुल्य और कार्यसिद्धि परा के तुल्य है और कार्यसिद्धि से जो होने वाला सुखदुःखादि फल हैं उस की अपेक्षा कार्यसिद्धि भी अपरा और फल होना परा है। क्या यहां पूर्व२ उपाय के विना पर २ की सिद्धि कदापि हो सकती है? इसी प्रकार पाठमात्र वेद पढ़ने की अपेक्षा सार्थक पढ़ना परा पाठमात्र अपरा। सार्थक कर्मकाण्ड की अपेक्षा ज्ञानकाण्ड पराविद्या है। इसी कारण ज्ञानकाण्ड के विषय प्रतिपादक होने से उपनिषद् पराविद्या और उस की अपेक्षा कर्मकाण्ड अपरा है। जैसे भोजन बनाने का विचार करना कि भोजन बनाना चाहिये यह अपर और विचारानुसार भोजन की सामग्री जोड़ना पर है सामान जोड़ने की अपेक्षा बनाने लगना पर और भोजन कर लेना सब से पर और पहिले सब उपाय अपर हैं। क्या जो भोजन की सामग्री जोड़ने वा भोजन बनाने को मिथ्या कहे और भोजन करने को सत्य कहे उस को कोई बुद्धिमान् कहेगा?। क्या राजा से मिलने के उपायों की निन्दा करे और मिल कर कार्यसिद्धि को सच्ची कहे वह विचारशील समझा जा सकता है?॥

महाशयो! यही हाल इन ब्राह्म लोगों का है कि ये पिता की निन्दा और पुत्र की प्रशंसा करते हैं अपराविद्या परा की माता है विना अपरा के परा हो ही नहीं सकती। इसी लिये ऊपर लिखे मुण्डकोपनिषत् के वचन में दोनों विद्या के जानने के लिये उपदेश किया है कि दोनों विद्या जाननी चाहिये। वहां किसी को अच्छा वा बुरा नहीं कहा। हां तात्पर्य से यह निकलता है कि फल मुख्य है। यहां फलरूप पराविद्या और अपराविद्या उस फल की सिद्धि में साधनस्वरूप है सो भी फलबुद्धि से पराविद्या प्रधान और साधन अपेक्षा में अपराविद्या भी मुख्य है। जो लोग निष्काम फलाकाङ्क्षारहित कर्म करते हैं उन के लिये फल कोई पदार्थ नहीं कर्म ही प्रधान है। यद्यपि ब्रह्मचर्यादि पहिले तीन आश्रमों में जिस अपराविद्या के अनुसार पठनपाठन वा कर्म किये पश्चात् चौथे

संन्यास विरक्त आश्रमधारी पुरुष का अपराविद्या से विशेष प्रयोजन नहीं रहता किन्तु केवल मोक्ष प्राप्ति के जिन २ उपायों का ज्ञान अपराविद्या से तीन आश्रमों में हुआ है उन धारणा ध्यान समाधि वैराग्य और एकान्त में रह कर केवल परमात्मा का चिन्तन अहर्निश करना ही मुख्य है तो भी उस का यह काम किसी शास्त्र वा न्याय के अनुकूल नहीं कि अपनी पूर्वोपकारिणी अपरा विद्या को मिथ्या कहे वा उस की निन्दा करे किन्तु यह धर्म से विरुद्ध अधर्म है। महाभारत उद्योगपर्व के प्रजागरपर्व में लिखा है कि–

षडेते ह्यवमन्यन्ते नित्यं पूर्वोपकारिणम् ।
आचार्य्यं शिक्षिताः शिष्याः कृतदाराश्च मातरम् ॥
नारीं विगतकामास्तु कृतार्थाश्च प्रयोजकम् ।
नावं निस्तीर्णकान्तारा आतुराश्च चिकित्सकम् ॥

एते वक्ष्यमाणाः षट् स्वस्य पूर्वोपकारिणं नित्यं प्रायशो दुष्टचरा जना अवमन्यन्ते तिरस्कुर्वन्ति। कृतार्थाः सिद्धप्रयोजनाः प्रयोजनसाधकं नाकाङ्क्षन्ति न च सत्कुर्वन्ति, निस्तीर्णं कान्तारं वनं समुद्रादिजलाशयो वा यैस्ते नौवन्निस्तारकं दुःखान्मोचकं न प्रत्युपकुर्वन्ति नात्यवमानासम्भवात्तद्त्तारका ग्राह्याः ॥

प्रायः लोक में दीख पड़ता है कि जिन्हों ने पहिले अपना उपकार किया है उन का पीछे ये छः लोग अपमान करते अर्थात् उन की आकाङ्क्षा नहीं रखते वा उन के साथ किसी प्रकार का प्रत्युपकार नहीं करते अथवा कोई २ कृतघ्न ऐसे भी होते हैं कि उन की निन्दा बुराई भी करते हैं। वे छः ये हैं कि जब तक आचार्य वा गुरु से शिष्य लोग विद्या पढ़ते हैं तब तक जैसी भक्ति वा श्रद्धा पूर्वक उस का आदर वा सत्कार करते मानते हैं वैसा पीछे नहीं मानते। विवाह होने से पहिले माता से पुत्र लोग प्रीति विशेष रखते और स्त्री के आजाने पर वह सब प्रीति स्त्री से करने लगते और माता को कोई नहीं पूछते परन्तु कोई २ माता की सेवा स्त्री सहित प्रथम से भी अधिक करते हैं वे धर्मात्मा हैं। जब कामदेव की शान्ति वा किसी प्रकार वैराग्य वा स्त्री की युवावस्था बीत जाती है तब उस का सत्कार नहीं करते वा उस की अपेक्षा नहीं रखते वा उस की निन्दा करते हैं। जिस की सहायता से किसी कार्य की सिद्धि जब तक नहीं होती तब तक

उस को मानते सेवा शुश्रूषा करते हैं कार्य निकल जाने पश्चात् नहीं पूछते। नौका के समान किसी गम्भीर वन वा समुद्रादि जलाशय में होने वाले प्राणसंकट से जो बचा देता है उस का पीछे स्मरण तक नहीं करते। और रोगी पुरुष जब तक रोग से नहीं छूटते तब तक उस वैद्य को परमेश्वर की तुल्य मानते स्तुति प्रार्थना सेवा शुश्रूषा करते हैं जब रोग से छूट जाते हैं तब कभी यह भी नहीं कहते कि वह चिकित्सक कहां है जिस की ओषधि से हम रोगरूप ग्राह के मुख से छूटे थे। यद्यपि ऐसे काम अन्य भी हो सकते हैं जिन में अपने पूर्वोपकारी को पीछे न मानें वा अपमान करें पर तो भी ये छः उन में मुख्य हैं। जो पुरुष अपने पूर्व उपकारी को नहीं मानता उस की निन्दा करता वा कुछ भी प्रत्युपकार नहीं करता वह कृतघ्न अधर्मी कहाता है। इसी प्रकार काम निकल जाने पर अपनी पूर्वोपकारिणी अपराविद्या को न माने उस की निन्दा करें वा मिथ्या कहें वे अवश्य अधर्मी हैं इस विषय में हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि ब्राह्म लोग भी ऐसे हैं क्योंकि ये तो अपरा विद्या के तत्त्व को भी नहीं जानते न उस अपरा से इन का कुछ उपकार हुआ और न होना सम्भव है तो ये पूर्वोपकारी के निन्दक वा कृतघ्न नहीं हैं जब साधनरूप अपराविद्या को नहीं जानते वा मानते तो परा को कैसे जान सकते हैं? कदापि नहीं। ब्रह्मज्ञान का अन्तिम उपाय पराविद्या का ठीक २ अनुष्ठान कर लेना कोई सहज काम वा लड़कों का खेल नहीं है। इतिहासादि से सिद्ध है कि पहिले समय में ब्रह्मज्ञान होने के लिये कैसे २ घोर तप करते थे कैसे २ महा क्लेश उठाते थे उन में भी कोई २ ब्रह्मज्ञान के पात्र निकलते थे। तो ब्राह्मलोग जो ब्रह्मज्ञान के पात्र होने का हल्ला करते हैं वह नकटों की मण्डली के तुल्य जान पड़ता है और ये लोग एक प्रवाह में पड़ के जिधर को वह चले वहीं ध्वनि बांधे चले जाते हैं ईश्वर इन को अच्छा उपदेश दे इन के अन्तःकरणों में प्रेरणा दे जिस से ये उस की विद्या के भागी पात्र हों। अब हम सब लोगों को उचित है कि परा अपरा दोनों विद्याओं को यथोचित मानें उन से अपने कल्याण का मार्ग शोचें जिस से दुःखों से बचें। मैंने अपने विचारानुसार परा अपरा विद्या पर इतना इसी लिये लिखा है कि सब की समझ में आजावे अब आगे यदि कुछ त्रुटि वा न्यूनता रह गई होगी तो किन्हीं महाशय के सूचित करने पर पुनः लिखूंगा॥

आगे देखिये बाबू नवीनचन्द्र राय जी क्या लिखते हैं। "जैसा कि श्रुति से" यह उत्थानिका दे कर—

अनन्ता वै वेदाः (तैत्तिरीय ब्राह्म० ३। १०। ११। ३)

अर्थ–वेद अनन्त हैं । जब वेद अनन्त हैं तब वे तीन चार पुस्तकों में क्यों कर बद्ध हो सकते हैं ? अनन्त वेद की पुस्तक परमात्मा ने आत्मा को ही बनाया है इस में इतनी विद्या समा सकती है जिस की सीमा नहीं हो सकती ॥

उत्तर—हम यह पहिले ही लिख चुके हैं कि ऋग्वेदादि पुस्तकस्थ शब्दार्थ सम्बन्ध क्रम सम्बन्धी ज्ञान के प्रकार का नाम ऋग्वेदादि अपराविद्या है उस ज्ञान का अन्त नहीं कि वह यहीं तक है अर्थात् वेदस्थ जो विद्या हैं उन का तात्पर्य अनन्त है कोई विद्वान् जन्मजन्मान्तरों में भी उस का व्याख्यान पूरा नहीं कर सकता । जैसे मूल वृक्ष से अनेक शाखा डाली पत्ते क्रम २ से बढ़ते जाते हैं इसी प्रकार मूल वेद के अभिप्राय अनन्त बढ़ते जाते हैं । आज कल अङ्गरेज़ लोग भी नित्य २ नई २ विद्या निकालते जाते हैं अन्त नहीं आता इसी प्रकार वेद भी अनन्त हैं उन वेदों से किस २ प्रकार का उपयोगी ज्ञान मनुष्यों को प्राप्त हो सकता इस का अन्त नहीं है । यदि कहो कि "वेद पुस्तकाकार माने जाते हैं वे अनन्त नहीं हो सकते ज्ञान का नाम वेद तो हम भी मानते हैं इस प्रकार वेद का अनन्त होना हम को भी अभीष्ट है" । तो उत्तर यह है कि केवल पुस्तकमात्र को हम लोग वेद नहीं मानते यह पहिले भी लिख चुके हैं । क्योंकि निरर्थक शब्द से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । शब्द अर्थ और सम्बन्ध ही मुख्य वेद है अर्थ ज्ञान के साथ शब्द भी बढ़ते जाते हैं इस लिये अर्थ का ज्ञानरूप वेदार्थाभिप्राय अनन्त है । जो ब्राह्म लोग ज्ञानमात्र को वेद मानते हैं वह शब्द के विना केवल ज्ञानमात्र किसी कार्य का साधक नहीं हो सकता । अर्थात् शब्द अपरा और अर्थज्ञान उस की अपेक्षा पराविद्या है सो यहां भी शब्द पहिले पितारूप अर्थ पुत्ररूप है जो शब्द को न मानेगा उस को यह भी मानना चाहिये कि मेरा पिता उत्पादक कोई नहीं मैं ऐसे ही अनादि सिद्ध हूं । शब्द के विना लौकिक वा परमार्थ सम्बन्धी किसी प्रकार का ज्ञान किसी को नहीं हो सकता यदि कोई कहे कि मूक (गूंगे) लोग हाथ पग मुखादि अङ्गों से संकेत करके अपना अभिप्राय जता देते हैं तो विना शब्द के अर्थज्ञान हो गया सो वहां भी इङ्गित चेष्टित निमिषितादि सङ्केत ज्ञानों के मूल शब्द ही हैं गूंगे ने जल पीने के समान मुख में हाथ लगा कर जल पीने का संकेत किया उस से कोई जल अर्थ समझ गया इस में उस को जल शब्द के विना अर्थज्ञान नहीं हो गया किन्तु लोक में जलशब्द की सर्वत्र प्रवृत्ति देख कर गूंगे ने जल अर्थ बताया जो जल शब्द उस के अन्तःकरण में भासित था उस को अन्य पुरुष समझ गया तो यहां भी शब्द पूर्वक ही अर्थज्ञान हुआ है ॥ क्रमशः–

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग २ | वैशाख संवत् १९४६ | अङ्क १२

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

(क्रमागत ब्राह्मसमाज का उत्तर)

यदि ऐसा कोई दृष्टान्त संसार में मिल जावे कि जिस पदार्थ का नाम कुछ न हो और उस का ज्ञान किसी प्रकार हो जावे तो शब्द के विना अर्थज्ञान होना माना जा सकता है सो यह कभी सम्भव नहीं कि जिस वस्तु का कुछ नाम न हो ऐसा कोई वस्तु संसार में हो इस लेख का तात्पर्य यह है कि बाबू नवीनचन्द्र राय जी शब्द को अपरा और अर्थज्ञान को पराविद्या मानते हैं सो यह तो ठीक है हम को भी माननीय है पर इस में भेद केवल इतना है कि वे पराविद्या को मानते और अपरा शब्दरूप को मिथ्या वा नीच कहते हैं इस पर यह सब कथन है कि शब्दरूप अपरा के विना अर्थज्ञान रूप पराविद्या कुछ भी नहीं हो सकती । शब्द अर्थ और उन का परस्पर सम्बन्ध अनादि है इस लिये इन परा अपरा दोनों को यथोचित सत्य मानना चाहिये । ब्राह्म लोग भी इस में स्वतन्त्र नहीं कि वे अपराविद्या को छोड़ सकते हों माननी तो अवश्य पड़ती है पर हठ भले ही करते जावें कि हम नहीं मानते । जैसे कोई सूर्य वा दीपकादि तेज की सहायता के विना नेत्र से कुछ नहीं देख सकता तो भी कहता रहै कि मैं स्वयं अपने नेत्रों से देखता हूं मुझ को सूर्यादि के प्रकाश की कुछ आवश्यता नहीं है । इसी प्रकार ब्राह्म लोगों का अपरा को छोड़ परा का मानना है ॥

एक यह भी प्रयोजन है कि जब शब्द अर्थ भिन्न २ कार्यसाधक नहीं हो सकते तो दोनों मिल कर वेद हैं और अभिप्रायरूप से अनन्त हैं "अनन्ता वै

वेदाः" इस वाक्य में ज्ञान के साधनों का नाम वेद है और ज्ञानार्थ विद् धातु का अर्थ अपेक्षित है कि जिन से ज्ञान हो ऐसे ऋग्वेदादि इस्य अभिप्राय अनन्त हैं इस प्रकार कोई दोष नहीं आसकता। वेद के पुस्तकों में कई हजार मन्त्र हैं जो सब विद्याओं के मूल हैं उन से अनन्त ज्ञान होना कुछ आश्चर्य नहीं जब कि एक विद्या शब्द से जो अर्थ प्रतीत होता है वह अनन्त है। उन्हीं सब अर्थों के मूल ज्ञान का कारण वेद हैं। कहते हैं कि तीन चार पुस्तकों में अनन्त वेद कैसे बद्ध हो सकते हैं सो जब एक बहुत छोटे पर्चे में लिखे विद्या शब्द में अनन्त वेद बन्धे हुए हैं तो क्या तीन चार पुस्तको में बन्ध जाना कोई असम्भव मान सकता है ? कदापि नहीं। अनन्त वेद का पुस्तक परमेश्वर ने जीवात्मा को नहीं बनाया। मनुष्य के ज्ञान की सदैव सीमा बनी रहती है। पुस्तक शब्द का जो अर्थ लोक में प्रसिद्ध है वही लिया जा सकता है जीवात्मा का नाम पुस्तक बताना अज्ञान है। जहां तक जीवात्मा को ज्ञान हो सकता है उस का कारण शब्द ही है और शब्द अर्थ का नित्य सम्बन्ध है यह सिद्ध हो चुका। परमात्मा का ज्ञान होना भी वेद का मुख्य सिद्धान्त है "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" इत्यादि। परमेश्वर अनन्त है उस को अनन्त जानना भी वेदों का अनन्तपन है विद्याओं का भी अन्त नहीं अनन्त विद्याओं का साधन होने वा आधार होने से भी वेद अनन्त हैं यह कहना ठीक है॥

वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥ ४ ॥

सब विद्या और धर्म के स्थान वेद हैं वेद में से ही सब विद्या और धर्म प्रवृत्त होते हैं वही वेद, विद्या और धर्म का सनातन स्थान वा आधार है इस लिये भी वेद अनन्त हैं ऐसा कहना बहुत ठीक है। यही मुख्य अभिप्राय अनन्त वेद कहने का है किन्तु मन्त्रपाठ अनन्त है यह तात्पर्य नहीं है॥

बा० बा० नवीनचन्द्र राय जी आगे लिखते हैं कि। "श्रुति है-

मनो वै समुद्रः मनसो वै समुद्राद्वाचाभ्र्या देवास्त्रयीं विद्यां निरखनन् ॥ शतपथ ब्राह्मणे ७ । ५ । २ । ५२ ॥

अर्थ-मन (मनुष्य का) एक समुद्र है, मनरूपी समुद्र से जिह्वारूपी फावड़े के साथ देवताओं ने तीनों वेद की विद्या को खोदा। वस आत्मा में जो परा विद्या है वा सत्य वेद हैं उन्हें सद्धर्मी लोग अवश्य मानते हैं। किन्तु अपरा विद्या के नाम से जो वेद हैं उन के उन भागों को भी जो अच्छे और सत्य हैं सद्धर्मी लोग मानते हैं। और जो ऐसे नहीं हैं उन को नहीं मान सकते और यह बात शास्त्रों के अनुसार है॥

उत्तर—इस प्रमाण से ब्राह्म लोगों का कुछ भी पक्ष सिद्ध नहीं हो सकता। ज्ञान का आधार मन वा अन्तःकरण वा बुद्धि है। यहां भी अन्तःकरण की निर्मल शुद्ध शक्ति सत्त्वगुणरूप बुद्धि का नाम मन है उस में जो सृष्टि के आरम्भ में जिन ऋषियों के हृदय में वेद का उपदेश हुआ उन्हों ने उन वेदों को मन से वाणी-द्वारा अन्य मनुष्यों को प्रकट किया इस कारण मन मुख्य है कि जिस में शब्दार्थ सम्बन्धरूप वेद प्रथम भासित हुए। इन ब्राह्म लोगों का इस प्रसंग में यह अ-भिप्राय तो हो ही नहीं सकता कि अन्तःकरण में विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध से जिस किसी प्रकार का ज्ञान अच्छा वा बुरा उत्पन्न हो वह सब वेद है। क्यों कि अन्तःकरण में परमेश्वर की ओर से जो सत्य शुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है उस को ही ये लोग भी वेद मानते हैं यदि ऐसा मानते हों कि सब प्रकार के ज्ञान का नाम वेद है तो कामक्रोधादि के वश होकर विषय भोगादि की तृष्णा वा चोरीरूप ज्ञान का नाम भी वेद होगा। जब ये ब्राह्म लोग ऐसा मानते हैं कि शुद्ध निर्मल आत्मा में परमेश्वर की ओर से जो धर्मसम्बन्धी कल्याणार्थ सत्य शुद्ध ज्ञान होता है वह वेद है तो यही पक्ष हमारा भी है इस में भेद इतना है कि हम लोग सृष्टि के आरम्भ में जो सर्वोपरि शुद्धान्तःकरण ऋषि लोग हुए उन के हृदय में जैसा ज्ञान हुआ वह सब मनुष्यों के कल्याणार्थ उसी समय ईश्वर ने संसार में इसलिये प्रकट कर दिया कि इस के अनुकूल चलने से कल्याणभागी हों अब ये लोग कहते हैं कि जो कोई शुद्धान्तःकरण हो उस के हृदय में जो सत्य ज्ञान हो वह सदैव वेद है। हम पूछते हैं कि जैसे आप के अन्तःकरण में जो ज्ञान होता है उस को जैसे लिख सकते हो वह जैसे शब्दार्थसम्बन्धरूप बन स-कता है वैसे आज तक जिन २ लोगों के हृदय में धर्म, विद्या, उपकार, नीति, कलाकौशल, आदि कर्त्तव्य का ज्ञान हुआ उन २ पुरुषों ने अपनी २ भाषा में उन २ विषयों के लाखों पुस्तक लिख डाले वे सब पुस्तक वेद नहीं केवल आप लोग जो एक समुदाय में थोड़े से मनुष्य हैं उन के हृदय में जो ज्ञान हुआ वही वेद है क्या यह पक्षपात नहीं कि अपना ही मानना अन्य किसी का नहीं। यदि अन्य सब पुस्तक वेद हो सकते हैं तो अंगरेज़ी फ़ारसी आदि सभी वेद हो जावेंगे। यद्यपि इस से हम को मत्सरता नहीं न हमारी कोई हानि है पर तो भी ऐसा हो सकना कठिन है कि सब वेद हो जावें। यदि कहो कि आत्मसम्बन्धी अध्यात्मविद्या का ज्ञान वेद है तो अध्यात्मविद्या के पुस्तकों की भी संख्या होना कठिन है उन सब को भी वेद मान सकना कठिन है। इस लिये इन का वेद मानना सर्वथा निर्मूल है किसी प्रकार ब्राह्मों का वेद मानना नहीं बन सकता।

इस विषय पर कोई ब्राह्म भाई कभी ठीक २ वेद के स्वरूप को लिखेंगे कि हमारा वेद यह है इस २ प्रकार के ज्ञान को हम वेद मानते हैं तो हम उस पर विशेष सम्मति देंगे ।

अब जो प्रमाण "मनो वै समुद्रः" इत्यादि लिखा वह तो ऊपर लिखे अर्थानुसार हमारे पक्ष का ही पोषक है किन्तु उस से शब्दार्थसम्बन्धरूप पुस्तकाकार वेद का खण्डन नहीं निकल सकता और न इन का बनावटी वेद उस से सिद्ध हो सकता है । और कहते हैं कि "यह बात शास्त्रों के अनुकूल है" क्या ब्राह्मों के किसी शास्त्र में ऐसा लिखा है । क्या जिन पुस्तकों के इन लोगों ने प्रमाण दिये उन को ये लोग मानते हैं ? यदि मानते हैं तो उन्हीं पुस्तकों के सौ प्रमाण हमारे पक्ष के सिद्ध करने वाले मिलेंगे और एक तुम्हारे अनुकूल मिल गया जब एक को मानते हो तो उन सौ प्रमाणों को क्यों नहीं मानते ? जिस एक प्रमाण को तुम ने अपने पक्ष का उपयोगी समझा है वह भी वास्तव में तुम्हारा उपयोगी नहीं हो सकता क्योंकि वे शास्त्र इन्हीं ऋग्वेदादि को माननेवालों के बनाये हैं वे लोग जिस वेद को सैकड़ों युक्ति प्रमाणों से पुष्ट करेंगे तो क्या एक दो प्रमाण वा युक्ति ऐसी लिख दें जिस से वेद का खण्डन हो जाय यह कभी सम्भव नहीं है । किन्तु यह तुम्हारी भूल है संस्कृतविद्या को ठीक नहीं जानते इस कारण वा स्वार्थसाधन बुद्धि से उन को अपने पक्ष के अनुगामी समझने लगते हो । इस लिये तुम्हारा विचार यदि आर्यशास्त्रों के अनुकूल होता तो विवाद ही क्यों पड़ता । सब आर्य एकमतस्थ होकर आनन्द करते । बड़े आश्चर्य का विषय है कि आर्य शास्त्रों के सिद्धान्त से विरुद्ध तो इन का मन्तव्य है और उस को आर्य शास्त्रों के प्रमाणों से सिद्ध करना चाहते हैं । आर्य शास्त्रकार वेद के मानने वाले हैं उन के शास्त्रों में वेद के खण्डनार्थ कोई भी प्रमाण ब्राह्मों को नहीं मिल सकता केवल युक्ति से भले ही जैसा मन में आवे लिखा करें ।

ब्राह्म श्रुतिर्धर्म इति ह्येके नेत्याहुरपरे जनाः ।
न च तत्प्रत्यसूयामो नहि सर्वं विधीयते ॥

(महाभारतशान्तिपर्वणि राजधर्मे अ० १०९ श्लोक १३ भीष्मवचनम्)

किसी का मत है कि वेद धर्म है किसी का मत है कि धर्म नहीं है । हम उस की निन्दा नहीं करते पर यह अवश्य कहते हैं कि सब श्रुतियां धर्म नहीं हैं ॥

उत्तर—इस महाभारत के श्लोक का यही तात्पर्य है जो ब्राह्म भाई ने अपने मत की भलाई और वेद की बुराई के लिये समझा है वा अन्य कुछ अभिप्राय है इस पर हम विवाद नहीं करते पर मान लीजिये कि यही तात्पर्य है तो भी

वेद की क्या हानि हुई ? कोई पुरुष श्रुति वेद को मानते हैं कि धर्म का प्रतिपादक है कोई कहते हैं धर्म का ही प्रतिपादक नहीं किन्तु सभी विद्याओं का भंडार है सब विद्याओं का मूल है तो जिन का मत है कि वेद में धर्म ही है उन से इन का पृथक् मत हुआ पर धर्म नहीं इस कथन से यह सिद्ध नहीं होता कि अधर्म है किन्तु धर्म ही नहीं अर्थात् सब विषय हैं उन में धर्म भी आगया । वेद में धर्म है ऐसे कहने वालों का तात्पर्य यह है कि अन्य विद्या संबन्धी विषय भी धर्म के ही उपयोगी होते हैं इस लिये धर्म ही माना । इन दोनों पर भीष्म जी अपनी सम्मति देते हैं कि हम इन में से किसी को बुरा नहीं कह सकते क्योंकि किसी न किसी प्रकार दोनों पक्ष ठीक हो सकते हैं । पर हमारी (भीष्म जी की) सम्मति यह है कि वेद में जो कुछ कहा गया है सो विधिरूप ही नहीं है अर्थात् ऐसा करो वा ऐसा मत करो इस प्रकार के वाक्य विधिरूप कहाते हैं इन्हीं को मीमांसाकार ऋषि लोगों ने धर्म का मूल माना है अर्थात् ऐसे वाक्य धर्म हैं ॥

"चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः"

इस सूत्र से वैदिक धर्म का लक्षण किया है कि जिस का चिन्ह प्रेरणा वा आज्ञा है वही धर्म है इस का उदाहरण प्रायः यही देते हैं कि—

"अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः"

जिस को स्वर्ग की कामना हो वह अग्निहोत्र करे। यहां अग्निहोत्र करने का विधान है इसी को विधि और धर्म कहते हैं सो सब वेद विधिरूप ही नहीं किन्तु अर्थवाद सिद्धानुवाद आदि भी है और कहीं २ प्रश्नोत्तर भी हैं । अच्छे विषय की स्तुति प्रशंसा, निकृष्ट की निन्दा बुराई आदि विषय अर्थवाद कहाता और जिन पदार्थों में जैसे गुणकर्मस्वभाव हैं वैसे कहना सिद्धानुवाद कहाता है इत्यादि अनेक प्रकार के वाक्य अनेक विषयों के प्रतिपादक वेद में हैं किन्तु केवल विधिमात्र धर्म ही नहीं यह भीष्मपितामह की सम्मति है । इस महाभारत के श्लोक का अर्थ ब्राह्म महाशय यह समझे हैं कि वेद में कुछ धर्म कुछ अधर्म दोनों प्रकार के वाक्य हैं यह महाभारत का तात्पर्य है। भला यह कहां का नियम है कि धर्म के निषेध में अधर्म ही लिया जावे । हां यदि विरुद्धार्थ में नञ् अव्यय हो तो यह अर्थ भी आ सकता है पर भीष्म जी आदि आस्तिक आर्य जो वेद को शिरोधार्य मुकुटमणि करके अनेक स्थलों में पुकारते जाते हैं फिर वे उस में अधर्म बतावें तो उन के वचन परस्पर विरुद्ध हो जावेंगे । इस कारण यहां नञ् का पर्युदास अर्थ लेना चाहिये (पर्युदासः सदृग्ग्राही)

उस को छोड़ के जिस का निषेध किया हो अन्य उस के सदृश का ग्रहण होता है धर्म के तुल्य अन्य उपयोगी विषयों का भी वर्णन वेद में है यह मुख्य तात्पर्य हुआ। जब इस महाभारत के वचन से ब्राह्म भाई के अर्थानुसार ही कोई बुराई नहीं आती तो विशेष लिखना आवश्यक भी नहीं प्रतीत होता। आगे—

ब्राह्म—श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनायेन गताः स पन्थाः (म० भा०)

अर्थ—श्रुतियां आपस में भिन्न हैं स्मृतियां भी भिन्न हैं। ऐसा एक मुनि नहीं जिस का मत (दूसरे से) भिन्न न हो। धर्म का तत्त्व (आत्मा की) कन्दरा में है। अच्छे लोग जिस राह पर चलते हैं वह धर्म है॥

उत्तर—इस प्रमाण के देने में तो ब्राह्म ऐसे गिरे जो ठीक २ पाताल को चले गये वास्तव में महाभारत में ऐसा पाठ नहीं है। यद्यपि महाभारतादि प्राचीन पुस्तकों के जितने पुस्तक मिलते हैं उन में कई २ श्लोकों का प्रायः पाठ भेद भिन्न २ मिलता है तो भी पण्डित विद्वान् उन में से कई प्रकारों वा कारणों से वा बहु पक्षानुसार निश्चय कर लेते हैं कि यह ऐसा ही ग्रन्थकार के विचारानुसार ठीक है। इस पाठ भेद का कारण ये ही बौद्धादि वा मतवादी हैं उन्होंने अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के अर्थ वेदादि की निन्दा होने के लिये जहां तहां पाठ बढ़ाये कहीं २ अध्याय के अध्याय पुस्तकों में नवीन बना कर मिला दिये। परन्तु कोई कितना ही करो सत्य कभी नहीं छिपता कहीं न कहीं से असत्य की पोल निकल ही जाती है। यहां महाभारत का श्लोक ऐसा है कि—

तर्कोऽप्रतिष्ठः स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

यह श्लोक महाभारत के वनपर्व यक्ष—युधिष्ठिर—संवाद में राजा युधिष्ठिर जी का वचन है। इस से पहिले वहां यक्ष ने एक साथ चार प्रश्न किये हैं उन सब का उत्तर एक २ श्लोक से दिया गया है उन्हीं में से एक प्रश्न का यह उत्तर है पन्था नाम मार्ग क्या है अर्थात् किस प्रकार वर्त्ताव करने (किस मार्ग पर चलने से) मनुष्य कल्याण को प्राप्त हो सकता है इस का उत्तर दिया कि तर्क की स्थिति नहीं तर्क में तर्क उठता जाता है जिस का तर्क प्रबल पड़ गया वह जीत जाता है जिस का तर्क एक वार प्रबल पड़ गया उस का सदा प्रबल ही बना रहे यह भी नियम नहीं जैसे लड़ाई में एक वार जो मनुष्य जीत गया वह पीछे हार

जाता और पहिले हारा था वह पीछे जीत भी जाता है यही हाल तर्क का है जब नास्तिकों का तर्क इस आर्यावर्त्त देश में बढ़ गया था तब आर्यों के वेदादि शास्त्र सम्बन्धी आस्तिक सिद्धान्त को दबा लिया था जब फिर आस्तिक शिरोमणि श्री स्वामी शङ्कराचार्य जी का प्रबल तर्करूप खड्ग चला तभी सब नास्तिकों को दबा कर वेद मार्ग का प्रचार किया तो तर्क के आश्रय पर सर्वसाधारण मनुष्यों का निर्वाह नहीं चल सकता क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार तर्क स्थित नहीं रहता। तर्क से धर्मादि विषयों का निर्णय सब कोई नहीं कर सकता है। स्मृति जो धर्मशास्त्र हैं वे भिन्न २ हैं देश काल और अपनी २ बुद्धि के अनुसार बनाई हैं स्मृति अर्थात् धर्मशास्त्रों का यही विषय है कि वे लोकव्यवहार की व्यवस्था करते हैं उस का भी पूर्वापर हाल सब कोई नहीं जान पाता। इस लिये स्मृतियों के विभिन्न होने पर भी विद्वान् लोग संगति लगा देते हैं। सर्वसाधारण के लिये स्मृतियां भी उपयोगी नहीं हैं। "स्मृतयो विभिन्नाः" के स्थान में कहीं २ "श्रुतयो विभिन्नाः" भी पाठ मिलता है सो श्रुति शब्द का अर्थ केवल वेद ही नहीं है जनश्रुति (कहावत) को भी श्रुति कह सकते हैं। कहावतें लोक की भिन्न २ हैं। और यदि श्रुति कर के वेद ही लिया जावे तो भी कुछ हानि नहीं वेद में अनेक प्रकारों का उपदेश भिन्न २ है वह सर्वसाधारण का उपयोगी नहीं तात्पर्य यह कि श्रुति शब्द कर के वेद ही लिया जाय और मान लिया जावे कि "श्रुतयो विभिन्नाः" ऐसा ही पाठ सत्य है तो भी कोई दोष नहीं आता श्रुति अनेक और भिन्न २ हैं श्रुतियों में अनेक प्रकार भिन्न २ अर्थ हों तो भी वह परस्पर विरोध नहीं समझा जाता इस में मनुस्मृति की साक्षिता भी है॥

श्रुतिद्वैधन्तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।

जहां जिस विषय में दो प्रकार की श्रुति मिलती हो वहां दोनों धर्म हैं जिस प्रकार जिस को करना सुगम पड़े वैसा करे। परन्तु यह श्रुत्युक्त धर्म प्रायः उस २ कर्म के अधिकारी विद्वानों में सफल होता है और सर्वसाधारण के लिये सदाचार का उपदेश यहां महाभारत में किया है॥

ऋषि भी एक नहीं जिस के स्मृतिरूप वचन का प्रमाण किया जावे इस लिये धर्म का मुख्य तात्पर्य मनुष्यों को अपनी बुद्धि में खोजना चाहिये। गुहा नाम बुद्धि का निघण्टु में लिखा है। अर्थात् ब्राह्म ने जो गुहा शब्द का कन्दरा अर्थ लिखा है वह इस अर्थ को न समझ कर लिखा है। अर्थात् जिस कर्त्तव्य को अपनी बुद्धि स्वीकार नहीं करती वा जिस के करने में अन्तःकरण में किसी प्रकार

का संकोच नहीं होता किन्तु जिस के करने को मन उत्साह करे वह सामान्य धर्म का लक्षण है जितने अधर्म सम्बन्धी काम हैं उन सब के करने से पहिले पीछे वा बीच में आत्मा को लज्जा शंका भय होते हैं तो भी जो क्रोध लोभ मोहादि के वश हो कर मनुष्य उस लज्जा शंका को हटा कर काम कर लेता है पर उस के कर लेने पर भी आत्मा भयभीत रहता है इस कारण वह काम आत्मा को अप्रिय है जो आत्मा को प्रिय हो जिस के करने पर अन्तःकरण में प्रसन्नता ही बनी रहे वह धर्म का सामान्य लक्षण है। अर्थात् बुद्धि में जो धर्म का तत्त्व स्थित है वह धर्म का लक्षण है उस पर चलने से मनुष्य का कल्याण हो सकता है इस लिये यह भी मार्ग है इसी को मनुस्मृति में आत्मा को प्रिय धर्म का लक्षण कहा है। और सदाचार भी धर्म का लक्षण है। श्रेष्ठ पुरुषों का जो आचरण है वह सदाचार कहाता है कि महाजन श्रेष्ठ विद्वान् पुरुष जिस काम को करते हैं वा करते आये हैं वह धर्म का मार्ग है वैसा ही आचरण करने में साधारण पुरुषों को विश्वास कर लेना चाहिये मुख्य कर जिन विषयों में सन्देह पड़े शास्त्रादि से जिस का निर्णय होना दुस्तर हो वा कोई निर्णय कर्त्ता पुरुष न मिल सके ऐसी दशा में भी श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण जैसे हों वही मार्ग ठीक है इसी विषय पर मनुस्मृति में भी चार प्रकार का धर्म का लक्षण कहा है जैसे—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ अ० २ मनु०

वेद स्मृति अर्थात् धर्मशास्त्र सदाचार और अपने आत्मा को प्रिय यह चार प्रकार का धर्म का लक्षण है इस में वेद और स्मृतियां तो विशेष कर उन के ज्ञाता विद्वानों को उपयोगी हैं और शेष दो मार्ग सब के लिये कल्याणकारी हैं। सो इस महाभारत के श्लोक में आत्मा को प्रिय और सदाचार इन दो धर्म मार्गों की प्रशंसा अधिक इस लिये की है कि ये दोनों विद्वान् अविद्वान् सब के उपयोगी हैं वेद, वा स्मृति केवल विद्वानों के उपयोगी हैं। यहां वेद स्मृतियों की निन्दा नहीं है किन्तु उक्त दोनों की प्रशंसा पर तात्पर्य है।

और मुख्य विचार कर देखें तो लोक में सदा से विद्वान् कम होते और अविद्वान् सदा अधिक रहते हैं अविद्वानों के लिये सदाचार पर दृष्टि देना बड़ा भारी आधार है। और श्रुति स्मृति उन के लिये वैसी उपयोगी नहीं हैं। अब इस श्लोक का अर्थ और आशय सब पाठकों को ज्ञात हो गया होगा। ब्राह्म महाशय ने जैसा पाठ लिखा है न तो वह पाठ ही ठीक है और न ठीक अर्थ ही समझे तो इन से

क्या कहा जावे। यदि ये लोग कलकत्ते की सुसाइटी से छपे महाभारत को भी देख लेते तो क्यों बुद्धिमानों में ऐसा नीचा देखने पड़ता। मनुष्य को अत्यन्त उचित है कि जो कुछ कहे वा लिखे उस को पहिले खूब शोच विचार ले कि जिस में कोई पकड़ न सके। इन लोगों ने यह श्लोक किसी पुस्तक को देख कर भी न लिखा होगा किन्तु सुना सुनाया पाठ लिख मारा जानो कोई पुस्तक देखेगा ही नहीं। बड़े आश्चर्य की बात है कि ब्राह्म लोगों को इतना भी विचार नहीं आता कि जिन आर्य शिरोमणि ऋषि मुनियों ने सहस्रों प्रमाणों से जिन वेदों की पुष्टि वा प्रशंसा की है वे एक दो वचन उन की निन्दा का लिख दें यह कभी सम्भव है ?। क्योंकि वे पूर्ण आस्तिक हैं यह केवल इन्हीं लोगों की भूल है जो विचारते नहीं॥

तर्क विषय में पूर्व महाभारत के श्लोक का आशय यह लिखा गया है कि तर्क की स्थिति नहीं और यह आशय अन्य शास्त्रों से भी सम्बन्ध रखता है अर्थात् अन्य धर्म शास्त्रकारों का भी इस विषय में यही सिद्धान्त है। कठोपनिषद् में लिखा है कि "नैषा तर्केण मतिरापनेया" तर्क के ऊपर सर्वथा सवार हो जाने से शास्त्रसम्बन्धिनी आस्तिकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है मनुस्मृति में भी यही अभिप्राय लिखा है कि-

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥

जो पुरुष सर्वथा तर्क पर आरूढ़ हो कर तर्क शास्त्र के आश्रय से श्रुति स्मृति का अपमान अर्थात् खण्डन करता है वह नास्तिक होने से द्विजसमुदाय से बाहर कर देने योग्य है। इत्यादि प्रायः सभी शास्त्रों की इस विषय में एकता है। परन्तु इस विषय में यह शंका हो सकती है कि जो वेदादि शास्त्र सत्य २ विद्याओं और धर्म का प्रतिपादन करते हैं उन का खण्डन तर्क से क्योंकर हो सकेगा ? इस का उत्तर यह है कि-

"होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः"

होम करते हुए होता को भी स्पर्श करने से अग्नि वैसे ही जला देता है जैसे वह उस के बुरे कहने वाले वा होम न करने वाले को जलाता है। अर्थात् अग्नि का स्वभाव जलाने का है उस से जिस का स्पर्श होगा वही जलेगा धर्मात्मा वा अधर्मी का विचार वहां नहीं। तर्कु (चक्कू) आदि शस्त्र उन २ कार्यों (लेखनी बनाने आदि) के लिये बनाये जाते हैं पर उन से अविचार आदि के कारण हस्तादि में क्षत (घाव) भी हो जाता है इस में तीक्ष्णता का स्वभाव है जिस पर पड़ेगा उस को काटे गा। खड्ग (तलवार) आदि शस्त्र दुष्ट अधर्मी डाकू चोर

आदि का घात करने के अर्थ बनाये जाते हैं पर उन से अच्छे धर्मात्मा लोग भी मारे जाते हैं इसी प्रकार तर्क से वेदादि सत्यशास्त्रों का भी खण्डन हो सकता है। वास्तव में तर्क वेदादि से सिद्ध होने वाले विषयों की विवेचना कर उन की सहायता के लिये है वेद के विषय तर्क के अनुसार ठहरते और उन से विरुद्ध कट जाते हैं और धर्म की स्थिति भी विना तर्क के नहीं होती इसी लिये मनुस्मृति में लिखा है कि–

"यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः"

जो तर्क पूर्वक धर्म विषय का अनुसन्धान करता वही धर्म को जानता है अन्य नहीं। इस की विवेचना यह है कि जो पुरुष ठीक २ गुरुमुख से वेदादि शास्त्रों को पढ़ा और तर्क शास्त्र की प्रक्रिया को भी ठीक २ जानता है वह तर्क से धर्मादि विषय को स्थापित कर सकता है और जो वेदादि शास्त्र ठीक २ नहीं पढ़ा वा सत्सङ्गादि से भी वेदादि शास्त्र के सिद्धान्त की शिक्षा को नहीं प्राप्त हुआ और केवल अन्य भाषा (अंग्रेजी आदि) पढ़ा वा केवल तर्क कुतर्क सुने वा कुछ नहीं पढ़ा संस्काराधीन तर्कीली बुद्धि हो ऐसा पुरुष तर्क से धर्मादि की स्थिति नहीं कर सकता किन्तु खण्डन कर डालने का भय है। जैसे बालक हाथ में चक्कू शीघ्र लगा ले सकता है। इस कारण अशास्त्रज्ञ के लिये तर्क का निषेध है और शास्त्रज्ञ संस्कारी विद्वानों के लिये आज्ञा है कि वे तर्क से काम लेवें। इस विषय पर विशेष लिखने की आवश्यकता है सो फिर यथावसर लिखा जायगा॥ क्रमशः–

(सनातन धर्म सिद्धान्त गत अङ्क पृष्ठ १७० से आगे)

अब आगे इस पुस्तक में रघुनन्दन भट्टाचार्य की लीला देखी तो विलक्षण २ दशा दीख पड़ती है। एक तो यह पुस्तक कहीं ऐसा छपाया जो महा अशुद्ध छपा है द्वितीय ग्रन्थकर्त्ता को भाषा संस्कृत लिखने पढ़ने की प्रक्रिया भी मालूम नहीं। कोई लेख नियम पूर्वक नहीं कौन प्रमाण किस प्रसङ्ग पर लिखना उचित है किस प्रकार का पौर्वापर्य्य वा प्रस्ताव पहिले से चलाना चाहिये यह कुछ भी ठीक नहीं इस का उत्तर भी वास्तव में किसी विद्वान् को देना उचित नहीं है किसी बुद्धिमान् के देखने योग्य न लिखा न छपा किन्तु एक प्रकार का रद्दी है तो भी हम इस अयोग्यता पर दृष्टि न दे कर मूल २ वार्त्ताओं पर थोड़ा २ लेख संक्षेप से करेंगे अर्थात् इन के प्रत्येक वाक्य पर नहीं लिखेंगे। "इतिहासपुराणं पञ्चमो वेदानां वेदः" इस छान्दोग्यस्य प्रमाण के विषय में आर्य्यसिद्धान्त भाग १ में महामोहविद्रावण के उत्तरों में विशेष कर लिख चुके हैं कि

यह वचन इतिहासपुराण की प्रशंसापरक है कि जिस प्रकार वेद से उपयोग वा सुख मिल सकता है वैसे विषय इस में भी हैं इस कारण इतिहास पुराण भी वेद के तुल्य प्रशंसा के योग्य हैं जैसे दिल्ली के चार सवारों में एक पांचवां भी गिन लिया गया था वास्तव में वेद चार ही हैं पांच कभी नहीं होते सो आज कल जैसे प्रचरित हैं इन इतिहासपुराणों को वेद के तुल्य नहीं कहा किन्तु वास्तव में जैसे लक्षण इतिहासपुराणों के पहिले अङ्कों में लिखे गये उन लक्षणों से युक्त इतिहासपुराणों की प्रशंसा है ॥

अब आगे कहते हैं कि पुराण तंत्र मन्त्रादिक सब वेदार्थ ही हैं और इस में (ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान्०) इत्यादि गृह्यसूत्र का प्रमाण दिया है । विचार का स्थल है कि इस प्रमाण से क्यों कर यह निकल सकता है कि पुराण तंत्र मन्त्रादि सब वेद के अर्थ हैं । न तो इस में वेद शब्द है और न तंत्र मन्त्र शब्द ही पढे हैं तो यही अभिप्राय जान पड़ता है कि संस्कृत का जैसा तैसा शुद्ध अशुद्ध जहां कहीं से गिरा पड़ा वाक्य लिख कर जैसा चाहो भाषा में अर्थ लिख दो सब कोई तो संस्कृत जानते नहीं भाषा बांचने वाले तो यही विश्वास कर लेंगे कि देखो पण्डित रघुनन्दन जी ने अच्छे प्रमाणों से सिद्ध कर दिया कि मूर्त्तिपूजनादि सब सत्य ही है । परन्तु वास्तव में पण्डिताई तभी ठीक होती जब विद्वान् लोग भी उस प्रमाण का सम्बन्ध समझ लेते कि इन के साध्य पक्ष से सम्बन्ध रखता है । यह लेख तो इसी प्रकार का हुआ—

येन केनाप्युपायेन प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्

जिस किसी बुरे भले उपाय से मनुष्य को प्रसिद्ध होना चाहिये । सो यह विद्वानों का काम नहीं है ॥

आगे लिखते हैं कि "पुराण तंत्र मन्त्रादिक से भी देवतन की प्रतिष्ठा पूजन करने को वेद में मन्त्र है । यजुर्वेद अ० १४ मन्त्र २२ ॥

यद्वेदकल्पाज्जुहोति प्राणा वै कल्पाऽअमृतमुप वै प्राणाः ॥

अर्थ–वेद कल्प याने पुराण तन्त्र मन्त्रादिक से होम करता है प्रमाण भी याने प्राणपति दैवादिकन की कल्प पुराणादि मन्त्रन से है अमृतरूप प्राण उप याने समीप है व माने निश्चय कर" ।

यह सब लेख सनातनधर्मसिद्धान्त कर्त्ता का है । इस में बड़ी विचित्र लीला है । हमने यजुर्वेद की संहिता में १४ अध्याय सब देखा तथा अन्य भी कई अध्यायों में खोजा परन्तु इस मन्त्र (यद्वेदकल्पा०) का कहीं नाम निशान तक न पाया

तो बहुत विचार करते २ अनुमान हुआ कि यह मूल संहिता का पाठ नहीं है किन्तु ब्राह्मण का होगा इस विचार से खोजने पर शतपथ ब्राह्मण में यह पाठ मिला जिस को पण्डित रघुनन्दन भट्टाचार्य जी ने लिखा है कि यजुर्वेद के अध्याय १४ का २२ मन्त्र है। ब्राह्मणों में जो पाठ आता है उस की मन्त्र संज्ञा नहीं इस लिये यजुर्वेद का मन्त्र लिखना सर्वथा मिथ्या है। हमने माना कि कदाचित् किसी का लेख देख कर पं० जीने लिख दिया हो तो क्या पं० रघु० जी दोष से बच सकते हैं ? क्या कोई अपराधी का साथी हो कर अन्यथा करे तो अपराध से बच सकता है ? । कदाचित् भी पण्डितों का यह काम नहीं कि वे भी भेड़चाल पर चलें किन्तु विद्या पढ़ने का मुख्य प्रयोजन और फल यही है कि जो बात शास्त्र के आश्रय से कहे वा लिखे उस को वैसा ही शास्त्र में दिखा सकता हो नहीं तो उस का पढ़ना व्यर्थ है। यदि ब्राह्मण को भी यजुर्वेद मान कर लिखा हो तो उस में अध्याय और मन्त्र का संकेत ही नहीं किन्तु शतपथ ब्राह्मण में काण्ड, प्रपाठक, ब्राह्मण और कण्डिका ये चार संज्ञा मुख्य मानी जाती हैं। यदि पता न लिखते तो यह माना जा सकता था कि ये लोग ब्राह्मणभागों को भी वेद मानते हैं ब्राह्मण में निकला तो भी उन का लिखना किसी प्रकार सत्य हो सकता। और यह भी कहना नहीं बन सकता कि किसी का लेख देख कर यह पाठ लिखा हो यदि लेख देख कर लिखते तो अर्थ भी वहीं से लेते तो अक्षरार्थ ही शुद्ध होता सो भी नहीं क्या यजुर्वेद की संहिता कहीं दुर्लभ है ? जो पं० रघुनन्दन जी को देखने को न मिलती आज कल लाखों पुस्तकें छपी लिखी प्रचरित हैं। यह शतपथब्राह्मण का जो पाठ है सो भी वैसा नहीं है जैसा इन महात्मा ने लिखा है किन्तु वह पाठ ऐसा है :—

यद्वेव कल्पान् जुहोति प्राणा वै कल्पा अमृतमु वै प्राणाः ।
शतपथे काण्डे ९ प्र० ३ ब्राह्मणे १ कण्डिका १३ ॥

यहां (यत्, वा, इव, कल्पान्) इस प्रकार के पद हैं जिन को (यत्, वेद कल्पात्) समझ लिया वा गढ़ लिया तथा (अमृतम्, उ) इन पदों में उ अव्यय पद को लुप बना लिया और उस का अर्थ भी बनावटी पदों के अनुसार कर लिया कदाचित् वेद कल्प शब्द वहां होता भी तो क्या उस का अर्थ पुराण तन्त्र मन्त्रादि हो सकता था ? क्या कोई संस्कृतज्ञ पं० उस को व्याकरण वा कोष के अनुसार मान लेता ? कि यह ठीक है कदापि नहीं। यदि कोई व्याकरण वा कोष का प्रमाण देकर अर्थ करते तो मानने योग्य होता। यह मेरा लेख बहुत पुष्ट इस कारण समझिये कि जिस के पास यजुर्वेद संहिता वा शतपथ ब्राह्मण हो

यह निकाल कर देख ले उस ठिकाने पर ज्यों का त्यों मिलेगा इन महाशय को लिखते समय यह सङ्कोच न हुआ कि यदि कोई पुस्तक निकाल के हमारे लिखे पते पर मंत्र खोजे तो क्या कहेगी विद्वानों के लिये ऐसा करना महालज्जा का स्थान है जो सर्वसाधारण को धर्ममार्ग पर चलाने वाले विद्वान् थे उन की यह दशा निकली तो शास्त्र को न जानने वालों का अब क्या ठिकाना है कैसे उन की गति होगी। पण्डितों की ऐसी दशा हो जाने से ही इस आर्यावर्त्त देश की दुर्दशा हो गई। वास्तव में पं० रघुनन्दन भट्टाचार्य्य जी पूर्ण महात्मा हैं कि जिन के पास इतना बड़ा अन्धकार छाया है विशेष क्या लिखें पाठकों को सब पोल ज्ञात ही हो जायगी। ऐसे कामों से अपयश उठाना बहुत बुरा है ॥

आगे पं० रघुनन्दनाचार्य जी लिखते हैं कि "देखो भाई वेद और पुराण से भी प्रतिमादि प्रतिष्ठा पूजन लिखता है ॥

य० अ० १७ मं० ८४ सदृक्षासः प्रतिसदृक्षासः।

सो सदृश को देखता है और प्रति सदृश को भी देखता है। सदृश याने योगी यती प्रतिसदृश याने प्रतिमादिक बना कर पूजो प्राण प्रतिष्ठादिक विधि से तो देवता देखता है"

यह मंत्र अवश्य सत्रह अध्याय के बीच ८४ है परन्तु बीच का टुकड़ा इन्होंने लिखा है आरम्भ से पूरा मंत्र नहीं लिखा। ये लोग पण्डिताई के साथ कुछ लेख लिखें और महीधरादि भाष्य निघण्टु निरुक्त और व्याकरण के पतेवार प्रमाण दे २ कर अच्छे प्रकार युक्तियों से पुष्ट अर्थ करें तो विद्वान् लोगों में उन की पण्डिताई का प्रकाश हो प्रतिष्ठा कीर्त्ति बढ़े और अनेक लोग जो आर्यसमाजों से भिन्न हैं इन को मानने भी लग जावें धनादि भी प्राप्त होने लगे और ऐसे बड़े अपराध के भागी भी न हों सो इस के लिये विशेष विद्या पुस्तक परिश्रम और अन्तःकरण की शुद्धता आदि अपेक्षित हैं। इस से विपरीत करने पर विद्वानों में अपयश ही होता है। देखिये यह मंत्र वेद में कैसा और महीधर ने क्या अर्थ लिखा है:-

ईदृक्षास एतादृक्षास ऊ षु णः सदृक्षासः प्रतिसदृक्षास एतन ॥

महीधरकृतोर्थः-हे मरुतो यूयमेते कीदृशाः ईदृक्षासः इदं दर्शनाः एतादृक्षासः एतद्दर्शनाः सदृक्षासः समानदर्शनाः प्रतिसदृक्षासः प्रत्येकं समानदर्शनाः इत्यादि ॥

यह ऊपर लिखा मंत्र आधा पूर्वार्द्ध है महीधर का आशय यह है कि हे मरुत् वायुओ तुम इस प्रकार सब को देखने वाले सब को समदृष्टि से देखने वाले

और प्रत्येक को समदृष्टि से देखने वाले हो। यह महीधर का अर्थ व्याकरण के अनुकूल है केवल निघण्टु का एक प्रमाण लिखना आवश्यक था कि मरुतः मनुष्य नाम है अर्थात् हे मनुष्यो तुम पूर्वोक्त प्रकार के हो। इस अर्थ में कोई दोष नहीं और सब व्याकरणादि के अनुकूल है। यदि पं० रघु० जी महीधर के भाष्य को देख कर भी अर्थ करते तो यह दशा न होती और ऐसे न गिरते। विचार का स्थल है कि योगी यती और प्रतिसदृश का अर्थ किया कि "प्रतिमादिक बना कर पूजो प्राणप्रतिष्ठादि विधि से" यह अर्थ एक प्रतिसदृश शब्द में से कैसे निकल पड़ा क्या एक प्रति शब्द से प्रतिमादिक सब आ गये ऐसे तो जहां २ प्रति शब्द आवे वहां २ प्रतिफल वा प्रतीकार आदि अर्थ क्यों नहीं लिये जाते ? क्या कोई प्रमाण की अपेक्षा के विना मनमाना अर्थ स्वीकार कर सकता है ?। जिन को संस्कृतविद्या में थोड़ा भी प्रवेश होगा वे इस विषय को शीघ्र समझ जायंगे कि यह लालबुझक्कड़ता वा हुड़दंगापन किया है। यह केवल अज्ञान ही नहीं किन्तु जान बूझ कर मनमानी धूर्त्तता कर वेद की चोरी की गई है। हे परमेश्वर! ऐसे अपराधों से बचा के बुद्धि को शुभविचारों में प्रेरित कर ॥

सम्पादक आर्य्यसिद्धान्त

(क्रमागत प्रश्नमालिका का उत्तर गत अंक १० पृष्ठ १६२ से आगे)

(३ प्र०) वेद में जितने मन्त्र हैं उन में सब देवों के नाम हैं फिर महाराज ने किस तरह जाना कि ये सब ईश्वर के नाम हैं ॥

(उ०) इस प्रश्न का उत्तर देने से पहिले हम केवल ग्रन्थकर्त्ता से इतना निवेदन करते हैं कि महाशय! प्रथम आप आर्य्य लोगों के सिद्धान्तों को भले प्रकार विचार लें कि वह क्या २ पदार्थ किस २ प्रमाणानुसार मानते हैं। यह वार्त्ता गुप्त नहीं है कि आर्य्यसमाज अन्य ब्राह्मसमाजादि के तुल्य केवल स्वकपोलकल्पित सिद्धान्तों पर आरूढ़ नहीं है जैसा ब्राह्मसमाज का सिद्धान्त है कि जो हम ब्राह्मबन्धुओं के शुद्धान्तःकरण में भासित होता है वही ईश्वरीय प्रेरणा है। नहीं २ हम लोगों का आधार तो वेदादि सच्छास्त्रानुकूल, ऋषि मुनि महर्षिगणों के मन्तव्यानुसार और शास्त्रसम्मत युक्तियों से विभूषित धर्म है क्योंकि—

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कुर्याद्धर्म्मनिर्णयम्।
युक्तिहीनविचारे तु धर्म्महानिः प्रजायते ॥

अर्थात् केवल शास्त्र ही के आश्रय से धर्म्म के स्वरूप का भान नहीं होता "किन्तु शास्त्र तथा युक्ति दोनों ही प्रमाणों से धर्म्म का स्वरूप बोधित होता है क्योंकि युक्ति हीन विचार पर निर्भर रहने से धर्म्म की हानि होती है" इस विषय में भगवान् कपिलऋषि कहते हैं कि—

अनियतत्वेपि नायौक्तिकस्य सङ्ग्रहोऽन्यथा बालोन्मत्तादि-समत्वम् ॥ साङ्ख्य अध्याय १ । सूत्र २६ ॥

अर्थात् युक्तिहीन विषय का सङ्ग्रह करने से बालक तथा उन्मत्तादि के साथ समता का दोष आता है । अब हम प्रकरण पर बल देते हैं जोकि ग्रन्थकार यह कहते हैं कि "फिर महाराज ने किस तरह जाना कि ये सब नाम ईश्वर के हैं" इस का उत्तर यह है कि स्वामी जी महाराज ने केवल व्याकरण के बल अथवा युक्ति बल अथवा युक्तिबलमात्र से ही यह नहीं माना कि ये सब नाम ईश्वर के हैं किन्तु इस विषय में सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में बहुत प्रमाण लिखे हैं पुस्तक खोल कर देख लीजिये परन्तु दिग्दर्शनवत् हम कतिपय प्रमाणों को यहां उद्धृत करते हैं यथा—

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रः स कालाग्निः स चन्द्रमाः । कैवल्योपनि० तथा—एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ मनु० तथा-एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

इत्यादि वैदिक मन्त्र प्रमाणों से सिद्ध है कि उस परमेश्वर के ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, कालाग्नि, चन्द्रमा, अग्नि, मनु, प्रजापति, इन्द्र, प्राण, सनातन-ब्रह्म, यम, और मातरिश्वा आदि नामों को विद्वान् लोग जानते हैं. फिर अब भी यह कहना कि "महाराज ने किस तरह जाना कि ये सब नाम ईश्वर के हैं" अज्ञान नहीं तो क्या है ? ।

यदि इतने पर भी सन्तोष नहीं तो आर्य्यसिद्धान्त भाग २ अङ्क १० को आरम्भ से देखिये वहां " वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् । आकाशस्तल्लिङ्गात् । प्राणस्तथानुगमात्" । (वेदान्त सूत्र) इत्यादि लेख उपस्थित हैं अध्येतृगण स्वयं विचारेंगे बारम्बार लिखना पिष्टपेषण है। रही यह वार्त्ता कि क्या ये सब नाम सृष्टिस्थ पदार्थों तथा विद्वानों के भी हैं या नहीं । इस का उत्तर यह है कि हैं परन्तु वेद विषय में वह अर्थ सङ्गत नहीं होता, वाक्यार्थ बोध के ४ कारणों का वर्णन हम (प्रश्न सं० २) के उत्तर में कर चुके हैं वहां देख लीजिये ॥

(४ प्रश्न) वेद सादि है या अनादि है जब जगत् का सृष्टिसंहार बारम्बार ईश्वर करता है तब वेद का भी नाश होता है या नहीं ॥

(उत्तर) वेद के अनादि होने में कुछ सन्देह नहीं क्योंकि वेद ईश्वर का ज्ञान है और वह स्वकीय ज्ञान परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ समय में अग्नि,

वायु, रवि और अङ्गिरा नामक ऋषियों को अधिकारी जान उन के अन्तःकरण में भासित कराया ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है कि—

तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताऽग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः आदित्यात्सामवेदः ॥

तथा मनुस्मृति में इस की पुष्टि लिखी है कि—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥

तब कि—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

अर्थात् सर्वपूज्य परमेश्वर से ही ऋग्यजुः साम तथा अथर्व वेद प्रकट हुए ऐसा वेद में लिखा है और यह भी नहीं कि परमात्मा ने कभी अपूर्व वेद प्रकट किये हों किन्तु याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा है कि—

अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इत्यादि ।

अर्थात् इस सब से महान् सनातन परमात्मा के निःश्वास के तुल्य ४ वेद हैं (विशेषार्थ) किन्तु जैसे प्राण के भीतर बाहर जाने आने से प्राण का नाश नहीं होता क्योंकि जिस का प्राण है वह प्राणी जब तक है तब तक प्राण का नाश नहीं कह सक्ते इसी प्रकार जब परमात्मा अनादि और अनन्त है तब वेद जो ईश्वरीय ज्ञान है अनादि क्यों न हो, जैसे मुझे एक श्लोक का ज्ञान है तो क्या जब मैं किसी शिष्य को वह श्लोक सिखलाऊं तब उस श्लोक की उत्पत्ति और जब न सिखलाता हूं तब नाश समझा जा सक्ता है कदापि नहीं किन्तु जब से जब तक मेरे ज्ञान में वह श्लोक है तब से तब तक उस का नाश नहीं कह सक्ते यदि मैं किसी प्रकार भूल जाऊं तो भी नाश नहीं होगा वे पद जो श्लोकरूप में सङ्ग्रह किये गये सङ्ग्रह करने से पहिले भी थे पहिले न होते तो सङ्ग्रह किस का होता और पीछे भी रहेंगे । जो वस्तु अवयवरूप से नित्य है उस का समुदाय भी कारण की नित्यता से अनित्य नहीं हो सकता । इति—क्रमशः—

निवेदयिता—तुलसीराम स्वामी

मूल्य घटाया हुआ ॥

२९ फ़रवरी सन् ९६ तक, पश्चात् पूर्ण मूल्य लिया जायगा ॥

* यमयमीसूक्तम् ‌‌ ॰=)

* प्रबन्धार्कोदय—।-) नया छपा है आर्य्यधर्म की शिक्षा के साथ निश्चिलक्ष स की परीक्षा देनेवाले छात्रों को उत्तम २ प्रबन्ध लिखना सिखाता है ॥

* आयुर्वेदशब्दार्णव (कोष) १) से ॥)

मनुस्मृतिभाष्य की भूमिका १॥) से १) डाकव्यय =)॥ पुस्तक रायल पुष्ट कागज़ में ३६४ पेज का छपा है ॥

ईश उपनि० भाषा व संस्कृत भाष्य ≡)

केन " ।)

कठ " ॥।)

प्रश्न " ॥=)

मुण्डक " ॥।)

माण्डूक्य " ≡)

तैत्तिरीय " ॥)

इन ७ उपनिषद् पर सरल संस्कृत तथा देवनागरी भाषा में टीका लिखी गयी है कि जो कोई एक बार भी इस को नमूना (उदाहरण) मात्र देखता है उस का चित्त अवश्य गड़ जाता है। सातों इकट्ठा लेने वालों को ३) से २॥)

ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ये छः उपनिषद् छोटे गुटकाकार में बहुत शुद्ध मूल भी छपे हैं मूल्य =)

तैत्तिरीय, ऐतरेय, श्वेताश्वतर, और मैत्र्युपनिषद् ये चार उपनिषद् द्वितीय गुटका में ≡)

गणरत्नमहोदधिः १॥) से १)

आर्यसिद्धान्त ६ भाग ७२ अङ्क का ३॥।) से ३) प्रतिभाग ॥।)

ऐतिहासिक निरीक्षण =)

ऋगादिभाष्यभूमिकेन्दूपरागेप्रथमोंशः -)॥

" द्वितीयोंशः -)॥।

विवाहव्यवस्था =)

तीर्थविषय (गङ्गादि तीर्थ क्या हैं) -)॥

द्वैताद्वैतसंवाद (जीवब्रह्म पर) -)॥

सद्विचारनिर्णय =)

आत्ममतपरीक्षा =)

अष्टाध्यायी मूल ≡)

न्यायदर्शन मूल सूत्रपाठ ≡)

कुमारीभूषण (स्त्रियों का पढ़ाना) -)

देवनागरी की वर्णमाला)।

यज्ञोपवीतशङ्कासमाधि -)

संस्कृतप्रवेशिका =)॥

संस्कृत का प्रथम पु० चौथीवार छपा)॥।

" द्वितीय पुस्तक -)।

" तृतीय फिर से छपा =)॥।

नवरत्नभूषण (बालकों को) =)

बालचन्द्रिका (बालकों को) -)।

गणितारम्भ (") -)॥

अङ्कगणितार्य्यमा ≡)॥

विदुरनीति मूल =)

जीवात्मविवेक -)

भर्त्तृहरिनीतिशतक भाषाटीका ≡)

चाणक्यनीति मूल)॥

पाखण्डमतकुठार (कबीरमत खं०)	=)
जीवनयात्रा (चार आश्रम)	≡)
किरानीलीला—वेश्यालीला	)॥
नीतिसार	–)॥
हितशिक्षा (नामानुकूल गुण)	–)॥
नीतिशिक्षावली	)।
बारहमासी फूलना	)॥।
हिन्दी का प्रथम पुस्तक	–)
द्वितीयपुस्तक पं० रमादत्त कृत	≡)
शास्त्रार्थ खुर्जा	–)
शास्त्रार्थ किराणा	=)

भजनपुस्तकें—

भजनामृतसरोवर	=)॥
सत्यसङ्गीत	)।
उपदेशभजनावली	)।
सदुपदेश	)।
भजनेन्दु (बारहमासे, भजनादि)	–)
वनिताविनोद (स्त्रियों को गीत)	=)
सङ्गीतरत्नाकर	=)
(स्त्रियों को) नारीसुदशाप्रवर्त्तक ४ भाग	१)
* बुद्धिमती (मुं० रोशनलाल बैरिस्टर एटला रचित)	।)
* सुन्दरीसुधार	१)
* सीताचरित्र नाविल प्रथमभाग	॥।)
स्वर्ग में सब्जेक्ट कमेटी	=)॥
* भूतलीला	=)॥
* बाल्यविवाहनाटक	–)॥
* शिल्पसङ्ग्रह	।–)

सत्यार्थप्रकाश	२)
वेदभाष्यभूमिका	२॥)
संस्कारविधि	१।)
पञ्चमहायज्ञ	≡)॥
आर्याभिविनय	।)
निघण्टु	।=)
धातुपाठ	।=)
वर्णोच्चारणशिक्षा	–)
गणपाठ	।–)
निरुक्त	१)
शास्त्रार्थ फीरोज़ाबाद	≡)
स्वामीजी का स्वमन्तव्यामन्तव्य	)॥
नियमोपनियम आर्यसमाज के	)।
करपल्लवी इशारों से बातचीत करने की विधि है	–)
वेश्यानाटक उर्दू में	=)॥
व्याख्यानसागर	।–)

आर्यसमाज के नियम =)॥। सैंकड़ा १५।) हजार।

व्याख्यान देने का सामान्य विज्ञापन जिस में चार जगह खानापूरी कर लेने पर सब का काम निकलता है मूल्य प्रति सैंकड़ा =)

डाक महसूल सब का मूल्य से पृथक् लिया जायगा॥

पता—

भीमसेन शर्मा—सम्पादक आर्यसिद्धान्त
प्रयाग

☞ * चिह्न युक्त पुस्तकें नई बिकने को प्रस्तुत हुई हैं॥

EDUCATION FOR PEACE

Not long ago we passed an anniversary of solemn and significant memory—the Armistice of 1918 How well I remember that day in Paris! Guns booming, bells pealing, the people of Paris in the streets singing and dancing, laughing and weeping. The war to end wars was over. Thenceforth we were to emerge from battle to a bright new world, a world of peace on earth, good will toward men. And then, what happened? We in America and people elsewhere quite simply got into bed and pulled the covers over our heads, unwilling to see what was going on about us, asleep to actualities. And now, once again the world is drenched in blood.

Shall we make that grim mistake again? I do not believe so Human nature may not change much through the ages, but at least mankind learns something from experience, and I believe that we in our country have learned that in this modern world of ours—in which the nations, through developments in communications and transport, have been drawn into inevitable intimacy—isolation has become an anachronism We cannot kill the seeds of war, for they are buried deep in human nature. But what we can do and I am convinced we shall do is precisely what we did in permanently stamping out yellow fever from our country—remove the conditions under which those seeds of war can germinate anywhere in the world It can be done and it must be done.

The guilty leaders among our enemies and those individuals responsible for the barbarous acts of crime and senseless cruelties that have been committed under the cloak of war must and shall be punished, and just retribution must and shall be meted out to the enemy countries so that the people of those countries shall be forever cured of the illusion that aggression pays Their false philosophy can never be discredited until the results are brought home to them in defeat, humiliation, and bitter loss Measures must and shall be taken to prevent that cancer of aggressive militarism from digging in underground once again to rear itself in malignant

evil and once again to overrun the world, calling upon our sons and grandsons to fight this dreadful war over again in the next generation. Let us assure our defenders on the battle fronts that this time their heroism shall forever finish the job begun in 1914.

But those self-evident measures will not be enough. In approaching the eventual peace tables, we shall need the highest qualities of far-sighted statesmanship We must abandon all promptings of vindictiveness or of pride and prejudice

First we must clear away the poisonous growth in order to lay the foundations for the erection of an invulnerable and enduring world edifice. Two great cornerstones for that foundation have already been swung into place One was the Atlantic Charter; the second was the Moscow agreement supplemented and strengthened by the declarations of Cairo and Teheran. Others will follow.

And then we must build Re-education in certain areas will become essential I visualize a helpful, co-operative, common sense spirit in conducting that system of re-education, devoid of browbeating or vindictiveness, with emphasis upon what our enemies will have to gain by playing the game with the rest of the world, and what they would lose by recalcitrance. The healthy growth must ultimately come from within. When our enemies find that in co-operation lies their only hope of salvation, they will co-operate Weariness of the sufferings of war will work in our favor We do not want festering sores anywhere in our future world for the building of which we and our allies are fighting and striving today We do not want the nursing of grudges, rebelliousness and bitterness We want the people of the world, including our present enemies, to look forward, not back, and to look forward not to the day when they can achieve revenge but forward to a peaceful, lawful, co-operative, solvent, productive, and prosperous national and international life, purged forever of the poison of aggressive militarism. That should be our aim That should be the ultimate goal of far-sighted statesmanship, and that should be the guiding spirit at the peace tables. We shall

need the wisdom of Solomon in approaching those eventual problems. Pray God that we may find it.

Thus may our defenders on the battle lines know that they are not fighting or dying in vain. Thus may they know that we on the home front are not only with grim determination supporting them through the war until total victory is achieved, but that we pledge to them our inexorable resolve to carry that support into the postwar world where the final monument to their heroism shall be the creation of a permanent international structure based on the principles of law, truth, liberty, justice, and peace.

And now, before closing, I wish to submit a letter. You may perhaps have read it already because it was published in *The Reader's Digest* and in the *National News-Letter* of Toronto about a year ago, but it cannot be read too often, and I only wish that every man, woman, and child in our country could know it by heart. It is called "Testament of Youth" and it is a letter from a United States naval flier, missing since the Battle of Midway, to a friend at home:

> The Fates have been kind to me When you hear people saying harsh things about American youth, you will know how wrong they all are So many times that now they have become commonplace, I've seen incidents that make me know that we were never soft, never weak
>
> Many of my friends are now dead To a man, each died with a nonchalance that each would have denied was courage, but simply called a lack of fear and forgot the triumph If anything great or good has been born of this war, it should be valued in the youth of our country, who were never trained for war, who almost never believed in war, but who have, from some hidden source, brought forth a gallantry which is homespun, it is so real
>
> Out here between the spaceless sea and sky, American youth has found itself, and given of itself, so that a spark may catch, burst into flame, and burn high If our country takes these sacrifices with indifference it will be the cruelest ingratitude the world has ever known
>
> You will, I know, do all in your power to help others keep the

faith My luck can't last much longer But the flame goes on and only that is important

Boys of Lawrenceville School, that flame is going to be confided into your hands Make yourselves, daily and hourly at your school, more worthy to receive it so that you may tend it with inspired devotion and so that, in your lifetimes, it will illuminate our future world.

Dixon Wecter

AMONG the younger historians of our manners and civilization, none has established himself more authentically than Dixon Wecter. This essay, delivered as an address to students still in the period of their secondary school training in the spring of 1944, makes assumptions which seemed to the hearers not only reasonable and acceptable, but convincingly true In fact, they would not have judged it fitting had the writer reached conclusions other than those he did· that creative citizenship, religious and social conscience, political intelligence have been our birthright, that they have not been lost, and that they are worth whatever price is necessary to preserve them and the free institutions which foster their survival These things youth understands today "A few civilians," Wecter remarks near the conclusion, "who suppose that these boys as a class are looking for an easy berth or safe anchorage, ought to talk to them, as I do in teaching ASTP classes to find that impatience, to get through this routine and go on active duty, is always the dominant mood "

As these remarks, in their context, reach a wider public —and an older one—by way of the printed page, there will be those whose memory begins to work Very, very many of them will already be older in understanding than in years. They will remember that less than four years ago so perceptive an analyst as Raymond Swing could write, factually enough, in *The Nation*. "There is a great deal of talk these days, particularly among young people, about what they are not willing to die for."

Loss of peace has helped to restore personal validity. The

pattern for living that is forthwith suggested is an affirmation which the older members of the youthful generation will respond to because their action in our time has given them, if they but speak, the decisive voice in shaping things to come.

T. H. J

EDUCATION AND THE SOLDIER'S RETURN

by Dixon Wecter

I

THE student soldier, who "left the flowing river, the cricket field, the quad," at the bugle's sound, often finds the armed forces themselves to be gigantic educational workshops Training for war is immensely complicated since the days of Lexington and Concord, train-band and militia, the conversion of civilian into soldier is much harder than the act of reaching for the old squirrel gun over the mantel. The student soldier, put into uniform, is frequently sent right back where he started from, for officer's training. Furthermore, since the rise of mechanized war, he is compelled to learn about mathematics and physics, machines and technics, in fields that bear an obvious relation to peacetime skills Also useful to peace are habits of co-operation and leadership taught in the service.

More subtle is the educative effect of contact with the military mind That mind is incisive, by civilian standards somewhat rigid It sees the world in terms of black and white a gun is either perfectly clean or else dirty enough to merit a tongue-lashing, a soldier is either fit for combat or else for the hospital, the method of doing anything, from writing a report to splicing wire, is either right or wrong. To easy-going haphazard youth—a little spoiled at home, coddled by the building-blocks of progressive education, coaxed like a tender vegetable to expand in the sunshine of self-expression—such discipline is salutary. From some quarters, fear is always expressed that the army will sap initiative and make us a nation of obedient automata The debate is not always merely theoretical. *The Nation,* in October, 1866, in oppos-

ing the soldier's right to vote, insisted that army life hardens men into a caste, implanting a love of action and contempt for slowness of civilian law, giving them little time to read and make up their minds, and nourishing a blind obedience to authority and the administration in power This assumption is mostly bosh Among such born individualists as the Americans (of whom Steuben wrote, from the drill ground at Valley Forge, "The genius of this people is such that one must first explain, then give the order"), only a war lasting through a generation could mold mass obedience into habit. Moreover, increasingly under modern battle conditions, in the air, on the beaches, and in the jungle, every soldier must become in a literal sense the captain of his soul, behaving not by stereotype but according to the lights of trained judgment.

Other effects of the service are plain enough Companionship with messmates recruited from many social, economic, racial, and regional groups ought to free one from some encrusted prejudices of his old life, far travel and exposure to new languages and customs to make him less provincial For two million young Americans, Europe first became a reality in 1917-19, today five million have seen much more than Paree, from the South Seas to the Arctic Circle, with effects that are not yet wholly predictable Most will come back with the conviction that other lands are backward because they lack American plumbing and the latest (at least the 1941) model motor cars Whether, in the larger view, they will return more internationally minded will depend upon several things—not the least being the army's success or failure in stimulating the lad in uniform to think with social and political intelligence, to take keener interest in the world he is fighting for

And finally, as the most sobering element in this education for war, one must consider the soldier's training under the grim alternative of killing or being killed The soldier under battle fire has been magnetized like a piece of steel by the most powerful dynamic of all groups-in-action, and his molec-

ular nature will never be quite the same again. Idealists will expect him to return, deeply purified and spiritualized by his experience, with the vision swiftly to transform his country into a Utopia, "a country fit for heroes to live in" Cynics will prophesy that he has become a killer—that, from having been taught to shoot the enemy he will come home and shoot his neighbor. Both of these extremes, in the past, have hardly been justified by the facts. The soldier is likely to emerge with the virtues and vices of his old life, perhaps accentuated by the service. For war, like every mass ordeal, is apt to bring out and nourish the best and the worst. In the average American with a strong tincture of self-respect, the aftermath of war has disclosed no such viciousness as the universal brigandage that followed the Thirty Years' War, the beggars and thieves left by the Napoleonic ebb. By and large, the inevitable newspaper talk about a crime wave in the backwash of demobilization (greatly inspired by the journalist's need to fill the vacuum of war news by attention to domestic crime) turns out to be exaggerated and distorted Its kernel of truth is usually found to consist of crimes against property, the result of unemployment and no less chargeable to society than to the veteran Homicide plays an almost negligible role. Worth considering, as an average soldier's own appraisal of war's effect upon him, are the words of a buck private—an anonymous undistinguished soldier—in Camp Hospital No 33 at Brest, in 1919, printed in a little book called *Home—Then What?* He says "To live with Death for days at a time, to meet him, to just miss him, to have him take your buddy—how can you tell them 'As You Were' after they've lived with Death?... Most of us are hardened to endure, softened to respond" Here at least is the social ideal framing the soldier's return.

II

The soldier's education for death has always, to a degree, erased many of his plans, severed some of the threads that tie

him to normal life, made him perhaps more ready to accept the turn of the dice When fate gives him back his old life, his first mood is likely to be one of sheer relief at survival, "Look! we have come through" Then he begins to think of home, his girl, familiar ways and habits, and the compelling necessity of earning a livelihood. "Where do we go from here?" he begins to ask. After discharge, with the maturity gained from military service, the veteran generally wishes nothing more than to resume his place in the civil order Soldiering as a profession has only a very limited appeal to the average American And, having enlisted or been drafted in late 'teens or early twenties—picked for his adaptability to war—by the same token he will come back still a young man, generally adaptable to peace. Frequently he feels the need for more training, more skill, more of the inherited wisdom crystallized in books I think of two typical attitudes, expressed again and again in several thousand soldiers' letters written in earlier wars that I happen to have read One from a nineteen-year-old corporal in the First Iowa Cavalry, who in sending home five dollars to his sisters in October, 1862, writes "If you have no use for it, I will use it to go to school, for I am resolved to devote some time to my education if I survive this war"—a hope frustrated by his death a few months later, The second from a doughboy in France, in January, 1919 "The world's miseries are mostly due to ignorance, which, like mustard gas, makes a casualty of a man without his knowing it till too late" I should like to say something about the way in which the veteran sought his education after the three major wars in our past—the Revolution, Civil War, and World War I—within the larger framework of schools and colleges as affected by those conflicts.

The Revolution, spanning the eight years from Lexington to the disbandment in 1783, was our longest war. To those serving from start to finish ("end of the war men," they were called), bearing arms probably came to seem the whole duty of man. It was his business, sport, and solace. A member of

the Continental Congress, Samuel Osgood, writing to General Knox on the eve of peace, remarked that while long years in uniform gravely unfitted a man for resuming his old life, a law of diminishing damage appeared to favor the short-term veteran: "I esteem eight to be much more than four times two, in this view of the matter." Unhappily the continental soldier had learned few if any vocational crafts that would serve him in the years ahead. The manual of arms, taught by Steuben and other drillmasters, had little more usefulness in daily life than knowing how to foot some intricate forgotten dance step. Of course a gunsmith, blacksmith, or carpenter in uniform probably had abundant opportunity to keep his hand in, but for learning new trades no provision was made. Nevertheless, in many young soldiers the passion for self-improvement burned bright. In the slow tempo of war in those days, notably when both sides retired into winter quarters, few with the inclination lacked time to study. Reading law, studying surveying, assisting the camp surgeon and learning the lore of apothecary were possible resources. At the humbler level were lads like a Massachusetts diarist named Elijah Fisher, who had joined the colors at sixteen, just after Lexington. Between marches and battles, with a peculiarly Yankee tenacity, he kept practicing away "Riting and sifering ... every evening from six of the Clock till nine," and when quartered in a church at Fishkill improved the time by copying out "the larger Catiscism." At the end of the war, he found himself a man grown, with little chance to gain the elementary schooling of which he stood in need. Moreover, a glut of unskilled labor in the path of demobilization set him to tramping the streets and environs of Boston in a vain search for work. Undiscouraged, he migrated to Maine, made a start in that newer land by carpentry and farming, began to save a little money, and took a wife. His last diary entry, in February, 1785, finds him still manfully if slowly pursuing an education: "I gos to school and followed it pritty stiddy while it cept."

The Revolution, as a civil war and a long one, wrought

havoc with schools, colleges, and libraries. Teachers enlisted, school funds were diverted to military ends, taxation consequent to the war bred poverty; the general interest in culture waned. Harvard College buildings served as army barracks. A number of Yale tutors, scattered over Connecticut from Wethersfield to Glastonbury, kept up the work of instruction as best they could, with President Daggett visiting "the different classes as often as he could with convenience." At Princeton, Nassau Hall was badly damaged in the Trenton campaign, the scientific apparatus and the library were dissipated, later the college was used for both barracks and hospital. In Virginia, William and Mary gave unwilling hospitality to Cornwallis's headquarters, while its president, James Madison the elder, served as captain of a militia company he had organized among his students. Many schools closed their doors in bankruptcy, had their books pillaged, or were reduced to "nakedness and want." To counterbalance this dark state of affairs, John Phillips of Exeter in 1781 endowed Phillips Exeter Academy, and as war yielded to victorious peace, with the stirring energies of a new nation, other schools, seminaries, and colleges began to sprout. To the nine colleges boasted by this country at the start of the Revolution, not a single addition had been made during the struggle, but in the eight years following Yorktown not less than eight new ones sprang up. More private schools arose, and states like Vermont and Georgia pioneered early in the eighties by setting up common school systems. Independence had two important results, educationally speaking. The religious and aristocratic theory of education in colonial days rapidly gave ground before the march of secular democratic schooling. Lacking universal literacy, how could government by the people succeed? asked Jefferson and others In the second place, a new accent fell upon practical, scientific, and medical studies, strikingly at institutions like Harvard, Columbia, and Pennsylvania Judge Tapping Reeve in 1784, in his famous law school at Litchfield, Connecticut, began to train his students by the moot court

method. Jefferson fostered a change at his alma mater at Williamsburg, by which chairs in law and modern languages supplanted those in classics and divinity Harvard in 1782 allowed lower-classmen to substitute French for Hebrew—the tongue of our earthly ally for that of the prophets' God of thunder. In fact, a certain utilitarian knack inseparable from war, the bent toward self-reliance taught by soldiering, a lowbrow temper characteristic of postwar moods, lingered in the air. "In these times of action," wrote Dr David Ramsay, first historian of the Revolution, in 1789, "classical education was found of less service than good natural parts, guided by common sense and sound judgment." Just how many veterans of the Revolution entered academies and colleges after disbandment is impossible to say In relation to the whole, this number was probably much smaller than after later wars. One was expected to earn a living at an earlier age then than now; suitable institutions were fewer, and education beyond the three R's was more definitely a class privilege than it later became, and the opportunity, indeed the demand, for youthful enterprise in this underpopulated country was keener than the competition for jobs. In broader ways, of course, the war had contributed to adult education. Besides the impact of travel and fraternization in the army, already noted, war's stimulus had almost tripled the number of newspapers, and the duties of citizenship, from holding of local offices to high debate over the Constitution (in which many veterans took their share), helped augment the civic stature of Americans.

From Yorktown to Fort Sumter, eighty years witnessed many changes in the schools and colleges of America. a flowering of notable preparatory schools, such as this institution, the rise of state universities with or without the benefit of land grants, a steady growth of denominational colleges; and the spread of free public schools supported by taxation. At the outset, this new war—the irrepressible conflict whose storm had long been brewing—seemed the one transcendent fact. "Wait until you have saved your country

before you make preachers and scholars," Colonel Chesnut of South Carolina told a group of divinity students asking exemption from the Confederate draft "When you have a country, there will be no lack of divines, students, scholars to adorn and purify it." Northern colleges, in the Middle West even more than in New England, sent their students, recent graduates, younger faculty members into uniform in numbers far out of proportion to enlistments from other groups. Whole companies were sometimes recruited campus by campus. Before the war had reached mid-passage, some five thousand Ohio teachers—half the entire number in that state—had donned the Blue But, despite these enlistments, higher education did not remain stagnant In the thick of the war, with much aid from the inevitable wartime stress on practicality, the Morrill Act of 1862 was passed, creating land-grant colleges for agriculture and mechanic arts This Act prepared the way for the real beginning, directly after Appomattox, of technological education in the United States. Thousands of returning soldiers, many lacking orthodox preparation for college, wanted professional training, feeling impatient with so-called frills in their anxiety to start earning a livelihood with a minimum of lost time. As passing symptoms, in the summer of 1866 the board of visitors at Annapolis advised the abandonment of rhetoric and ethics and analytical geometry as prescribed diet for midshipmen, and "the subordination of mechanics and physics to steam enginery," while from Columbia, President Barnard's annual report echoed "the declining popularity of collegiate education" under the inroads of mechanic arts. Business colleges with evening classes now began to appear and probably drew many ambitious young veterans. Equally symptomatic of the times, at the great Paris Exposition of the next year the American Exhibit was reported "the poorest looking" because it took no account of taste and elegance—although the highest awards went to American firearms, steam engines, sewing machines, and even pianos. We may not have known much about music, but we knew how to

build pianos. Ours was already beginning to be called a business civilization, the paradise of machines. To this end, of course, many causes contributed, but among them the discharged serviceman and his need for a quick practical education should not be forgotten.

Among the minority of thoughtful soldiers, the impetus of war had quickened intellectual curiosity, shaken them out of old complacencies Perhaps the very act of surrendering free will, of marching in lockstep, had built up a charge of inner rebellion One Kansas private whose recollections I have seen, a self-taught lad who found work after the war clerking in the quartermaster general's office, in spare time began to read books about Darwin and the monkeys—feeling that after a war where so many lies had been told, a man ought to find out things for himself—and so with friends formed a Herbert Spencer club for Sunday afternoon talks. Young Charles Francis Adams, a colonel in the Union Army, very soon after discharge came upon John Stuart Mill's essay on Comte. "My intellectual faculties had then been lying fallow for nearly four years," he wrote, "and I was in a most recipient condition, and that essay of Mill's revolutionized in a single morning my whole mental attitude." Fairly often, it seems, the soldier had been left with a thirst that made him eager to go back to school, do some hard thinking, try to solve the problems of life for himself. With conventional belief, idle speculation, bookishness for its own sake, and the dazzle of rhetoric, the soldier who had returned from the Valley of the Shadow was apt to grow impatient. Oliver Wendell Holmes, the future Supreme Court Justice, after wounds in three hard battles, mustered out, with few plans beyond the conviction that in some public service he must find a foothold where he could always fight for justice and truth, went out to Concord to visit his revered master Emerson—and discovered, with surprise, that the sage's transcendental talk had somehow lost its magic. Mr. Emerson had read about death, speculated about life. But the threshold of reality he had never crossed.

By selection of evidence, one might exaggerate either the lowbrow practicality or else the highbrow rebellious individualism left on the soldier by his service For, in contrast to these cases cited, thousands of young veterans quietly returned to liberal arts colleges all over the nation and resumed the usual studies interrupted by war. Even before the peak of demobilization, in late June, 1865, throngs of students "who went to the wars but did not forget their love of books," were reported flocking back to the midwest colleges, after Vicksburg, Gettysburg, and Andersonville, "made clearer-headed by their experience of soldiering." Save for occasional conversion into barracks and hospitals, the physical fabric of the Northern colleges had been little used in the war effort, officers' training programs in the collegiate sense being unknown. After the war a great renascence of education set in. With the slave freed and the Union saved, much of the moral energy, idealism, and treasure that had flowed into those channels now turned toward education, both collegiate and common school, alike for white and black. Once more, the widened arc of American citizenship meant responsibility for the schools, as both North and South came to recognize. Southern schools had been deeply impoverished by the war—their funds from endowment and taxes gone, their buildings gone to wrack from neglect or military occupation, or else destroyed outright. Many Confederate officers, with special training in mathematics, physics, engineering, and other fields that had proved vital during the war, laid aside their swords and joined the re-assembling staffs of universities like Virginia, South Carolina, and Georgia. The South's greatest soldier, General Lee, became president of Washington College, attracting to that campus numerous veterans of the Gray. Many were poor, hard-working, caring little for dress or social gaiety. Often they still wore their army beards, and called classmates who had been too young for the army "yearlings" Here and in the North, diaries of veterans going back to school speak almost invariably of the initial handicap how the distractions and excitement of army life made

study habits hard at first, driving from their minds the tamer routine of classroom and blackboard, even betraying them to a kind of panic when called upon to recite. Perseverance alone could work a cure. Other lads in their twenties, stepping down from the eminence of staff officers, surrounded by orderlies and subalterns, found it hard to submit to the routine, drudgery, and menial labor expected of poor boys with unfinished educations—waiting on tables, building fires, or sweeping out offices where they read for admission to the bar In the longer view, however, they were prone to decide that such a tardy apprenticeship to civil life had done no harm in aiding the reconversion upon which their future happiness and personal adjustment pivoted

In the half-century between Appomattox and World War I, education in this country took many strides—respecting universal literacy, instruction in science and technology, flexible elective systems, and the evolution of colleges and universities growing steadily bigger and more ambitious As the last war ran its course, free education was seen to be one of the most beneficent things Uncle Sam could give the returning soldier Farms for soldiers had become a bankrupt legend with closing of the frontier, bonuses and pensions still remained but were expendable What of education? Many argued that the man in uniform, risking his life for a dollar a day, while others profited by high wages, deserved help in refitting himself for civil life Others pointed to the 120,000 illiterates among the AEF, including immigrants unable to read and write English The presence of some 47,000 ex-teachers in uniform overseas made this condition seem curable. Native-born illiterates, from farms and backwoods and the hill country, appeared an even greater reproach to us The most famous soldier in the AEF, Sergeant York, from the Three Forks of the Wolf, resolved to go home to Tennessee and work for better schools and roads among his people, "to bring them a heap o' larnin'." Many boys had left school and college for the army, and were scantily equipped for vocations, others needed refresher courses. And

so, in the post-Armistice winter—a winter of discontent for the two million Americans awaiting repatriation—the Army Educational Commission launched the biggest experiment in adult education ever attempted. Its director was Professor John Erskine of Columbia Post schools taught elementary subjects to some 180,000 men; divisional centers taught high school and vocational courses to about 27,000. More than 22,000 at college level brought the total close to 230,000 men in organized schools. Inclusion of field institutes and extension courses swelled the number to well over a million and a half College men were either admitted to French and British universities for about a four months' term, or else attended the AEF's own university at Beaune or its agricultural college at Allerey. In these latter places, mimeographed textbooks, laboratories, and scientific equipment from camouflage- and machine-shops and drug rooms were improvised swiftly, with lecture staffs assembled from the best brains academic and professional in the AEF. General results were good. A sprinkling of light shell-shock cases benefited from the retraining in application and memory, while the great majority of normal men, matured by the war and its cosmopolitan background, ambitious to make the most of their chances, did well Mr Erskine remarked years later that overseas experience seemed to have exhilarated them they had not yet come home to meet the civilian spirit of disillusioned apathy or to face realities like profiteering and unemployment. In June, 1919, with the end of embarkation in sight, these institutions closed their doors.

A flood of new and returning students almost swamped American colleges and universities beginning in September, 1919, by the next autumn, on some campuses enrollment showed a 300 per cent advance over 1917. "A very great earnestness among these ex-servicemen... the percentage of failure among them is negligible," reported the secretary of the Wisconsin State Board of Education. A professor who taught many of them at Iowa State University recalls that they usually sat together, on the front or the back row, quiet,

well-behaved, respectful of authority (prone, as the custom is in preparatory schools and the service, to address their preceptors as "sir"), and more thoughtful than those whom they called "the kids"—under that sense of seniority always implanted by soldiering. Veterans with disabilities incurred in uniform rated financial help, averaging over $100 a month, from the Federal Board Shell shock and neurasthenia became, for the first time, occasional classroom problems. Many conquered war psychosis, but a few gave up in despair, like one ex-aviator who left college after a few months, explaining to a friend "No use, I can't study—planes are always flying in my head." Sometimes an honor student of prewar days, unable to set his mind on the old track, flunked out of college or gave up his graduate studies and went to work selling bonds or stoves, or tried the open-air cure as farmer or ranchman. On the whole, these proved to be the exceptions. Uninjured men had to shift for themselves at demobilization in gaining more education, save for occasional state aid. Many bright but underprivileged boys, who might never have gone to college, in the S A T C. had gained ambition to win a degree, after Uncle Sam dismissed them abruptly in December, 1918, many returned, to work their way by carrying paper routes, mowing lawns, milking the dean's cow, running boarding houses, and (in two or three instances known to the speaker) by quiet bootlegging Even here, perhaps, one might plead that ends justified means In general, like the post-Civil War crop, these veterans were hard-working, businesslike, and a little impatient with spoon-feeding—with what Stephen Leacock once called "the convoy system" of American education

Many colleges had been somewhat democratized by the war. All sorts and conditions had rubbed elbows in the military training program, and a conviction had grown stronger that all institutions of learning belonged to the public and the nation—whose students had been needed as officers, and their staff as scientists, technologists, specialists. Once more in the wake of war, the classics appeared to be in retreat as Yale

and Princeton and other universities reorganized their curricula after 1919. For the sake of returning soldiers, entrance requirements were often lowered and classes of special students created Harvard's refusal to count war service as scholastic credit was almost unique, most universities, whether wisely or sentimentally, succumbed to the idea A further turn toward the vocational also appeared, with more and bigger courses in engineering, salesmanship, commerce, hotel management, even camp cooking (doubtless for the benefit of those perverse souls who had liked K P). A golden age of endowment in the twenties meant prosperity for many private schools and colleges, at the same time, higher tax revenues enhanced state universities. Between 1920 and 1930, the number of young Americans in college virtually doubled To those, however, who remained unappeased by quantitative pomp, this did not pass as a golden age of intellect Normalcy, demanding that "things should be as they never quite were," stemmed from materialism, from a peculiarly postwar conservatism that is a very near neighbor of cynicism. The moral and religious fiber of American life—by which one does not mean church attendance or praying in public, but the spiritual basis of that humanism which underlay the earlier Republic and saturated even non-churchgoing statesmen like Jefferson and Lincoln—had grown perceptibly weaker Its effects were not only cultural but civic "Patriotism is easy to understand in America," said Mr Coolidge in 1923 "It means looking out for yourself by looking out for your country." Little wonder that our nation was soon offered the slogan of America First—of laziness, timidity, and self-seeking dressed up in the garb of nationalism. Fortunately, the old age is out, and time to begin a new.

III

To foretell the future is much more brash What will happen to the returning soldier's education after this war? First of all, it seems certain that some educational opportunity

will be offered all who wore the uniform, fit and disabled Certain professions in whose ranks the interruption of war has caused shortage must be refilled from men lately in uniform; the extra expense of such professional training will require in many cases federal aid The specially able must be winnowed from the dull and lazy by placing such benefits on a scholarship basis. For the great majority, probably one year or even a few months of retraining for peacetime skills will be enough Those in armies of occupation and reconstruction will study under an expanded program of the Armed Forces Institute—which by means of correspondence lessons and self-teaching textbooks already offers a kind of peripatetic education to the serviceman wherever he may march After this war, it is probable that education will become one of the main channels of veterans' benefits. In the first place, it is part of the widening social responsibility toward the returned soldier which Americans have felt steadily since the Revolution. In the second place, our bewildering maze of industrial life and skilled technologies increases this need in order to safeguard the veteran from future grief and dependence on Federal relief (Among the more depressing minor symptoms of the times was a bill passed in 1943 by the legislature of this state authorizing the issue of free peddlers' licenses to ex-servicemen in New Jersey—evoking shades of Shays's Rebellion, Civil War hurdy-gurdy men, the Bonus marchers, and apple-sellers of the Great Depression, ghostly marchers stepping to the refrain, "Buddy, Can You Spare a Dime?") And finally, a third argument was lately advanced by the National Resources Planning Board in favor of an elastic system of education for veterans. namely, that schools and colleges might act as a reservoir of manpower, from which men could be released according to the demands of private industry, which at war's end is always apt to be deranged and swamped by the sudden demobilization of labor in war factories

How schools and colleges themselves will be affected by the returning soldier is anybody's guess. Very different prog-

nostications are in the air President Seymour has lately proposed for Yale an Institute of Collegiate Study, where veterans with irregular college entrance equipment but more than freshman maturity of mind can study the humanities as their needs and interests dictate. On the other hand, President Conant of Harvard expresses his belief that veterans will want little traffic with the humanities, that his university can serve them best by speeding up its tempo of instruction and skipping summer vacations Certainly the veteran in school is going to be outspoken, critical, somewhat impatient of sacred cows browsing in the groves of Academe Very probably, the postwar world will bring into conflict certain tensions in higher education that of ultra-conservatism against innovation, of vocational against liberal education, and of government supported against privately endowed systems Just how these lines of fissure will run is still unclear

Easier is a word of comment upon the present day and upon the direction of some straws already blowing in the wind. Since Pearl Harbor, the national function of colleges and universities has been asserted as never before. The Army Specialized Training Program and the Navy College Training Program (more commonly called V-12) have been set up under the oaks and elms of many an American campus Once more, a hundred thousand bright lads with no prewar opportunity of going to college find themselves there, studying engineering, mathematics, physics, languages, at Uncle Sam's expense. A few civilians who suppose that these boys as a class are looking for an easy berth or safe anchorage, ought to talk to them, as I do in teaching ASTP classes to find that impatience, to get through this routine and go on active duty, is always the dominant mood. Among them, the old ferment of wartime education is at work· most of them are a little resentful of English and history, of "flowery stuff" that has little obvious relation to destroying the enemy. The language of guns speaks a universal Esperanto. Yet a good many, naturally enough, see the vital connection between clear thinking and clear expression, between social

intelligence and the winning of a new world to build on A few perceive that the loss of continuity in the liberal education of Americans, by wholly dropping a college generation during a four or five years' war, would be irrecoverable To the older disciplines, it has lately become necessary to add another major, intensively taught preparation for battle. Pursuit of this aim to the exclusion of all else, however, is reminiscent of education among the Junkers and Samurai. Our bright young men, potential officers and leaders in days to come, will discover that after victory lies the task of reconstruction and a lifetime of citizenship They need not only what science can teach us today and tomorrow, but what the past can teach us of yesterday, of man's accumulated record of trial and error, and the depth of long vistas. The humanities are not "flowery stuff," but root and fiber.

Another drift, recalling the old, old cycle, can be seen among many of our soldiers today—whether in the sheltered life of campus classes or among the hospitals and rest camps for men already returned from Italy and the South Pacific. Theirs is a nostalgia for the way things were before the war· not only for Mother's cooking after army slum, or the soapy baths about which the soldier had trench fantasies, but for daily life as he knew it. War helps to make even youths old-timers, sensed in phrases like "I can remember when," and "In the good old days " One trainee writes "When the war is over, the average soldier will go home, take back his old job, or go back to school, and have those Sunday night dates again; but he won't give a thought to building a better world. . . Whether he votes or not, he'll be dissatisfied with the politicians and grumble about the inefficiency of the government. . . . He'll be plain, ordinary Joe Doakes again, and he'll love it." A college man, however, *must* convince himself that the obligations of leadership call for no such abrupt dismissal of building a better world. Another remarks that he doesn't "want to be set loose in a country that is upset politically, economically, socially, or in any other way," that he even prefers "a regular automobile to any super-streamlined car."

After the vast derangements and insecurities of war, this inevitably becomes the returned soldier's craving But, if at all reflective, he will soon come to suspect the truth that he can't go home again. Whether better or worse, the new world for which he has risked his life, for which some of his friends have died, will never be the same The torsion of war itself has seen to that And if the soldier, like most Americans, has in him the marrow of idealism, he will begin to hope that this new world will be an improvement on the old—specifically, that his son will not have this job to do again Many of Washington's veterans in the towns and villages of America worked as citizens to help build the Republic whose cornerstone they had laid. Some of Grant's men and Sherman's felt a kind of personal responsibility in the continuing preservation of that Union. But the majority of Pershing's doughboys, it seems, tried to forget the war or else stared helplessly at the crazy structure that politicians were rearing on the foundations of their victory The future veteran, after World War II, it may be hoped, will show that creative leadership and citizenship has not atrophied in America—that social conscience and political intelligence can still come from those who wore the uniform and who are willing to remain still mobilized in spirit, not for bonuses and pensions and annual jamborees, but for whatever unselfish service they can render the nation whose uniform they wore. This then is the final test of the soldier's education.